मगध का गौरव पुरुष

आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी

प्रकाशक
श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
गुरु पुष्कर मार्ग, उदयपुर-३१३ ००१

श्री तारक गुरु जैन ग्रंथालय का ३४५वाँ रत्न

* मगध का गौरव पुरुष

* आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि

* संपादन
स्व. श्री ज्ञान भारिल्ल

* प्रथमावृत्ति
वि. सं. २०५३ भाद्रपद
सितम्बर १९९६

* प्रकाशक
श्री तारक गुरु जैन ग्रंथालय
गुरु पुष्कर मार्ग, उदयपुर-३१३००१
फोन (०२९४) ४१३५१८

* मुद्रक
संजय सुराना द्वारा दिवाकर प्रकाशन,
ए-७, अवागढ़ हाउस, एम. जी. रोड,
आगरा-२८२ ००२
दूरभाष : (०५६२) ३५११६५

* मूल्य
लागत मात्र पचास रुपया

प्रकाशकीय

साहित्य की अनेक विधाओं में कविता और कहानी दो सशक्त विधाएँ अत्यधिक लोकप्रिय है। कविता शैली जहाँ विशाल विस्तृत कथ्य को संक्षिप्त कर अत्यन्त अल्प किन्तु सशक्त शब्दावली में प्रस्तुत करने की कला है वहाँ कहानी या उपन्यास लघु को विराट रूप प्रदान करने वाली व्यास रचना शैली है। उपन्यास में बीज को वट रूप में पल्लवित किया जाता है। इसलिए वह सामान्य पाठकों के लिए पढ़ने में रुचिकर और समझने में सरल शैली मानी जाती है।

मगध का गौरव पुरुष उपन्यास आचार्यश्री देवेन्द्र मुनि जी द्वारा लिखित एक विस्तृत ऐतिहासिक उपन्यास है, यद्यपि मगध सम्राट् श्रेणिक एवं महामंत्री अभयकुमार का चरित्र इतना विस्तृत एवं घटना- प्रधान है कि यदि इस प्रकार के तीन उपन्यास लिखे जाये तब भी वह रुचिकर ही बना रहेगा। फिर भी आचार्य श्री ने दोनों गौरव-पुरुषों के चरित्र को काफी निखारकर, उभारकर घटनाओं की जाली में से उनकी चारित्रिक विशेषताओं का दिग्दर्शन कराने का उपक्रम किया है। यह उपन्यास पढ़ने में रुचिकर भी है, इतिहास का ज्ञान देने के साथ शाश्वत बोध भी देता है। इसके पहले भी आचार्यश्री के लगभग १०-१२ रुचिकर उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं जिनका पाठकों ने भरपूर स्वागत किया है।

इसका संपादन श्री ज्ञान जी भारिल्ल ने सम्पन्न किया है। वे और भी बहुत कुछ करने वाले थे, आचार्यश्री के प्रति उनकी श्रद्धा एवं निष्ठा सराहनीय थी, परन्तु क्रूर काल ने उनको हमसे छीन लिया, हम उनकी सहयोग भावना का स्मरण करते हैं.

श्रीमान श्रीचन्द जी सुराना ने इसका सुन्दर कलात्मक मुद्रण करवाया है। हम उनके प्रति भी हार्दिक धन्यवाद ज्ञापित करते हैं। आशा है पूर्व उपन्यासों की भाँति पाठक इसे भी चाव से पढ़ेंगे।

–चुन्नीलाल धर्मावत
श्री तारक गुरु जैन ग्रंथालय, उदयपुर

प्राक्कथन

बचपन से ही मुझे लिखने का शौक रहा है। प्रारंभ में छोटे-छोटे निबंध, छोटी कहानियाँ, बोध कथाएँ और छोटे लघु चिन्तन कण आदि लिखता था। फिर कुछ बड़ी कथाएँ, संस्मरण, शोध निबंध शैली का विकास किया तो धीरे-धीरे कुछ उपन्यासों का प्रणयन भी किया। कथा, कहानी, उपन्यास जो भी मैंने लिखे हैं, उनके मूल में अन्तःकरण की प्रेरणा के साथ उस पात्र के चरित्र की रोचकता का आकर्षण भी मन में रहा है। विशाल चरित्र में अनेक पात्र और घटनाओं का उतार-चढ़ाव तो रहता ही है, किन्तु सबसे मुख्य बात है उस चरित्र की लोकप्रियता और लोक-हित-कारिता। चरित्र का मुख्य पात्र लोक जीवन का प्रतिनिधि और प्रेरणास्रोत होता है, तभी वह चरित्र लोकप्रिय बनता है।

हिन्दी साहित्य के अध्ययन के समय मुंशी प्रेमचंद, बाबू शरद्‌चन्द्र, वृन्दावनलाल वर्मा, आचार्य चतुरसेन, भगवतीचरण वर्मा आदि अनेक उत्कृष्ट श्रेष्ठ उपन्यास लेखकों के उपन्यास पढ़ने का अवसर मुझे मिला। सभी लेखकों की अपने-अपने क्षेत्र में उत्कृष्टता प्रस्थापित है। उनकी अपनी लोकप्रियता है, परन्तु जाने क्यों ये विविध उपन्यास पढ़ने के पश्चात् भी मेरे अन्तःकरण पर जिस शैली ने विशेष प्रभाव डाला वह है प्रेमचन्द जी एवं वृन्दावनलाल वर्मा की शैली। प्रेमचन्दजी उपन्यास सम्राट् कहलाये, उनके उपन्यासों में सामाजिक चेतना की तीव्र लहर है और लोक-जीवन को सीधा स्पर्श करने की भी सहजता है। वृन्दावनलाल वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यास जहाँ सामाजिक एवं राजनैतिक पात्रों के चरित्रों की उथल-पुथल और घटनाक्रम की रोचकता समेटे हुए हैं वहीं ऐतिहासिक तथ्यों की सामग्री से भी भरपूर है। मुझे भी यह शैली अधिक रुचिकर लगी। प्रारंभ में भी इतिहास रुचि होने के कारण मुझे ऐतिहासिक कथा तथा ऐतिहासिक पात्रों का विस्तारपूर्वक चरित्र-चित्रण करने में रुचि रही है। धर्मचक्र (आचार्य हेमचन्द्र कुमारपाल) कीचड़ में कमल (महायोगी स्थूलभद्र) मुक्ति पथ (भगवान नेमिनाथ) आदि उपन्यास लिखने के बाद मुझे लगा, पाठक ऐतिहासिक पात्रों को पढ़ने में अधिक रुचि रखते हैं और उनकी सहज प्रेरणा भी उनके मन को झकझोरती रहती है।

जैन साहित्य के ऐतिहासिक पात्रों में मगध नरेश श्रेणिक और मगध का महामंत्री अभयकुमार सर्वाधिक लोकप्रिय तो ही है, इनका चरित्र घटना-बहुल, उतार-चढ़ाव से भरपूर, मनोरंजक और शिक्षाओं से समृद्ध भी है! लगभग 10 वर्ष पूर्व मैंने स्व. गुरुदेव उपाध्यायश्री पुष्कर मुनि जी म. सा. की प्रेरणा से श्रेणिक एवं अभयकुमार के विस्तृत चरित्र को उपन्यास शैली में लिखा था। यहाँ मैं स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि उपन्यास शैली से मेरा अभिप्राय उपन्यासों की किसी लीक पर चलना या उपन्यासों के परम्परागत शास्त्रीय नियमों व परिभाषाओं में बंधकर लिखना मुझे इष्ट नहीं है। कथा वस्तु के प्रस्तुतीकरण (उपन्यस्त करने) की, पात्रों के

चरित्र को उभारने व निखारने की मेरी शैली है, दृष्टि है। मैं अपने पाठकों की रुचि व उनका मनोवैज्ञानिक स्तर समझता हूँ और मैं चाहता हूँ कथा को न अधिक घुमाकर न छुपाकर और नहीं विषय को विस्तार देकर बोझिल बनाया जाय, अपितु अपनी बात, इतनी सहज और स्पष्ट शैली में उपन्यस्त की जाय कि पाठक अपने आप समझता जाये, पढ़ता जाये और ग्रहण करता जाये। कथ्य-तथ्य पारे की तरह छुई-मुई का खेल न करे कि पाठक जिसे ग्रहण करना चाहे वह उसके हाथ ही न लगे। अस्तु।

प्रस्तुत मगध का गौरव पुरुष उपन्यास में छोटे-बड़े अनेक पात्र हैं, किन्तु इसके सर्वाधिक प्रसिद्ध धीरे-वीर उदात्त लोकप्रिय चरित्र दो हैं सम्राट् श्रेणिक और महामंत्री अभयकुमार। जैसे सभी ग्रह-नक्षत्र चन्द्रमण्डल के इर्द-गिर्द घूमते रहते हैं उसी प्रकार इस उपन्यास के सभी पात्र इन दो पात्रों की परिक्रमा कर रहे हैं।

मगधेश श्रेणिक का बहुआयामी व्यक्तित्व

मगधेश श्रेणिक का विराट् व्यक्तित्व इन्द्र धनुषी रंगों की तरह बहुरंगा है। वह वीर, पराक्रमी योद्धा है, नीति कुशल-प्रजावत्सल शासक है तो धर्मनिष्ठ श्रावक भी है। शासक और श्रावक दोनों व्यक्तित्व, दो अलग धुरी पर चलने वाले हैं। इनमें ऊपर से कोई समानता नहीं दीखती, जैसे खरबूजा ऊपर से अलग धारियों से विभक्त/बंटा हुआ दीखता है, परन्तु भीतर एक अखंड होता है उसी प्रकार श्रेणिक का जीवन शासक और श्रावक-ऊपर से दो धाराओं में विभक्त प्रतीत होने पर भी भीतर में एक अखंड/अविभक्त व्यक्तित्व है। कुशल नीतिज्ञ श्रेणिक इन दोनों चरित्रों में सामंजस्य स्थापित करके चलता है। राजदण्ड और अभयदण्ड दोनों ही उसकी नीति के दो पक्ष हैं। वह मगध का शासक है, रक्षक है, शत्रुओं से अपनी सीमाओं की रक्षा करना उसका राजधर्म है, परन्तु वह भगवान महावीर का अहिंसा, करुणा और संयम का उपदेश भी सुनता है, स्वीकारता है इसलिए राजनीति को धर्म से अनुशासित करके चलता है। युद्ध प्रसंगों को अभयकुमार बुद्धि-कौशल, मधुरता और समयज्ञता के साथ सुलझाता है। श्रेणिक के क्षात्र तेज के साथ अभयकुमार का वणिक् मस्तिष्क मिलता है तो राजनीति में भी कुछ नया रंग खिलता है, नई सर्जनाएँ होती हैं, नई नीतियाँ कारगर होती हैं। जिसका प्रभाव उसकी शासन-व्यवस्था पर पड़ता है। राज्य में शान्ति रहती है। व्यापारिक समृद्धि बढ़ती है। बिना युद्ध व अधिक सैनिक खर्च के भी उसकी सीमाएँ सुरक्षित रहती हैं। राज्य में कला-कौशल का विस्तार होता है। प्रजा में प्रामाणिकता, परोपकार भावना, धर्म एवं जीवदया की भावना व्यापक रूप लेती है।

आज धर्मनिरपेक्ष राजनीति की चर्चा हो रही है परन्तु मेरे विचार में यह एक अधूरा और केवल अल्पकालिक प्रभाव वाला चिन्तन है। धर्म-निरपेक्ष राजनीति, निरंकुश होती है, मर्यादाहीन और आदर्शहीन है, इसके बुरे परिणाम आज की भ्रष्टाचार के दल-दल में धँसी राजनीति में प्रत्यक्ष देखे जाते हैं। वास्तव में राजनीति धर्मानुशासित होनी चाहिए। राजनीति पर न केवल न्यायपालिका का अंकुश हो,

परन्तु धर्म, नीति, मर्यादा और आध्यात्मिक आदर्शों का भी प्रभाव होना चाहिए। राजनीति का उद्देश्य केवल सत्ता-सुख भोगना या संत्ता-दंड अपने हाथ में रखना मात्र नहीं है, किन्तु नागरिकों को, प्रजा को निर्भय, सुखमय और सर्वांगीण विकास का अवसर प्रदान करना है। राजनीति का चरित्र मदोन्मत्त हाथी की तरह है, उस पर धर्म मर्यादा का अंकुश नहीं रहा तो वह कुछ भी अनर्थ कर सकती है। इसलिए प्राचीन समय के शासक और शासन-नीति धर्म के आदर्शों से अनुशासित रहती थी।

सम्राट् श्रेणिक की राजनीति धर्मानुशासित नीति थी। धार्मिक व्यक्ति प्रजा के साथ धर्म, संप्रदाय, वर्ण, जाति किसी भी प्रश्न पर अन्याय नहीं कर सकता, पक्षपात नही कर सकता। श्रेणिक का शासन पक्षपातमुक्त नीति युक्त शासन था। श्रेणिक के शासन काल में निर्ग्रन्थ संप्रदाय के समान ही बौद्ध एवं वैदिक धर्मानुयायी भी स्वतंत्रता के साथ अपने-अपने धर्मानुष्ठान करते थे और सुखी जीवन बिताते थे।

सम्राट् श्रेणिक एक इतिहास प्रसिद्ध पुरुष है। जैन एवं बौद्ध साहित्य में उसकी भरपूर चर्चा है, आश्चर्य तो यह है कि बौद्ध ग्रन्थ विनय-पिटक, दीघनिकाय, अट्ठकथा आदि में श्रेणिक बिम्बिसार को बुद्ध का उपासक और परम भक्त बताया है, वहाँ जैन आगम एवं उत्तरवर्ती ग्रंथों में श्रेणिक भंभासार नाम से उसे भगवान महावीर का परम उपासक, सम्यक्दृष्टि निर्ग्रंथ श्रमणोपासक बताया गया है। ज्ञाताधर्मकथा, अन्तकृद्दशा, निरयावलिका तथा अनुत्तरोपपातिक दशा आदि प्राचीनतम जैन आगमों में श्रेणिक के जीवन के विविध घटना प्रसंग महावीर के साथ जुड़े हुए हैं। कुछ घटनाएँ बहुत ही रोचक तथा प्रेरक भी हैं। कुछ विदेशी इतिहास लेखकों ने बौद्ध ग्रंथों के पुरावों के आधार पर श्रेणिक को बौद्धधर्म का अनुयायी माना है और उसी तर्ज पर कुछ भारतीय इतिहास लेखक भी पहले श्रेणिक को बुद्ध उपासक मानते थे परन्तु जैसे-जैसे प्राचीन जैन आगम ग्रंथों का स्वाध्याय, अनुशीलन करने की प्रवृत्ति विकसित हुई है वैसे-वैसे यह बात अब निर्विवाद हो चुकी है कि श्रेणिक भगवान महावीर का परम भक्त था। आचार्य हेमचन्द्र के कथन के अनुसार श्रेणिक के पिता राजा प्रसेनजित पुरुषादानीय भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा के अनुयायी सम्यग्दृष्टि अणुव्रती उपासक थे। डॉ. काशीप्रसाद जायसवाल भी यह स्थापना कर चुके हैं कि श्रेणिक के पूर्वज काशी से मगध आये थे। काशी का यह राजवंश वही है जिसमें तैंवीसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ का जन्म हुआ। अतः यह माना जाता है कि श्रेणिक का कुल धर्म भी जैन था, किन्तु देश-निर्वासन के समय कुछ काल के लिए वह बौद्ध आचार्यों के प्रभाव में अवश्य रहा है यह तथ्य भी स्वीकार्य है किन्तु मगध के सिंहासन पर बैठने के पश्चात् वह महानिर्ग्रंथ अनाथी श्रमण के सम्पर्क/प्रभाव से पुनः जैन धर्म में दृढ़ श्रद्धाशील बनता है और उसके पश्चात् वह भगवान महावीर के निरन्तर सम्पर्क के कारण परम निर्ग्रन्थ उपासक बन जाता है। जैन आगमों व ग्रंथों के अनुसार श्रेणिक की २५ रानियों के नाम उपलब्ध है। उनमें नन्दा आदि १३ रानियाँ तथा काली सुकाली आदि १० रानियाँ भगवान महावीर के शासन में दीक्षित होकर घोर उत्कृष्ट तपश्चरण करती है। दशाश्रुतस्कंध में चेलणा महारानी का तथा ज्ञाताधर्मकथा में धारिणी रानी का

विस्तृत वर्णन है। मेघकुमार, नन्दीषेण आदि राजकुमारों का भी वर्णन ज्ञातासूत्र में है, जो भगवान महावीर के पास दीक्षित होते हैं। इससे स्पष्ट है कि श्रेणिक का यह राज परिवार पूर्णतः जैनधर्म से प्रभावित था। श्रेणिक की उत्कृष्ट धर्मभक्ति के कारण ही भगवान महावीर ने राजगृह में १४ वर्षावास बिताये थे। श्रेणिक के दृढ़ सम्यक्त्व के आधार पर ही भगवान महावीर ने उसे अगले जन्म में पद्मनाभ नामक तीर्थंकर होने की घोषणा की। भगवान महावीर के ३० वर्षीय कैवल्य काल में श्रेणिक १३ वर्ष तक उपस्थित रहते हैं तथा श्रेणिकपुत्र अजातशत्रु कूणिक भगवान महावीर का परम श्रद्धालु भक्त रहता है। औपपातिक सूत्र के अनुसार कूणिक की भक्ति का एक प्रसंग है कि कूणिक ने एक महान आजीविका पाने वाला (उंचा वेतनभोगी) प्रवृत्तिवादुक (सूचना देने वाला) राजपुरुष केवल इसलिए नियुक्त किया था कि वह प्रतिदिन प्रातःकाल सम्राट् को भगवान महावीर की सुखसाता के समाचार सुनाता था। इसी औपपातिक सूत्र में भगवान महावीर के प्रति अजातशत्रु कूणिक की उत्कृष्ट भक्तिधारा का बहुत ही सुन्दर चित्रण किया गया है।

उपर्युक्त अनेक आधारों व घटना प्रसंगों के प्रकाश में यह बहुत ही स्पष्ट है कि सम्राट् श्रेणिक तथा उनका परिवार भगवान महावीर के प्रति अत्यन्त भक्तिमान तथा निर्ग्रन्थ धर्म संघ का परम उपासक रहा है।

अभयकुमार का सर्वजन प्रिय व्यक्तित्व

सम्राट् श्रेणिक की भाँति अभयकुमार भी अपने युग का एक तेजोमय प्रतिभा पुरुष रहा है और वह जैन परम्परा की भांति बौद्ध परम्परा पर भी अपने व्यक्तित्व की अमिट छाप डालता है। जैन परम्परा के ज्ञाताधर्मकथा तथा निरयावलिका आदि आगमों में अभयकुमार का विस्तृत उल्लेख मिलता है। श्रेणिक की रानी नन्दा का आत्मज अभयकुमार मगध की राजधुरा का धारक, राष्ट्र से लेकर राजा के अन्तःपुर तक की प्रत्येक समस्याओं का वह एक मात्र समाधान था। ज्ञातासूत्र के अनुसार वह चार प्रकार की बुद्धि का निधान था। प्रत्येक कार्य में राजा श्रेणिक उससे मंत्रणा करता और उसकी सहायता से अनेकानेक विकट स्थितियों का सामना भी करता था। त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, भरतेश्वर बाहुबलीवृत्ति आदि अनेकानेक ग्रंथों में अभयकुमार का विस्तृत जीवनचरित्र बड़ी रोचकता के साथ अंकित हुआ है। अभयकुमार की बुद्धि उसकी श्रेष्ठता का एकमात्र कारण नहीं है, किन्तु उसकी धर्मप्रियता, पितृभक्ति, मातृभक्ति, प्रजावत्सलता, न्याय-नीति कुशलता, स्वधार्मिक वत्सलता, दयालुता एवं अहिंसा के प्रचार में विशेष प्रयत्नशीलता आदि अनेकानेक दुर्लभगुण हैं, जिनके कारण दूर-दूर अन्य राज्यों में भी उसकी ख्याति थी, धाक थी। उज्जयिनी नरेश चन्द्रप्रद्योत जैसे प्रबल पराक्रमी प्रतिपक्षी राजा भी अभयकुमार की बुद्धि का लोहा मानते थे और अपने राज्य की कठिन समस्याओं को सुलझाने में उसकी सहायता लेते थे।

बौद्ध-परम्परा में अभयकुमार के लिए अभयराजकुमार नाम ही सर्वत्र प्रसिद्ध है, किन्तु आश्चर्य की बात है कि अभयकुमार के सम्बन्ध में वहाँ पर जहाँ अनेक

सम्मानजनक विशेषण है, वहाँ उसे उज्जैन की पद्मावती गणिका से उत्पन्न श्रेणिक बिम्बिसार का पुत्र बताया है (थेर अट्ठकथाएँ) त्रिपिटकों के अनुसार वह स्वयं ही तथागत बुद्ध के पास प्रव्रजित होता है।

किन्तु जैन परम्परा में अभयकुमार का व्यक्तित्व बहुत संभ्रान्त, उदात्त व उज्ज्वल चरित्रवान दर्शाया गया है।

इन्हीं प्राचीन आधारों की भूमिका पर जैन कथा साहित्य में श्रेणिक एवं अभयकुमार के चरित्र से सम्बन्धित सैकड़ों रोचक घटनाएँ, कुछ लोक-श्रुतियाँ तथा अनेक आख्यायिकाएँ प्रचलित हुई हैं। त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र के अतिरिक्त, भरतेश्वर बाहुबलीवृत्ति, आवश्यक कथा, उपदेश माला, मुनिपति चरित्र, श्रेणिक चरित्र, अभयकुमार चरित्र (संस्कृत) आदि अनेकानेक ग्रंथों में ये घटनाएँ उद्यान में खिले फूलों की तरह यत्र-तत्र बिखरी हुई है तथा कुछ चरित्र ग्रंथों में इनको संग्रहीत, एकत्रित करके एक माला भी गूंथी गई है।

प्रस्तुत उपन्यास में मैंने श्रेणिक एवं अभयकुमार चरित्र को आधार बनाकर एक नई शैली में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। इसमें रोचकता का ध्यान रखते हुए दोनों पात्रों के चरित्र को लोकोपकारी चरित्र की दृष्टि से उभारने की मुख्य दृष्टि रखी गई है।

इस उपन्यास की भाषा-शैली का संपादन करने का श्रेय है स्व. श्री ज्ञान जी भारिल्ल को। वे जैन समाज के विश्रुत विद्वान पं. श्री शोभाचन्द्र जी भारिल्ल के पुत्र थे और स्वयं विद्वान भी थे। मेरे प्रति प्रारंभ से ही उनका स्नेह तथा अपनत्व रहा और मेरी अनेकानेक कृतियों का उन्होंने बड़ी कुशलता के साथ सम्पादन किया। मैं उनके सहयोग के प्रति कृतज्ञ हूँ। नियति ने उन्हें असमय में ही उठा लिया।

मुझे विश्वास है मेरे ऐतिहासिक उपन्यासों में **मगध का गौरव पुरुष** अपना एक खास स्थान रखेगा और पाठकों के लिए अनेक ज्ञानवर्धक, मनोरंजक एक शिक्षाप्रद सूचनाएँ देगा।

मेरे जीवन के परम उपकारी स्व. गुरुदेव उपाध्यायश्री पुष्कर मुनि जी म. का पुण्य-स्मरण करते हुए आज मैं श्रद्धा से गद्‌गद् हूँ कि उन्हीं के आशीर्वाद से मैं अपनी कलम को माँ सरस्वती की साधना में सफल कर पा रहा हूँ। मेरी प्रेरणा स्रोत पूज्य भगिनी साध्वीरत्न श्री पुष्पवती जी म. की मधुर प्रेरणाएँ तो ब्राह्मी-सुन्दरी की स्मृतियों को जीवित करती हैं यद्यपि मैं बाहुबली की स्थिति में नहीं पहुँच सका हूँ।

आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि प्रस्तुत उपन्यास भी पूर्व उपन्यासों की तरह सभी प्रबुद्ध पाठकों के लिए प्रेरणाप्रद सिद्ध होगा।

आचार्य देवेन्द्र मुनि

जैन स्थानक
शक्ति नगर
५-९-९६, जन्माष्टमी

मगध का गौरव पुरुष

卐

एक ही समय में, एक साथ, दो सूर्य प्रकाशित होते आपने कभी देखे हैं?

देखे तो हमने भी नहीं–सुना है, पढ़ा है, जाना है। इस चमत्कारिक, अविश्वसनीय-से लगते, किन्तु सत्य को।

जानने का अर्थ है ज्ञेय को आत्मसात् करना।

सत्य सनातन होता है।

सत्य आज का ही नहीं, बीते हुए कल का ही नहीं, सदाकाल का होता है। अनादि होता है। अनन्त होता है।

सत्य को जानना चाहिए। सत्य को जानने से आत्मा आलोकित होती है, जाग्रत होती है।

धुंध छँट जाती है।

मैल मिट जाता है।

पवित्रता और प्रकाश उदित होते हैं।

दुर्लभ मानव-भव सार्थक हो जाता है।

समस्त सृष्टि पर सूर्य और भरतक्षेत्र में सम्राट् बिम्बसार श्रेणिक तप रहे थे। सूर्य सृष्टि को प्रकाशित कर रहा था–श्रेणिक मानवता का पथ-प्रदर्शन कर रहे थे। ऐसा पथ, जो प्राणिमात्र को भव-भवान्तरों के चक्रवाती अन्धकार से ही मुक्त कर दे।

और फिर तो कोटिशः सूर्य उसकी चरण-वन्दना करते घूमते ही रहे।

भगवान महावीर के अनन्य भक्त श्रेणिक भरतक्षेत्र के मानवमात्र के लिए ऐसी स्थिति का मार्गदर्शन कर रहे थे।

श्रेणिक–अपने पिता महाराज प्रसेनजित की धर्म-परम्परा की एक अगली कड़ी।

भगवान महावीर से पूर्व भगवान पार्श्वनाथ की धर्म-परम्परा को पूजते-मानते थे प्रसेनजित।

और उस समय इस लोक को आलोकित करते त्रिलोकस्वामी प्रभु महावीर के चरण-कमलों में विनत रहता था उनका मस्तक।

यह कथा कहूँ, इससे पूर्व आपको यह बता दूँ कि इस कथा-लेखन की प्रेरणा एकाएक मेरे मस्तिष्क में जाग्रत कैसे हुई–

प्रतिदिन के प्रतिक्रमण के पश्चात् मैं बैठा कुछ विचार कर रहा था कि एक धर्मप्रेमी सज्जन आये। बातचीत के दौरान उन्होंने बताया–"नगर में इस बार शोभा का क्या कहना, आचार्यप्रवर ! जैसे अमरावती ही इस पृथ्वी पर उतर आई है।"

मैं कुछ बोला नहीं। वे ही आगे कहते चले गये–

"किन्तु आचार्यप्रवर ! आज इस दीपावली के दिन मैंने यह भी देखा–सड़क, फुटपाथ पर रहने वाले लोग, जिनका न कोई घर, न दर, उन्होंने भी अपनी ठौर के सामने दीपक तो नहीं (दीपक जलाने के लिए महँगा तेल उनके पास कहाँ? पेट भरने को अन्न तक तो नहीं) पर, किसी प्रकार अपना पेट काटकर, छोटी-छोटी एक-एक, दो-दो मोमबत्तियाँ जला रखी थीं। शायद आज उन्होंने अपने बच्चों को भरपेट रोटी नहीं दी। आचार्यप्रवर ! वे लोग भी दीपावली मना रहे थे। ठोकरें खाते, भूखे और प्यासे····।"

उनकी यह बात सुनकर मेरी आत्मा पीड़ा से कराह उठी–एक ओर ये कोट्याधिपति, जिनकी धन-सम्पत्ति की गणना तक असम्भव, जिनके समक्ष यदि कोई समस्या, तो केवल यह कि वे क्या करें इस सम्पत्ति का?

और दूसरी ओर–ये, सड़क पर, आकाश के नीचे, धरती की गोद में ही बस केवल जिनका सहारा है, आश्रय है, जिनके पास सुबह की या शाम की एक रोटी तक नहीं–वे भी अपनी सड़क पर, जहाँ वे पड़े हैं, मोमबत्तियाँ जलाये बैठे हैं·····

तो मैं सोचने लगा–मनुष्य की यह जिजीविषा, यह आस्था, विश्वास, जीने की ललक–क्या कभी समाप्त नहीं होती?

चैतन्य?

चैतन्य की शक्ति तमाम अंधकार, अपुण्य, विनाश से ऊपर, अधिक शक्तिशाली नहीं है क्या?

और मुझे विचार आया–यह विषमता क्यों है? कितने युग, कितना काल··· अनन्तकाल बीत गया···· यह विषमता समाप्त क्यों नहीं होती?

एक–वैभव, विलास, अर्थजन्य सुख-सुविधाओं का स्वामी।

दूसरा–भूखा, गरीब, असहाय, निराधार–सड़क पर।

मैं सोचता चला गया–विचारों की शृंखला की कड़ियाँ एक दूसरी के साथ जुड़ती ही चली गईं, और वह विचार-शृंखला मुझे ले गई उस युग में जब इस पावन भारतभूमि पर सम्राट् बिम्बसार श्रेणिक और राजकुमार अभयकुमार जैसे पुरुष-रत्न भी हुआ करते थे, जो अपनी प्रजा के दीन-दुःखियों को खोज-खोजकर उनके कष्ट-निवारण हेतु न दिन देखते थे न रात।

उनका राजत्व था–प्रजा का कष्ट-निवारण।

वे राजा थे, राजकुमार थे, चाहते तो सारा जीवन सुखभोग तथा विलासवृत्ति में ही व्यतीत कर सकते थे। उनके पास किस वस्तु का, किस शक्ति का अभाव था? यह पृथ्वी सम्राट् श्रेणिक की विशाल बाहुओं में थमी खड्ग की चमक से थरथराती थी, चकाचौंध हो जाती थी, और अभयकुमार की बुद्धि तो साक्षात्, स्वयं बृहस्पति की बुद्धि को भी परास्त करती हुई प्रतीत होती थी।

कोई समस्या नहीं थी जिसका समाधान अभयकुमार की सुतीक्ष्ण, समदर्शी बुद्धि के पास न हो।

और वह युग–वह धन्य युग–भगवान महावीर के इस धराधाम पर विचरण करने से कैसा पावन, कितना कमनीय था ! प्रभु जिधर भी विचरण करते, धरा धन्य हो उठती थी। जन-जन के हृदय में अमृत की वर्षा होने लगती थी उनकी वाणी से। उनका दर्शनमात्र ही मानव को ही नहीं, प्राणिमात्र को, प्रत्येक जीव के जीवन को, उनके भव-भव को धन्य और सार्थक बना देता था।

मैं सोचता ही चला गया....

मेरे मानस-चक्षुओं के सम्मुख वह युग जैसे साक्षात् स्वरूप ग्रहण करता चला गया !

मुझे विचार आया कि उस युग की वह कथा अपने पाठकों के लाभार्थ एक बार पुनः क्यों न लिख डालूँ?

कुछ लोग तो पढ़ेंगे।

कुछ लोग तो सोचेंगे।

कुछ लोग तो लौटेंगे अपने जीवन की उस दिशा की ओर, जिस दिशा में प्रकाश है, आत्म-कल्याण है, मंगल है।

मैंने निश्चय कर लिया–कल से ही, अथवा समय मिलते ही, इस कथा का पुनरुद्धार अवश्य करूँगा।

परिणाम पाठकों के समक्ष है....

× × ×

क्रमशः चलना ही ठीक होगा।

क्योंकि क्रम बना रहने से पाठकों को इस श्रेष्ठ कथा की निरन्तरता सहज रूप से ग्राह्य हो सकेगी तथा साथ-साथ उनके मन में यह बात भी अधिक स्पष्टता से आकार ग्रहण कर सकेगी कि एक ही प्रज्वलित, उज्ज्वल, प्रकाशित दीप से आलोक की अखण्ड धारा कैसे प्रवाहित होती चलती है।

आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व की एक ढलती सन्ध्या। अंगारे-सी बरसाती-ग्रीष्म ऋतु।

उस ढलती साँझ में एक अश्वारोही वन के सघन, ऊबड़-खाबड़ और कंटकाकीर्ण पथरीले मार्ग पर अपना अश्व बेतहाशा दौड़ाए चला जा रहा था। इस प्रकार से अपने अश्व को इतने वेग से दौड़ाए चले जाने का अभिप्राय क्या हो सकता है, यह एकाएक समझा अथवा कहा नहीं जा सकता था।

किन्तु एक बात स्पष्ट थी–वह अश्वारोही परम राजसी तेज से प्रदीप्त था और उसे देखते ही यह अनुमान करने में किसी को कठिनाई नहीं हो सकती थी कि वह कोई अतिविशिष्ट राजपुरुष ही होना चाहिए।

था भी ऐसा ही। वह अश्वारोही अन्य कोई नहीं, स्वयं राजा प्रसेनजित था, कुशाग्रपुर का भारतविख्यात वीर एवं धर्मनिष्ठ नरेश। वह नरश्रेष्ठ इस समय एकाकी, थका-हारा-सा दीखता, अपनी राजधानी के चारों ओर दूर-दूर तक फैली वैभारगिरि की गहन, सघन एवं एक रहस्य का आवरण-सा ओढ़े हुए उपत्यकाओं में अपना अश्व अन्धाधुन्ध दौड़ाए चला जा रहा था....

कुछ आश्चर्य का ही विषय था।

किन्तु वास्तविकता यह थी कि राजा प्रसेनजित को अश्वारोहण बहुत प्रिय था। वह प्रायः अपनी प्रिय प्रजा के संरक्षण हेतु किये जाने वाले हितकारी कार्यों से समय मिल जाने पर कुछ अधिकारियों तथा सैनिकों के साथ अश्वारूढ़ होकर जंगल की ओर निकल जाता था और सघन-सुन्दर-नैसर्गिक वनश्री में इतस्ततः विहार–विचरण करके जीवन का आनन्द लेता था, अथवा यह भी कहा जा

सकता है कि दिन-रात प्रजा के हित में कार्य करते-करते जो थकान स्वाभाविक रूप से आ-जाया करती थी, उसे दूर करने का प्रयास किया करता था।

ऐसा ही था वह एक दिन।

किन्तु उस दिन संयोग ऐसा बना कि प्रसेनजित ने अपनी सवारी के लिए एक नये अश्व का चयन किया था। वह अश्व बड़ा तेजस्वी और पवनवेगी दिखाई देता था। था भी ऐसा ही। किन्तु दुर्भाग्य से किसी ने उसे उल्टी शिक्षा दे डाली थी। सामान्यतया लगाम खींचने पर अश्व अपनी चाल तेज कर देते हैं, और लगाम ढीली छोड़ देने पर वे धीमे पड़ जाते हैं। किन्तु यह अश्व उल्टी शिक्षा के कारण उल्टा ही निकला।

राजा सघन वन में संयोगवशात् अपने सेवकों से अलग पड़ गया था और अब वह अपने अश्व को लगाम खींचकर जितना भी रोकना चाहता था, उतना ही वह अश्व और भी अधिक पवन के वेग से दौड़ता चला जा रहा था।

राजा प्रसेनजित चकित और अन्ततः हैरान भी हो गया कि इस अश्व को आखिर हुआ क्या है? यह तो किसी प्रबल झंझावात का ही स्वरूप लेकर विनाश का ही ताण्डव कर डालना चाहता है....

प्रसेनजित कोई सामान्य व्यक्ति नहीं था। वह मगध का सम्राट् था। उसका प्रताप दिग्दिगन्तव्यापी था। वह धीर और वीर पुरुष था। भगवान पार्श्वनाथ की भक्ति ने उसकी आत्मा को जितना उज्ज्वल तथा शक्तिशाली बनाया था, उतना ही शक्तिशाली और कष्ट-सहिष्णु प्रतिदिन के व्यायाम एवं आयुध-संचालनों ने उसके शरीर को भी बनाया था।

वह चाहता तो अपनी सुपुष्ट जंघाओं में कसकर उस बलशाली अश्व को भी मसलकर रख सकता था। किन्तु उसने ऐसा कुछ नहीं किया। उसे भी कौतुक सूझा। उसने अन्ततः लगाम ढीली छोड़ दी और उस अश्व को अपनी मनमानी करने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दिया।

ऐसा करते ही अश्व ने अपनी गति एकाएक धीमी कर दी और धीरे-धीरे वह एक विशाल वट-वृक्ष की शीतल छाया में रुक गया। खड़ा-खड़ा वह हाँफ रहा था और अब तक तूफानी वेग से निरन्तर दौड़ते रहने के कारण उसके मुख से फेन प्रवाहित हो रहा था।

राजा प्रसेनजित भी थक गया था। प्यास से विकल भी था। अश्व को रुका हुआ देखकर वह भी नीचे उतर आया। अश्व को प्रेम से थपथपाकर

स्वतंत्रतापूर्वक चरने के लिए छोड़कर वह इधर-उधर दृष्टि दौड़ाकर जल की खोज करने लगा।

किन्तु उस स्थान-विशेष पर आसपास कहीं जल का कोई स्रोत दिखाई नहीं दिया। राजा ने थोड़ा-बहुत इधर-उधर, आगे-पीछे जाकर भी देखा-भाला, किन्तु कहीं जल मिला नहीं। चारों ओर झाड़-झंखाड़ और लता-गुल्म इतने सघन एवं परस्पर इतने गुँथे हुए थे कि कोई मार्ग ही नहीं दिखाई देता था। राजा जाता तो कहाँ?

मात्र एक पतली-सी पगडण्डी की रेखाभर दिखाई दे रही थी। वह पगडण्डी कहाँ से आती थी, किधर को जाती थी–कौन जाने?

वह पतली-सी, नगण्य-सी पगडण्डी, राजा प्रसेनजित के भविष्य को कितना प्रभावित करने वाली थी, यह उस समय राजा को क्या पता था?

यह तो अब इतिहास की बात है।

आइये, हम उस इतिहास के पृष्ठों में झाँकें····

× × ×

राजा प्रसेनजित जल की खोज में कुछ देर इधर-उधर घूम-फिरकर, निराश होकर उसी वट-वृक्ष के नीचे आकर थका-हारा-प्यासा बैठ गया और विचार करने लगा कि अब किया क्या जाय? शाम ढल रही है। वह और उसका अश्व दोनों ही थके हैं। अपनी राजधानी, कुशाग्रपुर से वह कितनी दूर और किस दिशा में है, यह भी जानने का कोई उपाय नहीं। साथी-सेवक सघन वन में बिछुड़कर जाने किस दिशा में, कहाँ भटक गये····

अब क्या करना चाहिए?

ये ही विचार प्रसेनजित के मस्तिष्क में चक्कर काट रहे थे। भगवान पार्श्वनाथ का अनुयायी और भक्त–वह राजा इतना दुर्बल तो हो नहीं सकता था कि किसी भी प्रकार से घबरा जाता–चाहे भूख-प्यास से, अथवा वन में एकाकी रह जाने से। व्रत-उपवास इत्यादि का उसे अभ्यास था, अतः आज वह धार्मिक आचरण का अभ्यास उसके बहुत काम आ रहा था।

किन्तु फिर भी समस्या तो थी ही। दिनभर बीत गया था दौड़ते-भागते, भूखे-प्यासे और फिर अब गहन वन में लम्बी काली रात सामने दिखाई दे रही थी। अब तो प्रातःकाल होने पर ही कोई सहायता पहुँचे अथवा मार्ग-शोधन किया जा सके, यही संभावना दिखाई दे रही थी।

जो हो, सो हो। यह मानकर प्रसेनजित राजा निराकुलभाव से एक स्थान पर बैठ गया। उसका अश्व पास ही हरी-हरी घास में मुँह मार रहा था और बीच-बीच में अपनी बड़ी-बड़ी आँखों में सहानुभूति का, और शायद क्षमायाचना का भी भाव लिये अपने स्वामी की ओर देख लेता था—आखिर उसी की उल्टी आदत के कारण उसके स्वामी की आज यह दशा हुई है, इस बात को वह भोला पशु भी मन ही मन जान रहा था।

अब तो अंधकार घिरने लगा था। जंगल के ऊँचे-ऊँचे सघन वृक्षों तथा वैभारगिरि की ऊँची-ऊँची, गगनचुम्बी चोटियों ने सूर्य को बड़ी शीघ्रता से अपनी ओट में ले लिया।

पहाड़ों की शाम बड़ी तीव्रता से झपट्टा-सा मारती है।

उसी समय उस पतली-सी पगडण्डी पर तेज-तेज चलता हुआ एक श्यामवर्ण, बलिष्ठ, स्वस्थ व्यक्ति उसी वट-वृक्ष के समीप आ पहुँचा, जहाँ राजा बैठा था। आगन्तुक व्यक्ति ने मृगचर्म धारण कर रखा था, जो उसके घुटनों तक आता था। उसका शेष शरीर खुला था और उसकी चट्टान जैसी चौड़ी और मजबूत दिखाई देती छाती पर मूँगे तथा कौड़ी आदि की रंग-रँगीली दो-चार मालाएँ हिलडुल रही थीं। एक मयूर-पंख उसने अपने शीर्ष पर मुकुट जैसी दिखाई देती पगड़ी में खोंस रखा था।

उसके हाथ में एक धनुष था और कन्धे पर तूणीर में तीर भरे हुए थे।

स्पष्ट था कि वह कोई वनवासी भील था।

दोनों ने एक-दूसरे को देखा—राजा ने उस भील को, और भील ने राजा को।

राजा को तो कोई आश्चर्य नहीं हुआ। किसी वन में, किसी भी समय, किसी भी वनवासी का प्रगट हो जाना कोई आश्चर्य की बात होती भी नहीं। किन्तु उस भील को आश्चर्य अवश्य हुआ कि इस सघन वन में, घिरती रात की भयावहता की चिन्ता से विहीन यह एकाकी—लेकिन अपने चारों ओर की वनस्थली को न केवल निर्भय एवं निराकुल, बल्कि अधिकार एवं स्वामित्व के भाव से देखता हुआ यह व्यक्ति कौन हो सकता है?

अभी अंधकार सघन नहीं हुआ था। झुटपुटा-सा बना हुआ था। उस झुटपुटे अंधकार-प्रकाश के बीच से उस भील ने राजा प्रसेनजित के मुखमण्डल से विकीर्ण हो रहे प्रताप को देखा और एकदम समीप आकर प्रश्न किया—

"तुम .... भाई आप .... कौन? इस कुबेला में यहाँ अकेले कैसे?"

राजा प्रसेनजित ने भी इतना अनुमान तो सहज ही कर ही लिया था कि यह व्यक्ति कोई वनवासी भील है। उन्होंने कहा–

"भिल्लराज ! मैं प्रसेनजित हूँ।"

भील चौंक पड़ा अब तो। इतना तो उसे लगा था कि वह किसी विशिष्ट पुरुष के सामने है, किन्तु वह विशिष्ट पुरुष स्वयं राजा प्रसेनजित होंगे, इस बात की तो वह कल्पना भी नहीं कर सकता था। करता भी कैसे? दिग्दिगन्त में जिसका यश व्याप्त है, जिसका नाममात्र सुनकर ही अच्छे-अच्छे महारथी काँप उठते हैं, वह मगध का प्रतापी सम्राट् प्रसेनजित, और ऐसी असहाय-सी, एकाकी स्थिति में?

उसके दोनों हाथ स्वयं ही जुड़ गये। माथा लगभग भूमि को स्पर्श करता हुआ नमन में झुक गया। कुछ यत्न करके ही वह बोल सका–

"महाराज आप? आप स्वयं महाराज? मेरे तो अहोभाग्य कि आपके दर्शन प्राप्त हुए। लेकिन महाराज मैं कुछ समझ नहीं पा रहा····।"

राजा प्रसेनजित भोले भील की बात सुनकर प्रेम से मुस्कराया और बोला–

"समझाता हूँ, भिल्लराज ! घबराओ नहीं। राजा हो या रंक, सभी कभी न कभी भटक ही जाते हैं। आज मैं भी भटक गया, बस····।"

किन्तु वहाँ 'बस' नहीं हुआ। आगे बहुत कुछ हुआ, बड़ी-बड़ी घटनाएँ हो गईं जिन्होंने इतिहास बनाया है।

हम बता रहे हैं आपको। धीरे-धीरे। क्रमशः।

राजा प्रसेनजित ने उस भील को अपनी आज के दिन की सारी रामकहानी सुनाई कि किस प्रकार तीव्रगामी अश्व के कारण, जिसे उल्टी शिक्षा दी गई थी, और जिसका ज्ञान उसे नहीं था, वह अपने सेवकों से पृथक् होकर भटकता हुआ यहाँ तक आ पहुँचा था और अब राजधानी के मार्ग का कोई भी अनुमान न लगा सकने के कारण किंकर्त्तव्यविमूढ़ की-सी स्थिति में यहाँ बैठा था।

उसने कहा–

"भाई भिल्लराज ! अब सबसे पहले तो तुम मुझे कहीं से लाकर थोड़ा पानी पिलाओ। बहुत प्यास लगी है। कण्ठ सूखा जा रहा है। और फिर····।"

"फिर की बात फिर, महाराज ! जरा-सा ठहरिये। मैं अभी पानी लेकर आया।"

यह कहते हुए वह भील तत्काल झाड़ियों में धँसकर विलीन हो गया।

जंगल की चप्पा-चप्पा भूमि से परिचित था वह भील। कुछ ही क्षणों में वह एक बड़े-से ढाक-वृक्ष के दौने में शीतल, स्वच्छ जल भरकर ले आया। उस जल को पीकर राजा की जान में जान आई। तब उसने भील को हार्दिक धन्यवाद देते हुए अपने कण्ठ में धारण की हुई एक बहुमूल्य मौक्तिक-माल उसे उपहारस्वरूप प्रदान करने की इच्छा प्रगट करते हुए कहा–

"लो भिल्लराज ! आज जो उपकार तुमने मुझ पर किया है, उसका मूल्य तो दिया नहीं जा सकता, लेकिन फिर भी प्रेमपूर्वक यह तुच्छ भेंट मैं तुम्हें देता हूँ। और अब तुम मुझे कुशाग्रनगर का मार्ग भी बता दो तो मैं अपनी राजधानी को लौट जाऊँ।"

उसे भील ने सविनय, हाथ जोड़े-जोड़े ही उत्तर दिया–

"महाराज ! कृपानाथ ! हम तो आपकी ही जंगलों में रहने वाली प्रजा हैं। आपके प्रताप से हम अपने जंगलों में ही बहुत सुखी हैं। इन जंगलों से हमें अपनी आजीविका के लिए पर्याप्त भोजन-पानी मिल जाता है। इस अत्यन्त मूल्यवान मोतियों की माला का भला हम क्या करेंगे? उल्टे इसे हमारे पास देखकर हमें कोई चोर–लुटेरा ही समझ बैठेगा, जोकि हम हैं नहीं। आपकी कृपा से आपकी प्रजा में सुख-चैन की बंसी बज रही है। आपको और युवराज श्रेणिक महाराज को दिन-रात अपनी प्रजा के हित की चिन्ता रहती है। अतः पूरे मगध-साम्राज्य में सुख-शान्ति है। इसलिए हे कृपानाथ ! यह पुरस्कार तो आप मुझे प्रदान न करें। हाँ, एक कृपा आपको मुझ पर आज करनी ही होगी।"

"वह क्या?"

"आज मगध-सम्राट् प्रसेनजित महाराज को इस गरीब भील की कुटिया को पवित्र करना होगा। महाराज ! समीप ही हम भीलों की पल्ली (ग्राम) है। सघनता के कारण दिखाई नहीं दे रही। किन्तु समीप ही है। और महाराज ! आपकी राजधानी यहाँ से कोसों दूर है। इस अंधकार में अब वहाँ तक जाना संभव नहीं है, और मैं आपको जाने भी नहीं दूँगा।"

"जाने नहीं दोगे?" राजा प्रसेनजित मुस्कराया, "क्या मुझे बलपूर्वक रोकोगे?"

"अरे महाराज ! मेरी ऐसी हिम्मत और ताकत कहाँ? मैं तो आपको आपके चरणों में सिर रखकर प्रार्थना करूँगा और वह प्रार्थना आपको स्वीकार करनी ही पड़ेगी। वन भयावह है। और राजधानी बहुत दूर है महाराज !"

"तो वन की भयावहता से मुझे भयभीत करना चाहते हो? राजा प्रसेनजित को?"

"नहीं, नहीं, महाराज ! क्षमा चाहता हूँ। मेरे कहने का यह अभिप्राय कदापि नहीं है। क्या किसी सिंह को भयभीत होते हुए किसी ने देखा है? राजा प्रसेनजित और भय, ये तो दो विरोधी बातें हैं, महाराज ! और जहाँ तक मैंने सुना है, युवराज श्रेणिक तो समस्त सद्गुणों में–वीरता, धीरता, बुद्धि-चातुर्य इत्यादि में आपसे भी सवाए दिखाई देते हैं, प्रभु ! अपराध क्षमा हो''''।"

राजा प्रसेनजित को भोले भील की स्पष्टवादिता बहुत अच्छी लगी। वे हँस पड़े, और हँसते-हँसते ही बोले–

"भिल्लराज ! तुमने मेरे विषय में क्या और कितना सुना है, यह तो जाने दो, हाँ, श्रेणिक सचमुच वैसा ही है, जैसा तुमने सुना है। मुझे उससे बड़ी आशाएँ हैं। और मुझे ही क्या, इस पूरे भरतखण्ड को उससे बड़ी-बड़ी अपेक्षाएँ हैं। वह मेरी आँख का तारा है भिल्लराज !"

"खैर, अब तुम भी कुछ अपना ठीकठाक परिचय तो दो। मेरे कारण तुम्हें कोई कष्ट नहीं होना चाहिए भाई !"

"महाराज ! रूखी-सूखी को बाँटकर खाने में किसी को क्या कष्ट हो सकता है? वैसे मेरा नाम यमदण्ड है, और मैं भीलों की इस पल्ली का सरदार भी हूँ। दो जून की रोटी के जुगाड़ में आपकी दीर्घदृष्टि से आपकी समस्त प्रजा में किसी को भी कोई कठिनाई नहीं होती तो मुझे भी क्यों होगी? अब पधारें, महाराज ! विलम्ब हो रहा है। अँधेरा घना होता जा रहा है। हमें तो जीवनभर का अभ्यास है, किन्तु आपको कष्ट होगा, महाराज ! पधारिये।"

यह कहते-कहते भिल्लराज यमदण्ड ने राजा प्रसेनजित के अश्व की वल्गा अपने हाथ में थाम ली और उसी पतली-सी पगडण्डी पर आगे-आगे चलने लगा, जिसका जिक्र हमने अभी कुछ समय पूर्व ही किया था, और जो पगडण्डी मगध-सम्राट् प्रसेनजित, धर्मवीर और कर्मवीर राजा प्रसेनजित के जीवन में एक मोड़ लाने वाली थी।

अब राजा प्रसेनजित भी भिल्लराज के पीछे-पीछे, सँभल-सँभलकर चलने लगा। चलते-चलते उसे विनोद सूझा। उसने कहा–

"भिल्लराज भाई यमदण्ड ! तुम्हारा नाम तो कुछ विकट है। कहीं अपने नाम के अनुरूप तुम्हारे काम भी तो नहीं हैं?"

"अब आप मेरी कुटिया पर पधार ही रहे हैं, महाराज ! तो स्वयं ही अपनी आँखों से देख लीजियेगा।"

इसी प्रकार की सामान्य विनोद-वार्त्ता करते हुए राजा और प्रजा आगे बढ़ते गये।

भिल्लराज यमदण्ड की कुटिया में राजा प्रसेनजित ने क्या देखा, यह जानने की उत्सुकता संभवतः हमारे पाठकों को हो।

वही अब हम बताने जा रहे हैं।

× × ×

आजकल दूरस्थ वनवासियों तथा आदिवासियों के छोटे-मोटे ग्रामों में सन्ध्याकाल के पश्चात् अशन-पान का कोलाहल प्रायः सामान्य रूप से दिखाई दे जाता है। कभी-कभी लड़ाई-झगड़े भी होते रहते हैं। देशी, सस्ती, सर्वनाशिनी मदिरा के घातक प्रभाव से बेचारे अशिक्षित वनवासी अपने सहज–शुद्ध प्राकृतिक स्वभाव को भूल जाते हैं और संघर्ष एवं अशान्ति तथा पाप का मार्ग अपनाने लगते हैं।

किन्तु राजा प्रसेनजित ने देखा–यमदण्ड की उस पल्ली में कहीं, कोई कोलाहल नहीं था। कहीं, किसी प्रकार के संघर्ष की कोई गन्ध तक नहीं थी।

सर्वत्र शान्ति थी।

और यदि पूर्णतः शुद्धता तथा पवित्रता का नहीं, तो कम से कम एक सात्त्विकता का वातावरण तो उस पल्ली में अवश्य ही अनुभूत हो रहा था।

छोटी-छोटी घास-फूँस की कुटियाओं में बहुत छोटे-छोटे दीपक जल रहे थे तथा उन कुटियाओं में से पति-पत्नियों अथवा बालकों के मन्द, स्नेहिल स्वर कानों से आ टकराते थे।

एक विरोधाभास था आज में और कल में।

अतीत और वर्तमान में।

राजा प्रसेनजित के राज्य तथा आज के तथाकथित प्रजातांत्रिक काल में।

राजा प्रसेनजित चुपचाप यमदण्ड की इस पल्ली की स्थिति का मन ही मन अध्ययन करता उसके पीछे-पीछे चल रहा था। उसके मन में एक आश्वस्ति का भाव जाग रहा था कि उसकी अशिक्षित, असभ्य मानी जाने वाली वनवासिनी प्रजा में भी सुख तो था, शान्ति भी थी।

यमदण्ड की कुटिया आ गई। वह कुटिया पल्ली का सरदार होने के नाते अन्य कुटियाओं से कुछ अलग हटकर, और अन्य कुटियाओं की अपेक्षा कुछ बड़ी भी थी।

कुटिया में दीपक जल रहा था।

गृहस्वामी के आगमन की प्रतीक्षा थी।

द्वार उन्मुक्त था। यमदण्ड ने राजा के अश्व को बाहर ही एक वृक्ष से बाँध दिया और कहा–

"हमारे धन्य भाग्य, महाराज ! पधारिये। यही मेरी झोंपड़ी है।"

कुटिया के भीतर प्रवेश करते-करते यमदण्ड ने अत्यन्त उल्लसित और प्रसन्न स्वर में पुकार लगाई–

"अरे बेटी ! देख, देख तो, आज अपन गरीबों की कुटिया पर कौन अतिथि पधारे हैं? तू सात जन्म में भी सोच नहीं सकेगी। जल्दी आ, देख तो सही।"

इसी बीच यमदण्ड ने एक खाट पर एक विशाल व्याघ्र-चर्म व्यवस्थित रूप से फैला दिया और राजा से प्रार्थना की–

"आप बिराजें, महाराज ! मैं अभी घोड़े को दाना-पानी डालकर आया। बेटी !"–कुछ तेज स्वर में उसने कहा–"महाराज को स्नान-ध्यान के लिए जल दे। भोजन की व्यवस्था कर। जल्दी। मैं आया।"

अपने पिता की आवाज कुटिया के भीतरी प्रकोष्ठ में एक कन्या ने सुनी और उस प्रकोष्ठ के द्वार तक आकर उसने झाँककर देखा–खटिया पर राजा प्रसेनजित बैठे थे। वह यह जान तो नहीं पाई कि यह जो भव्य मुखाकृति वाला तेजस्वी और राजसी व्यक्ति उसका अतिथि बनकर आज आया है, वह कौन है, किन्तु एक ही झलक पाकर वह इतना तो जान ही गई कि वह अतिथि कोई विशिष्ट पुरुष ही है।

अपने पिता की आज्ञा के पालन में वह चुपचाप एक झलक आगन्तुक अतिथि की लेकर व्यवस्था में लग गई।

शीघ्र ही पल्लीपति यमदण्ड अश्व के लिए समुचित व्यवस्था करके आ गया और उसी समय उस कन्या ने भीतर से आकर जल का पात्र लाकर अपने पिता के हाथों में थमा दिया।

जब वह कन्या भीतरी भाग से कुटिया के बाहर के उस भाग में आई जहाँ राजा प्रसेनजित और यमदण्ड थे, तब राजा को ऐसा प्रतीत हुआ मानो सहसा कुटिया के उस भाग में चन्द्रमा की चाँदनी छिटक आई हो। मद्धिम रूप से प्रकाशित कुटिया के छोटे-से दीपक में मानो एकाएक सूर्य-किरण का आलोक आ बसा हो, ऐसी कल्पना भी राजा के मस्तिष्क में कौंध गई....

कुछ क्षणों के लिए राजा प्रसेनजित अवाक् और विस्मयविमूढ़-से उस कन्या को एकटक देखते ही रह गये। उन कुछ क्षणों में ही उन्होंने विचार किया—यह कन्या—अप्सराओं को भी अपने रूप और यौवन से पनी पिला दे, ऐसी यह अद्‌भुत रूपवती कन्या इस कृष्णवर्ण, कठोर शरीरयष्टि वाले भील सरदार के घर में कैसे, कहाँ से अवतरित हुई होगी? यह तो एक आश्चर्य ही है। विधि की लीला....

लेकिन तत्काल ही विवेकवान राजा ने स्वयं को संयत कर लिया। अपने आतिथेय की कन्या के विषय में किसी भी प्रकार का अनुचित विचार शिष्ट, शीलवान राजा प्रसेनजित कर भी कैसे सकते थे? उन्होंने अपना पूरा ध्यान यमदण्ड की ओर लगाया।

यमदण्ड ने कहा—

"महाराज ! यह मेरी बेटी तिलकवती है। बड़ी चतुर है। अभी भोजन की व्यवस्था किये देती है। तब तक आप स्नान-ध्यान कर लें, कृपानाथ !"

"हाँ भाई, लाओ जल। मैं तो तुम्हारी इस पुत्री को देखकर सचमुच कुछ आश्चर्य में पड़ गया था।"

"और बेटी !"—यमदण्ड ने तिलकवती से कहा—"ये हैं अपने परम प्रतापी, परम यशस्वी, परम दयालु महाराज प्रसेनजित स्वयं। कुछ समझी? कहाँ से समझेगी? अरे, आज अपनी कुटिया पवित्र हुई और अपना जीवन धन्य हुआ बेटी ! अन्यथा कहाँ महाराज, और कहाँ हम जंगली भील ! अच्छा अब जा तो, देख जल्दी से भोजन तैयार कर ले। महाराज के दर्शन आज मुझे कैसे और कहाँ हो गये, यह तुझे बाद में सब बता दूँगा।"

"जी पिताजी ! प्रणाम, महाराज !"—कहकर तिलकवती भीतर चली गई।

अन्ततः भोजन भी हो गया और शयन-विश्राम की बेला भी आ गई। जिस सम्राट् के लिए छप्पन भोग प्रतिदिन प्रस्तुत रहा करते थे, उसे आज भीलराज यमदण्ड के घर के मोटे-मोटे बाजरे के रोट और किसी वन्य वनस्पति का साग,

अद्‌भुत रूप से स्वादिष्ट लगे। उन्होंने सोचा–ऐसा मधुर भोजन भी होता है? यह तो मैंने कभी सोचा और जाना ही नहीं था····

किन्तु राजा प्रसेनजित को उस दिन वह मोटा-झोटा, सादा भोजन इतना मधुर क्यों लगा, इसका अनुमान हम कर सकते हैं–

एक–राजा दिनभर से भूखा और थका-हारा था। आदमी को जब भूख लगी होती है, तब सूखी रोटी के टुकड़े भी अमृततुल्य प्रतीत होते हैं।

दो–उस सादे भोजन में भीलराज यमदण्ड के प्रेम और श्रद्धा का मधुरस मिश्रित था।

तीन–वह भोजन तिलकवती जैसी अद्‌भुत रूपवती कन्या के हाथों बनाया और परोसा गया था।

थके-हारे राजा को नींद भी आ ही गई–चरमराती खटिया और व्याघ्राम्बर पर भी।

किन्तु उसे स्वप्न भी आते रहे। रूपवती तिलकवती के अपरूप सौंदर्य ने उसे कुछ ऐसा प्रभावित किया था कि निद्रा के वशीभूत होकर भी वह उसे पूर्णतया भुला नहीं पाया। उसके अचेतन में से आकार ग्रहण कर-करके उस सौंदर्यवती, सुशीला कन्या की झलक उसे बार-बार स्वप्नों में सताती रही।

जाते-जाते उसने कहा था–"जी पिताजी ! प्रणाम, महाराज !"–यह स्वर, किसी मानवी का था अथवा किसी गन्धर्व-कन्या का? उस स्वर में इतनी मधुरता थी कि उसकी मोहक झंकार सुप्तावस्था में भी उसके कर्ण-कुहरों में बजती ही रही और उसकी आत्मा को अनजाने ही आविष्ट एवं रससिक्त करती रही।

प्रातःकाल होने पर सब लोग जल्दी ही उठ गये। दैनिक कार्यों से निवृत्त हो जाने पर राजा ने अब चल पड़ने का विचार किया।

किन्तु साथ-साथ ही वह सोच रहा था–यह भील-कन्या, यह तिलकवती कितनी सुन्दर, कितनी कोमल है ! यह क्या किसी वनवासी भील के घर में उपले थापने और मेहनत-मजदूरी करने योग्य है? नहीं। यह तो किसी राजा की रानी बनने के योग्य ही है। किन्तु····

यह 'किन्तु' ही समस्या का मूल था। क्षत्रिय–सम्राट् प्रसेनजित के मन में तिलकवती बस गई थी। वह उसके मोहजाल में पहली झलक में ही फँस गया था। 'किन्तु' क्षत्रिय राजा एक हीन, भील कुल की कन्या को अपनी रानी कैसे बनाये?

लोग क्या कहेंगे? लोकाचार के विपरीत चलना किसी को भी शोभा नहीं देता। फिर एक राजा को तो और भी अधिक सावधानी से लोकाचार की रक्षा करनी ही चाहिए।

राजा का मन अकुला रहा था, किन्तु विवशता थी।

फिर भी जिज्ञासावश उसने यमदण्ड से एक प्रश्न कर ही लिया–

"भिल्लराज ! एक बात पूछूँ?"

"आज्ञा कीजिये, महाराज !"

"आपकी यह बेटी तिलकवती, आपकी ही बेटी है?"

"यह कैसा प्रश्न है, महाराज ! हाँ, यह मेरी ही बेटी है, क्योंकि इसे मैंने जब यह दुधमुँही बच्ची थी, तभी से बेटी की तरह ही पाला है''''।"

"बेटी की तरह ही पाला है? इसका अर्थ?"

"महाराज ! आपने मुझे बहुत पीछे, अतीत काल में भेज दिया। आपसे मैं असत्य तो बोल नहीं सकता। बात यह है कृपानाथ ! कि यह तिलकवती वस्तुतः एक ब्राह्मण-कन्या है। बहुत पहले की बात है, लगभग सोलह वर्ष पूर्व की–एक दिन'''' ।"

"हाँ, हाँ, बताओ भाई यमदण्ड, मुझे सारी बात सच-सच बताओ।"–राजा की आशा जाग उठी थी।

एक दिन, महाराज ! मैं जंगल में घूम रहा था। एकाएक मुझे किसी स्थान पर एक दुर्बल, विपन्न ब्राह्मण लड़खड़ाकर भूमि पर गिरता हुआ दिखाई दिया। उसकी गोद में यह बच्ची थी। ब्राह्मण गिर गया। बच्ची रोने लगी। मैंने दौड़कर जाकर बच्ची को गोद में लेकर पुचकारा, चुप कराया, और उस दुर्बल ब्राह्मण की थोड़ी सेवा की। जब वह विप्र थोड़ा संयत हुआ, तब उखड़ती हुई साँसों को किसी प्रकार सँभालते हुए उसने मुझसे कहा–

"हे दयालु ! तुम कौन हो, यह मैं कैसे जानूँ? पर इतना जान गया हूँ कि तुम अब मेरे लिए तो क्या, किन्तु मेरी इस प्यारी बच्ची के लिए देवता बनकर ही प्रगट हुए हो। भाई, मेरी तो चलने की बेला आ गई। बहुत समय से रुग्ण हूँ। अब यह शरीर नहीं चलेगा। चिन्ता इस प्यारी बच्ची की ही थी। अब तुमने इसे गोद में लिया है तो कभी अपनी गोद से उतारना नहीं। इसे अपनी ही बेटी समझना भैया ! तुम्हारा एक ब्राह्मण पर बड़ा उपकार होगा। जनम-जनम तक मैं

तुम्हारा उपकार नहीं भूलूँगा। मेरी यह बिना माँ की बेटी बड़ी कोमल है ····· देखो न, कितनी सुन्दर ····· कितनी प्यारी है ····· है न?"

"हाँ, ब्राह्मण देवता ! बच्ची बहुत प्यारी है।"

"यही तो, यही तो ····· भैया ! यह बच्ची तो राजरानी बनने योग्य है ····· पर अब मैं क्या करूँ? मैं तो चलता हूँ। मेरी साँसें समाप्त हो रही हैं··· भाई ! मुझे वचन दो ····· तुम इसे अपनी बेटी की तरह ही पालोगे···· वचन दो ····· भैया ! ·····।"

"मैं आपको वचन देता हूँ, ब्राह्मण देवता ! आज से, इसी क्षण से यह मेरी बेटी है, बस? आप निश्चिन्त हो जाइये।"

"महाराज ! मेरा इतना कहने पर उस ब्राह्मण के निस्तेज मुख पर सन्तोष, शान्ति और सुख की आभा क्षणभर के लिए प्रगट हुई ····· दिए की लौ भभकती है न महाराज !····· और फिर दीपक बुझ गया।"

यमदण्ड ने यह कथा सुनाई और थोड़े समय के लिए वह किसी अतीत में, किन्हीं कोमल भावनाओं में खोकर मौन रह गया।

राजा प्रसेनजित भी चुप ही रहे। उन्हें उस मौन को एकाएक भंग करने की इच्छा नहीं हुई।

किन्तु समय भाग रहा था। राजा को विचार आया कि राजधानी में हाहाकार मच रहा होगा। अब तो चलना ही चाहिए।

किन्तु चले कौन?

उनका शरीर चलने के लिए उद्यत था, पर मन अटका हुआ था।

राजा प्रसेनजित की प्रौढ़ावस्था थी। अनेक रानियाँ थीं। एक से एक बढ़कर रूपवती। पाँच सौ राजकुमार थे। और उनमें सभी के मुकुट-मणि सदृश युवराज था–श्रेणिक।

किन्तु मन का क्या किया जाय? मन तो अवस्था से बँधता, बाध्य नहीं होता·····

बड़ा कठिन है मन को बाँधना।

राजा प्रसेनजित भी अपने मन पर उस समय अपने विवेक का अंकुश नहीं लगा पाए। उन्होंने अन्ततः यमदण्ड से कहा–

"भिल्लराज ! एक बात पूछता हूँ–क्या तुम अपनी इस बेटी को उस ब्राह्मण की अन्तिम इच्छा के अनुसार–राजरानी नहीं बनाना चाहोगे?"

यह प्रश्न सुनकर यमदण्ड चकित-सा रह गया। किन्तु उसने उत्तर दिया–

"क्यों नहीं बनाना चाहूँगा महाराज? इससे बड़ा सौभाग्य मेरा और मेरी बेटी का क्या होगा? किन्तु महाराज ! यह कैसे सम्भव है..... ?"

"सम्भव है भिल्लराज !"

"किन्तु कैसे–महाराज?"

"मैं, मगध-सम्राट् प्रसेनजित, तुमसे तुम्हारी इस देवी जैसी कन्या का हाथ माँगता हूँ। इसे अपनी रानी बनाना चाहता हूँ। बोलो, है स्वीकार?"

अन्धे को क्या चाहिए?

दो आँखें।

एक बार तो यमदण्ड की आँखों के आगे आश्चर्यमय आह्लाद का अंधकार-सा घिर आया.....

फिर वह सचेत हुआ। बस, हर्ष से पागल नहीं हो गया, यही गनीमत रही। उसने कहा–

"महाराज ! कृपानिधान ! मुझे अपने कानों पर विश्वास नहीं हो रहा। किन्तु आपने जो कुछ कहा वह मैंने सुना भी है। क्या यह सच हो सकता है?"

"यह सच है, भिल्लराज !"–राजा प्रसेनजित ने संक्षेप में, दृढ़तापूर्वक कहा।

"तब तो महाराज !"–यमदण्ड कहने लगा–"मेरे अहोभाग्य ! किन्तु महाराज, क्षमा मिले। एक शर्त मेरी भी है.....।"

"शर्त? कैसी शर्त भिल्लराज? बोलो, क्या चाहिए तुम्हें? स्वर्ण-हीरे-मोती-माणिक? मेरा आधा राज्य.....।"

"नहीं, नहीं, महाराज ! मुझे लज्जित न करें। यह तो मैं आपसे उस वट-वृक्ष के नीचे ही कह चुका कि हीरे-मोती हम जंगलियों के किस काम के?"

"तो फिर तुम और क्या चाहते हो?"

"महाराज ! मेरी शर्त केवल यही है कि मेरी बेटी तिलकवती से उत्पन्न राजकुमार ही आपके राज्य का उत्तराधिकारी हो।"

अब राजा प्रसेनजित के चौंकने, बल्कि स्तब्ध रह जाने की बारी थी।

वे स्तब्ध रह गए भीलराज की यह शर्त सुनकर।

उनके मस्तिष्क में सहसा बवंडर-सा उठ खड़ा हुआ ..... युवराज श्रेणिक का तेजस्वी मुखमंडल उनकी दृष्टि के सम्मुख आ खड़ा हुआ। परम प्रतापी, गुणों की खान, मगध की समस्त प्रजा के दुलारे श्रेणिक के स्थान पर कोई अन्य राजकुमार उनके राज्य का उत्तराधिकारी बनेगा? और इसे मगध की प्रजा सह लेगी? स्वयं वे भी क्या यह अन्याय कर पाएँगे?

नहीं ..... नहीं ..... नहीं ..... यह तो अशक्य है, असंभव है, न भूतो, न भविष्यति .....

किन्तु मोहग्रस्त मन की शक्ति का ज्ञान और भान हम लोगों में से बहुत कम ही लोगों को होगा।

राजा प्रसेनजित का मन उस समय तिलकवती के अपरूप सौंदर्य से इस प्रकार ग्रसित हो गया था कि वे रुक भी नहीं सकते थे।

भविष्य में जो होगा, वह देखा जायेगा–ऐसा ही कुछ सोचते हुए उन्होंने विवशता की स्थिति में वचन दे ही दिया–

"वचन देता हूँ, भिल्लराज ! और कुछ?"

"बस, महाराज ! और कुछ नहीं। आपका वचन तो वज्रलेख है। मैं आश्वस्त हुआ। मुझे सहर्ष स्वीकार है महाराज !"

कथा के अधिक विस्तार में चले जाने की संभावना है।

अतः कुछ संक्षेप करना ही समुचित होगा।

प्रिय पाठकगण ! आपने देख ही लिया कि वैभारगिरि की सघन उपत्यकाओं के बीच की उस पतली-सी पगडंडी ने साम्राज्यों की नियति को कैसा मोड़ दिया।

एक-एक मोड़ सामने आता चलेगा। आप हमारे साथ चलिए और मनुष्य-मन के अंतरंग में झाँकते चलिए, विचार करते चलिए और अपने जीवन के राजमार्ग को पहचानने का प्रयास कीजिए।

राजा प्रसेनजित ने धूमधाम से तिलकवती से विवाह किया।

और व्यतीत होता रहा–काल।

● ●

अपने वचन का पालन करना क्षत्रिय ही क्या, राजा अथवा रंक ही क्या, प्रत्येक मानव का कर्त्तव्य है, परम धर्म है।

जो भी व्यक्ति अपने वचन का पालन नहीं करता, जिसकी कथनी और करनी में अन्तर होता है, वह व्यक्ति मानव कहलाने का अधिकारी ही नहीं रहता।

अब राजा प्रसनेजित तो क्षत्रिय भी थे, राजा भी थे, और सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात तो यह, कि वे भगवान पार्श्वनाथ के अनुयायी, धार्मिक स्वभाव के श्रेष्ठ मानव थे।

किन्हीं मोहजन्य क्षणों में वे तिलकवती से विवाह कर बैठे थे और उसी मोह की तीव्रता में तिलकवती के पालक-पिता यमदण्ड भिल्लराज को यह वचन भी दे बैठे थे कि यदि तिलकवती की कुक्षि से पुत्र-जन्म हुआ, तो वह पुत्र, वह राजकुमार ही उनका उत्तराधिकारी होगा।

किन्तु मोह और लालसा के दिन बीत गए।

और राजा प्रसेनजित चिन्ता की चिता में जलने लगे।

यह चिन्ता, कि युवराज तो बिम्बसार श्रेणिक है। युवराज होकर भी यदि वह अयोग्य होता, तो भी संभवतः कोई मार्ग निकल आता।

किन्तु श्रेणिक के गुण और उसकी योग्यता तो जगजाहिर हो चुकी थी। मगध-साम्राज्य की समस्त प्रजा अपने सौभाग्य को सराहती थी कि उसे राजा प्रसेनजित के बाद श्रेणिक जैसा नरश्रेष्ठ महाराज प्राप्त होगा।

एक प्रकाशित दीप के पश्चात् दूसरा परमोज्वल दीपक समस्त भरतखंड को आलोकित करेगा।

इस विवाह में मगध की प्रजा जी रही थी।

किन्तु अब राजा प्रसेनजित का जीवन चिन्ताओं की काली घटाओं से घिरने लगा था, और एक वर्ष बाद उसे जब यह सूचना मिली कि रानी तिलकवती ने पुत्र-रत्न को जन्म दिया है, तब तो उसकी चिन्ता का पार ही न रहा....

अब राजा क्या करे?

अन्याय?

राजा प्रसेनजित अन्याय नहीं कर सकता था।

वचनभंग?

वचनभंग तो सामान्य व्यक्ति भी नहीं करता, तब राजा प्रसेनजित जैसा आदर्श पुरुष वचनभंग भी कैसे करे?

तब वह करे क्या?

इसी उलझन में, ऊहापोह में, चिन्ता में पड़कर राजा उदास रहने लगा।

प्रसेनजित के चतुर महामन्त्री से राजा की यह उदासी और चिन्ता कैसे छिप सकती थी? उड़ती चिड़िया की गति को मापने-भाँपने और पहचानने वाले महामंत्री ने राजा की यह स्थिति देखी तो एक दिन राजा से कहा-

"महाराज ! बात क्या है?"

यह एक, छोटा-सा प्रश्न ही पर्याप्त था। क्योंकि महामंत्री न केवल राजमंत्री था, वह प्रसेनजित का सखा भी था, मित्र भी था।

राजा प्रसेनजित अपने महामंत्री से, और एक मित्र अपने मित्र से, अपने हृदय की बात छिपा नहीं सकता था।

छिपाना चाहता, तो भी यह बात, यह प्रश्न, यह समस्या ऐसी थी कि जो छिप सकती ही नहीं थी। आज नहीं तो कल, कोई न कोई समाधान तो खोजना ही पड़ता।

अतः महामंत्री के प्रश्न के उत्तर में एक दीर्घ निःश्वास छोड़ते हुए, चिन्ताग्रस्त स्वर में राजा प्रसेनजित ने कहा-

"आज तुम्हें मंत्रिवर नहीं कहूँगा-मित्र कहूँगा। मित्र ! मेरे सामने तो इस जीवन की सबसे बड़ी, सबसे कठिन समस्या आ खड़ी हुई है·····।"

"समस्या? आप क्या कह रहे हैं महाराज !····· ।"

"महाराज नहीं, मित्र कहो इस समय मुझे।"

"मर्यादा है, प्रभु ! मित्रता अपने स्थान पर है, और वह तो है ही, किन्तु मर्यादा भी अपने स्थान पर है·····।"

"नहीं, नहीं, अभी कोई मर्यादा नहीं। इस समय तुम मुझे न केवल मगध-साम्राज्य के महामंत्री के रूप में, बल्कि एक मित्र के रूप में ही सलाह दो और मार्ग-शोधन करो।"

"किन्तु समस्या क्या है महाराज !'''' चलिए, एक बार आपके आग्रह से मित्र ही कहे देता हूँ। कहिए, मित्र ! क्या समस्या है जिसने प्रतापी मगधेश्वर को भी इस प्रकार चिन्तित कर दिया है? पूरे साम्राज्य में सुख है, शान्ति है। मेरी चौकन्नी दृष्टि आसेतु हिमालय घूम रही है। मुझे तो कहीं कोई समस्या दिखाई देती नहीं। आप हैं, और आपके होते आपकी प्रजा चैन की बंसी बजा रही है, सुख की नींद सोती है। और इससे भी बढ़कर यह कि प्रजा की दृष्टि में जब भविष्य की कल्पना आती है, तो युवराज श्रेणिक के रूप में उस कल्पना में सतरंगी इन्द्रधनुष खिल उठते हैं''''।"

"यही, यही, यही तो समस्या है मेरे मित्र ! मगध के महामंत्री ! यही तो समस्या है''''।"

इतना कहकर राजा प्रसेनजित एकाएक क्षणभर के लिए चुप रह गए।

अमात्यप्रवर ने कहा–

"मैं कुछ समझा नहीं, महाराज ! इसमें किसी समस्या के लिए अवकाश कहाँ से आ गया?"

"मेरी भूल से आ गया, मंत्रिवर ! मेरे मोह से आ गया। इस अवस्था में भी मेरी भोग-लालसा से आ गया उस समस्या के लिए अवकाश। और अब वह समस्या मेरे लिए प्राणलेवा सिद्ध हो रही है।"

"किन्तु बात क्या है, महाराज ! कुछ बताइये तो सही।"

"किस मुँह से, और क्या बताऊँ? युवराज श्रेणिक मुझे प्राणों से भी अधिक प्रिय है। समस्त मागधी प्रजा की आँखों का तारा है। उसके साथ मैं, मगधेश्वर, उसका पिता–अन्याय करूँ तो कैसे? और न करूँ तो फिर कहाँ जाकर डूब मरूँ''''।"

"क्या कह रहे हैं, महाराज ! मुझे कुछ समझ में नहीं आ रहा। स्पष्ट कहिए न !"

अन्ततः राजा प्रसेनजित ने भिल्लराज यमदण्ड को दिए गए अपने वचन की बात महामंत्री को स्पष्ट रूप से बता दी और कहा–

"अब तुम ही कहो, मंत्रिवर ! मैं क्या करूँ? अपने वचन का पालन कैसे करूँ? श्रेणिक के साथ अन्याय कैसे करूँ? अपना उत्तराधिकारी किसे घोषित करूँ?"

इस वस्तुस्थिति को जानकर महामंत्री भी कुछ समय के लिए तो किंकर्त्तव्यविमूढ़ता की-सी स्थिति में रह गया।

किन्तु वह महान् मगध-साम्राज्य का विचक्षण महामंत्री था। उसे मार्ग तो खोजना ही था। उसे कुछ स्मरण में आया। उसने कहा–

"महाराज ! अभी आप चिन्ता का सर्वथा परित्याग कर दें। मैंने एक बार संयोगवशात् एक नैमित्तिक से प्रश्न किया था कि महाराज के पश्चात् इस साम्राज्य का उत्तराधिकारी, स्वामी, कौन होगा ? तब उसने मुझे बताया था कि ये तीन कसौटियाँ हैं, परीक्षाएँ हैं। इन तीनों कसौटियों पर जो खरा उतरेगा, अर्थात् इन तीनों परीक्षाओं में जो उत्तीर्ण होगा, वही भावी मगधेश्वर होगा। अर्थात् आपके रहते भी वही वास्तविक राजा होगा।"

"ऐसा है ? तो कौन-कौन-सी हैं वे परीक्षाएँ ?"

महामंत्री ने राजा प्रसेनजित को उन परीक्षाओं के विषय में विगतपूर्वक बताया और कहा–

"महाराज ! चिन्ता छोड़ें। पहले सभी राजकुमारों की तीनों परीक्षाएँ ले ली जावें। इसके बाद आगे जैसा भी समयोचित होगा, किया जाएगा, देखा जाएगा।"

उस समय तो राजा प्रसेनजित कुछ शान्त हो गए और सभी राजकुमारों की परीक्षा लेने का निर्णय हो गया।

× × ×

किसी भी राजा में जो गुण होने चाहिए, उनमें से एक प्रमुख गुण यह भी है कि वह यह देखता रहे कि उसके राज्य में कोई भी मनुष्य यहाँ तक कि एक भी प्राणी कभी भूखा न सोए।

मगध के पाँच सौ राजकुमारों की जो प्रथम परीक्षा ली गई, उसमें श्रेणिक, अकेला वही राजकुमार किस प्रकार उत्तीर्ण हुआ, तथा एक राजा के लिए अनिवार्य गुण की एक झलक उसके स्वभाव और विचार-बुद्धि में किस प्रकार परिलक्षित हुई यह देखिए–

राजकुमारों के भोजन के लिए पाँच सौ सुवर्ण-थाल खीर इत्यादि पकवानों के साथ विधिवत् परोसकर लगा दिए गए और राजकुमारों को भोजन करने के लिए कहा गया।

सभी राजकुमार अपने-अपने स्थान पर बैठ गए।

किन्तु वे भोजन प्रारम्भ करें, उससे पूर्व, उसी समय, बहुत वक्त से भूखा रखा गया एक महाभयंकर श्वान उस स्थल पर छोड़ दिया गया।

वह भूखा श्वान, किसी भूखे, खूँखार भेड़िए अथवा भूखे शेर की भाँति भोजन की गंध पाकर और उसे देखकर परोसे हुए थालों की ओर भयंकरता से झपट पड़ा.....

उस समय वह भूखा श्वान, जिसकी आकृति, स्वभाव और शरीर-परिमाण भी किसी शेर जैसी ही थी, महाभयंकर दिखाई दे रहा था। निश्चय था कि यदि कोई भी व्यक्ति उसके भोजन करने में तनिक-सी भी बाधा डालता तो वह श्वान उस व्यक्ति के चिथड़े उड़ा देता, उसकी बोटी-बोटी नोंच खाता।

उस श्वान को तीव्र गति से और विकराल रूप से अपनी ओर झपटता देखकर सभी राजकुमार भयभीत होकर अपने-अपने थाल, अपना-अपना स्थान छोड़कर तुरन्त भाग खड़े हुए.....

नहीं हिला अपने स्थान से, तो वह था मात्र अकेला श्रेणिक।

निर्भय प्रेमभाव से वह अपने आसन पर बैठा रहा और झपटकर आए हुए उस श्वान को वह आसपास के थालों में से बड़े प्रेम और शान्तिपूर्वक खीर के कटोरे देता रहा।

श्वान ने भरपेट खीर खाई।

श्रेणिक भी भोजन करता रहा।

दोनों तृप्त हो गए।

श्रेणिक इस प्रथम परीक्षा में, अकेला ही बड़ी बुद्धिमत्ता और प्राणिमात्र के प्रति प्रेम का प्रदर्शन करता हुआ–उत्तीर्ण हुआ।

भूखे श्वान के प्रति उसने जो प्रेम प्रदर्शित किया था, उससे वह विकराल और खूँखार श्वान भी इतना प्रभावित हुआ कि भोजन करके जब श्रेणिक उठकर चला, तब वह श्वान भी उसके प्रति स्नेह और भक्ति प्रदर्शित करता हुआ, अपनी पूँछ हिलाता हुआ श्रेणिक के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हुआ, उसके पीछे-पीछे चलने लगा।

उस श्वान ने भी श्रेणिक के स्वामित्व और श्रेष्ठत्व को सहज रूप से स्वीकार कर लिया था।

× × ×

नैमित्तिक के कथनानुसार राजकुमारों की तीन परीक्षाएँ होनी थीं। प्रथम परीक्षा में युवराज श्रेणिक ससम्मान उत्तीर्ण हुआ था।

अब दूसरी परीक्षा की बारी थी।

राजा का एक गुण यह भी होना चाहिए कि वह वस्तुओं और परिस्थितियों में प्रगट रूप से विरोधाभास प्रतीत होने पर भी उनके भीतरी सामंजस्य को अपनी तीक्ष्ण दृष्टि तथा तीव्र बुद्धि से पहचान सके।

तथा, ऊपर से, अथवा बाहर से निस्सार या नगण्य-सी दीखने वाली बातों में से भी वह सारतत्त्व को ग्रहण कर सके।

यह दूसरी परीक्षा स्पष्ट रूप से इस तथ्य को स्थापित करेगी कि श्रेणिक कितना विचारवान था।

राजा प्रसेनजित ने सभी राजकुमारों को आदेश प्रदान किया कि वे प्रातःकाल ब्रह्ममुहूर्त्त में ही उसके पास उपस्थित हों।

कड़ाके की सर्दी का वह काल था। कोमल और गर्भ सुख-शय्याओं पर सुख की नींद देर सूर्योदय के पश्चात् तक सोते पड़े रहने वाले राजकुमारों को यह आदेश बहुत अप्रिय लगा।

किन्तु वे करते क्या? उन्हें विवश होकर राजा और अपने पिता का आदेश स्वीकार करना ही पड़ा। जैसे-तैसे सर्दी से काँपते, शीत से ठिठुरते हुए वे नियत समय पर मन ही मन कुढ़ते हुए राजा के समक्ष उपस्थित हुए।

एकमात्र अपवाद था–श्रेणिक। उसके मन में कोई खेद नहीं था। बल्कि उत्साह और जिज्ञासा थी कि पिताजी उनसे क्या काम कराना चाहते हैं।

जब सभी राजकुमार उपस्थित हो गए, तब राजा ने उन सभी को एक-एक कोरा मिट्टी का घड़ा दिलवाया और आदेश दिया–

"जाओ, बेटे राजकुमारो, इन घड़ों को ओस की बूँदों से पूरा भर लाओ।"

विचित्र था न आदेश?

कहते हैं–बूँद-बूँद करके घड़ा भर जाता है। यह ठीक भी है। किन्तु घास-फूस-पत्तों पर अटकी हुई ओस की नन्हीं-नन्हीं बूँदों से घड़ा भर लाना कोई सहज काम नहीं।

लेकिन असंभव भी नहीं। क्योंकि ऐसा हो सका, और इसे अन्य कोई राजकुमार नहीं, केवल श्रेणिक ही संभव कर पाया।

वह इस प्रकार–

चार सौ निन्यानवे राजकुमार जलते-भुनते, ठिठुरते हुए, और संभवतः मन ही मन अपने पूज्य पिताश्री को गालियाँ भी देते हुए वहाँ से चले हों तो आश्चर्य नहीं, हमें यह ज्ञात भी नहीं–किन्तु वे चले, और चलकर विशाल राज-उद्यान में अथवा आसपास के वन में ओस की बूँदों से अपना-अपना घड़ा भरने की चिन्ता और प्रयास करने लगे।

उन्होंने अपने-अपने घड़े पेड़ों, लताओं के नीचे रखे और डालियाँ हिला-हिलाकर ओस की बूँदें घड़ों में भरने लगे।

अब आप ही विचार करें कि क्या इस युक्ति से वे घड़े भर सकते थे?

न भर सकते थे, न भरे।

घड़े भरना तो दूर, उनमें डूब मरने के लिए चुल्लू भर पानी भी एकत्र नहीं हो सका। जो भी थोड़ी-बहुत बूँदें घड़ों में टपकीं, उन्हें कोरी मिट्टी के नए घड़ों ने सोख लिया।

उन सभी राजकुमारों के हाथ केवल निराशा ही आई।

किन्तु श्रेणिक तो श्रेणिक था। विचारवान और चतुर। उसने विचार किया, और सर्वप्रथम उसने नदी के जल में अपने घड़े को अच्छी तरह से डुबोकर भिगाया। इस विधि से कोरी मिट्टी की जल को सोख लेने की क्षमता समाप्त हो गई।

अब उसने उद्यान में आकर दूर-दूर तक फैली हरी दूब पर जो ओस-बिन्दु छाए हुए थे, उन्हें एक वस्त्र में समेटा। इस विधि से पूरा स्वच्छ वस्त्र ओस-बिन्दुओं से भर जाता था। श्रेणिक ने बार-बार इसी प्रकार उस वस्त्र को ओस-बिन्दुओं से भरा और उसे अपने घड़े में निचोड़-निचोड़कर धीरे-धीरे पूरा घड़ा ओस से भर लिया।

अन्ततः अन्य सभी राजकुमार तो अपने-अपने खाली घट लिए, किन्तु राजकुमार श्रेणिक अपना पूरा भरा हुआ घट लिए राजा के समक्ष उपस्थित हुए। हमारे कथानायक श्रेणिक के अतिरिक्त अन्य सभी राजकुमारों के मुँह लटके हुए थे। निराशा से मलिन हो रहे थे।

श्रेणिक का भरा हुआ घट देखकर राजा प्रसेनजित और महामंत्री के अतिरिक्त अन्य किसी राजकुमार को यह विश्वास ही नहीं हुआ कि यह चमत्कार भी संभव हो सकता है। दबी आवाज में ही सही, किन्तु वे सभी यह मानने और फुसफुसाने लगे कि ओस की बूँदों से घट भर ही नहीं सकता। अवश्य ही श्रेणिक

धोखा कर रहा है। वह इस घट को नदी के अथवा राजोद्यान के किसी जलयन्त्र से भरकर ले आया है।

किन्तु राजा प्रसेनजित ने श्रेणिक से प्रश्न किया–

"पुत्र श्रेणिक ! ओस-बिन्दुओं से पूरा घट भर लाना सरल कार्य तो नहीं। कोई भी अन्य राजकुमार ऐसा नहीं कर सका। तब तुमने इस घट को कैसे भर लिया?"

अपने पिताश्री को हाथ जोड़कर प्रणाम करते हुए श्रेणिक ने विनम्रतापूर्वक यह बता दिया कि उसने अपनी विचार-शक्ति का उपयोग करके किस प्रकार से उस घट को ओस-बिन्दुओं से भर लिया था।

महामंत्री 'वाह-वाह' कर उठे।

और शेष राजकुमार–आह !

वे सोच रहे थे–हमें यह बुद्धि क्यों नहीं आई? ईर्ष्या से जल भी रहे थे वे सब।

यही तो अन्तर है मनुष्य और मनुष्य में। बुद्धि तो सभी को मिली है। किन्तु उसका समयोचित उपयोग करने में ही मानव चूक जाता है। और जो भी मानव चूकता नहीं, अपनी बुद्धि का उपयोग श्रेष्ठ कार्यों के लिए करता है, वही नर-श्रेष्ठ कहलाता है।

यह हुई दूसरी परीक्षा।

इस परीक्षा में भी श्रेणिक ने स्वयं को अन्य सभी राजकुमारों को असंदिग्ध रूप से श्रेष्ठ प्रमाणित किया।

अब रही तीसरी और अन्तिम परीक्षा।

× × ×

संयोगवशात् यह तीसरी परीक्षा भी शीघ्र ही हो गई।

परीक्षा यह थी कि नैमित्तिक के भविष्य कथनानुसार किसी दिन अकस्मात् राजभवन में आग लग जाएगी। वह अग्नि भयावह होगी और सभी व्यक्ति अपने-अपने प्राण बचाने हेतु भागेंगे। प्राण-रक्षा के अतिरिक्त अन्य किसी बात की सुधि किसी को नहीं रहेगी।

उस विकट स्थिति में भी कोई एक विचारवान तथा साहसी वीर राजकुमार होगा जो राजचिह्न–छत्र, चँवर तथा भंभा लेकर ही सुलगते हुए राजभवन से बाहर निकलेगा।

और जिस विवेकवान तथा वीर राजकुमार द्वारा यह कार्य किया जाएगा, वही मगध का भावी शासक होगा।

नैमित्तिक की बात सच निकली। एक दिन राजभवन में अचानक आग लग ही गई और सभी लोग अपने-अपने प्राण बचाने के लिए बाहर की ओर लपके। सेवक-सेविकाएँ, सैनिक और सरदार, सभी राजकुमार–बस बिना कुछ आव या ताव देखे तुरन्त बाहर की ओर भाग छूटे।

किन्तु अकेला श्रेणिक ही था जोकि घबराया नहीं। बाहर निकलने से पूर्व वह अपने साथ राजचिह्न–छत्र, चँवर तथा भंभा, लेता आया।

महामंत्री तथा राजा प्रसेनजित ने यह देखा, और उनके मन में यह निश्चित हो गया कि कुछ भी किया जाय अथवा न किया जाय, मगध का भावी, सुयोग्य शासक तो राजकुमार श्रेणिक को ही होना है।

किन्तु राजा प्रसेनजित को मन ही मन बड़ी चिन्ता और विकलता भी थी। वे युवराज श्रेणिक को बहुत प्यार करते थे। चाहते थे कि उनके पश्चात् विशाल मगध-साम्राज्य के सुशासन की बागडोर श्रेणिक के सुयोग्य हाथों में ही रहे।

लेकिन रानी तिलकवती के पिता यमदण्ड को दिए गए उनके वचन का क्या हो?

वचन-पालन भी आवश्यक था।

श्रेणिक के साथ अन्याय न हो, यह भी उतना ही जरूरी था।

बड़ी दुविधा की स्थिति में पड़ गए थे मगध-सम्राट्।

माना कि अभी तिलकवती का पुत्र तो शिशुमात्र ही था। किन्तु एक दिन तो ऐसा आएगा ही, जब वे वृद्ध और अशक्त हो जायेंगे, तथा तब तक तिलकवती का पुत्र–राजकुमार भी बड़ा हो जाएगा।

तब क्या होगा? क्या किया जाएगा?

कोई मार्ग सूझ नहीं रहा था। फिलहाल तो वे यही सोचकर बैठे थे कि कुछ भी हो, एक बार तो अपने वचन-पालन हेतु उन्हें तिलकवती के पुत्र को राज्य सौंपना ही होगा। फिर आगे जो हो, सो हो। श्रेणिक को राजा बनना है, तो वह भी बनेगा ही।

जो अटल है, वह टलेगा भी कैसे?

● ●

कुछ लोग अपने लिए नहीं, दूसरों के लिए जीते हैं।

ऐसे जन्मजात विशिष्ट मानवों का जीवन भव्य होता है। कोई भी परिस्थिति उनके जीवन की भव्यता को धूमिल नहीं कर सकती।

जिस प्रकार सिंह चाहे कहीं भी रहे, सिंह ही रहता है, शृगाल नहीं बन सकता, उसी प्रकार जन्मजात राजा सदा और सर्वत्र अपने व्यक्तित्व के राजसी गुणों से ही युक्त रहता है।

श्रेणिक सदैव जाग्रत रहता था। वह परम उदार तो था ही, उसकी तीव्र, सतेज बुद्धि उसे परिस्थितियों की वास्तविकता का भान और ज्ञान कराने में क्षणमात्र का भी विलम्ब नहीं होने देती थी।

इसने देखा–सभी राजकुमार उससे जलते हैं। उनकी यह जलन साम्राज्य में अनिष्ट को आमंत्रित कर सकती थी, किसी भी क्षण।

और कौन जाने कि उसे किसी न किसी सूत्र से यह भी ज्ञात हो गया हो कि महाराज प्रसेनजित ने यमदण्ड को यह वचन दिया है कि तिलकवती का पुत्र ही उनके राज्य का उत्तराधिकारी बनाया जायेगा।

इन परिस्थितियों में उसने विचार किया–पिताजी मेरे कारण भीतर ही भीतर चिन्तित बने रहते हैं। मेरे भाई मुझसे जलते हैं। ईर्ष्या की अग्नि उन्हें पीड़ित करती रहती है।

तो ऐसी स्थिति में मुझे यहाँ रहकर करना भी क्या है? मैं क्यों यहाँ रहूँ? मुझे क्या, कहीं भी जाकर, कहीं भी रहकर जीवन-निर्वाह कर लूँगा।

यह विचार आया उस नरश्रेष्ठ, नरसिंह के मस्तिष्क में।

और उसने निश्चय कर लिया।

एक दिन वह महाराज प्रसेनजित के समक्ष उपस्थित हुआ और बोला–

"पिताजी ! आज आपसे एक प्रार्थना करना चाहता हूँ।"

"कैसी प्रार्थना, बेटे ! प्रसन्नतापूर्वक कहो, क्या कहना चाहते हो?"

"पिताजी ! महाराज ! मैं इस राज्य को छोड़कर अन्यत्र कहीं प्रवास पर जाना चाहता हूँ।"

श्रेणिक का यह कथन सुनकर महाराज प्रसेनजित चौंक पड़े। वे सोचने लगे– यह विचार श्रेणिक के मन में एकाएक कैसे आया? क्या इसने वस्तुस्थिति को भाँप लिया है और स्वयमेव ही मार्ग से हट जाना चाहता है? अथवा यूँ ही यह इसके मन की कोई मौज है?

किन्तु श्रेणिक के चेहरे पर जो गांभीर्य था, उससे प्रकट था कि राजा के मन में खटका तो उत्पन्न हो ही गया है।

क्षणभर मौन रहकर वे बोले–

"श्रेणिक ! प्रवास करना तो अच्छी बात है। उससे मनुष्य के अनुभवों में वृद्धि होती है। ज्ञानवर्धन होता है। किन्तु तुम तो वैसे ही बहुत ज्ञानी और बुद्धिशाली हो। प्रवास का श्रम क्यों उठाना चाहते हो?"

"बस, ऐसे ही, पिताजी ! थोड़ी दुनियाँ देखना चाहता हूँ। दुनियाँ के रंग-ढंग देखना और जानना चाहता हूँ।"

श्रेणिक के इस उत्तर में कहीं, कोई सूक्ष्मतम व्यंग का पुट था अथवा नहीं, यह हम नहीं कह सकते, किन्तु प्रसेनजित को आभास हुआ कि इस उत्तर में कहीं न कहीं कोई व्यंग, अथवा कम से कम कुछ पीड़ा अवश्य है।

मन ही मन एक आह-सी भरकर उन्होंने पूछा–

"श्रेणिक ! कहाँ जाओगे?"

"यह तो निश्चित नहीं किया, पिताजी !"

"लौटोगे कब?"

"यह भी ज्ञात नहीं।"

ये उत्तर सुनकर महाराज प्रसेनजित भीतर ही भीतर बड़े दुःखी हुए। उन्हें यह स्पष्ट आभास हुआ कि यह सब मेरे ही कारण है। बड़ी कठिनाई से वे कह सके–

"तो श्रेणिक बेटे, जाने से पूर्व मुझे एक वचन देकर जाओ।"

"आज्ञा कीजिये, पिताजी ! आपश्री की आज्ञा तो मुझे सदैव शिरोधार्य है।"

"वचन दो बेटा, कि जब भी मैं तुम्हें बुलाऊँगा, तब तुम तुरन्त चले आओगे।"

"मैं यह वचन देता हूँ, पिताजी !"

"किन्तु श्रेणिक ! हम तुम्हें खोजेंगे कहाँ ?"

"मगध के चर बहुत चतुर हैं, पिताजी ! वे चाहेंगे तो मुझे खोज ही लेंगे, जहाँ भी मैं उस समय रहूँ।"

"हूँ'''' ठीक है'''' ठीक है बेटा श्रेणिक'''' शायद इस समय यही ठीक है'''' ।" राजा प्रसेनजित के मुख से ये उद्‌गार निकल ही गये।

"तो मुझे आज्ञा है, पिताजी ? मैं प्रवास पर निकल पड़ूँ ?"

"किस हृदय से, कैसे हृदय पर पत्थर रखकर यह स्वीकृति तुम्हें दूँ, बेटा ! किन्तु''''।"

"तव प्रणाम ! पिताश्री ! मैं चलता हूँ।"

और श्रेणिक अपने पिता, महाराज श्रेणिक के सान्निध्य से हट गया।

महाराज प्रसेनजित आँखें मूँदकर शायद अपने आँसुओं को छिपाने का प्रयास कर रहे थे।

× × ×

श्रेणिक ने कुशाग्रपुर छोड़ दिया।

जंगल की राह पर वह अकेला ही निर्भय, निश्चिन्त रूप से आगे बढ़ चला–जिधर भी पाँव ले जायें ! भाग्य में जो होना हो, वह हो जाय। उसका अपना पुरुषार्थ और बुद्धि तो उसके साथ थे ही।

पुरुषार्थ एवं बुद्धि की पूँजी तो बहुत बड़ी पूँजी होती है–शायद सर्वाधिक मूल्यवान।

चलते-चलते उसे मार्ग में एक वणिक श्रेष्ठी मिल गये। वे भी अपना कोई कार्य–व्यापार निवटाकर किसी नगर से अपने ग्राम को लौट रहे थे। उन श्रेष्ठी का नाम था–सुभद्र।

श्रेणिक ने उन्हें देखा और उनका अभिवादन करते हुए कहा–"मामा जी, प्रणाम !"

श्रेष्ठी ने अभिवादन का समुचित उत्तर दिया किन्तु मन में यह भी विचार किया कि मैं तो इस युवक को जानता तक नहीं। इससे मेरा कोई सम्बन्ध भी नहीं, तब इसने मुझे 'मामा' कहकर क्यों पुकारा? उन्हें कुछ समझ में तो नहीं आया, पर वे यह सोचकर चुप रह गये कि किसी न किसी प्रकार से तो बात आरम्भ की ही जाती है। इसने मुझे मामा ही कह दिया तो क्या?

वे दोनों साथ-साथ चलने लगे। कुछ देर तक कोई कुछ नहीं बोला। तब श्रेणिक ने कहा–"मामा जी ! यदि हम जिह्वा-रथ पर बैठकर चलें तो ठीक रहेगा। मार्ग सरलता से कट जायेगा।"

श्रेष्ठी सुभद्र समझे नहीं। यह जिह्वा-रथ क्या होता है? यहाँ जंगल में रथ कहाँ पड़ा है? एक बैलगाड़ी तक तो कहीं दिखाई देती नहीं। वे पूछ ही बैठे–

"भाई, यह जिह्वा-रथ क्या होता है? कहाँ है? मुझे तो तुम्हारी बात का कोई पल्ला पकड़ में आया नहीं।"

"मामा ! जिह्वा-रथ, अर्थात्, जीभ का रथ, अर्थात्–यदि इस प्रकार से मौन रहकर हम साथ-साथ चलते रहेंगे तो रास्ता भी लम्बा प्रतीत होगा और समय भी कठिनाई से बीतेगा। इसीलिए मैंने कहा कि हम जिह्वा-रथ पर बैठकर चलें। कुछ बातचीत करते चलें।"

श्रेष्ठी सुभद्र को यह बात जँच गई। उन्होंने सोचा कि लड़का कह तो ठीक ही रहा है। अस्तु, अब वे इधर-उधर की कुछ बातें करते हुए चलने लगे।

रास्ता कुछ आसानी से कटने लगा।

चलते-चलते एक ग्राम आया। नाम था नन्दीग्राम। श्रेणिक ने सुझाव दिया–"मामा ! काफी देर हो गई हमें चलते-चलते। इस ग्राम में कुछ विश्राम भी कर लिया जाय और थोड़ी-बहुत खाने-पीने की व्यवस्था भी देखी जाय। आपका क्या विचार है?"

"ठीक है। कुछ भूख तो लग भी आई है। चलो, ग्राम में चलते हैं।"

ग्राम में पहुँचकर दोनों यात्री ग्राम-प्रमुख नन्दिनाथ के घर पहुँचे और उससे भोजन की कुछ व्यवस्था कर देने के लिए कहा।

किन्तु उत्तर उन्हें बहुत कड़वा मिला–"आपने बताया कि आप लोग कुशाग्रपुर से आ रहे हैं। अरे, कुशाग्रपुर के निवासियो अथवा वहाँ से आने-जाने वाले राजपुरुषों को तो हम भोजन तो क्या, पानी तक नहीं पिलाते। आप अपना रास्ता नापिये।"

ऐसे कटु उत्तर के बाद कौन स्वाभिमानी व्यक्ति वहाँ ठहर सकता था? कोई नहीं। अतः श्रेणिक तथा सुभद्र श्रेष्ठी वहाँ से आगे चल पड़े।

ग्राम से बाहर, कुछ दूर आ पहुँचने पर श्रेणिक ने श्रेष्ठी से पूछा–"मामा ! यह ग्राम ऊजड़ है या बसा हुआ?"

यह प्रश्न ही विचित्र था। एक हजार के लगभग घरों वाले ग्राम के विषय में यह पूछना कि यह ग्राम ऊजड़ है या बसा हुआ, क्या इस लड़के की बुद्धि के दिवालियेपन को सिद्ध करता है?

किन्तु लड़का, अथवा वह युवक, देखने में तो साफ-साफ किसी उच्च कुल का, बुद्धिमान् युवक दिखाई देता है। फिर उसने ऐसा अटपटा प्रश्न क्यों किया? श्रेष्ठी ने सोचा, किन्तु कोई उत्तर नहीं दिया। मन ही मन श्रेष्ठी कुछ झुँझलाये। श्रेणिक ने उनकी इस खीझ को भाँप लिया और मौन रह गया। उसने निश्चय कर लिया था कि वह किसी भी प्रश्न को दोहराएगा नहीं।

यात्री आगे बढ़े।

चलते-चलते वे लोग फिर से किसी छोटे ग्राम के समीप से निकले। वहाँ उन्होंने देखा कि कोई एक व्यक्ति किसी स्त्री को पीट रहा था। उन्हें दुःख हुआ। समझा-बुझाकर उन्होंने उस व्यक्ति को शान्त किया, झगड़ा निवटाया और आगे बढ़े।

कुछ दूर चलने पर श्रेणिक ने सुभद्र श्रेष्ठी से प्रश्न किया–

"मामा जी ! आपका क्या अनुमान है? वह स्त्री बँधी हुई थी अथवा मुक्त–खुली हुई?"

श्रेष्ठी मन ही मन फिर खीझे। फिर वही बेतुका, मूर्खतापूर्ण प्रश्न? अरे, स्त्री क्या कोई पशु है जो बँधी या खुली होगी? अब ऐसे प्रश्न का भी क्या उत्तर दिया जाये? वे तो मौन ही रहे। बस मन में सोचते रहे कि इतना कुलीन, सभी प्रकार से योग्य और विचारवान दिखाई देता हुआ यह युवक ऐसे-ऐसे अटपटे प्रश्न क्यों करता है?

सुभद्र श्रेष्ठी का नगर, वेणातट, अब समीप ही आता चला जा रहा था। कुछ ही दूरी रह गई थी। किन्तु इससे पूर्व कि वे लोग नगर में पहुँचते, थोड़ी ही दूर पहले उनकी दृष्टि एक किसान पर पड़ी। वह किसान बहुत दुर्बल, दीन-हीन दिखाई पड़ रहा था। चिन्ता की रेखाएँ उसके मुख पर स्पष्ट दीख रही थीं। उसे देखकर श्रेणिक ने फिर सुभद्र श्रेष्ठी से पूछा–

"मामा जी ! यह किसान अपने खेत में होने वाली उपज को पहले ही खा चुका है अथवा अब खायेगा?"

सुभद्र श्रेष्ठी अब तो बहुत चिढ़े, यह सोचकर कि यह युवक बड़ा विचित्र प्रतीत होता है। दिखाई तो बड़ा श्रेष्ठ, तेजस्वी, कुलीन देता है, किन्तु इसकी

बातें, इसके प्रश्न, एक से एक बढ़कर मूर्खतापूर्ण हैं। भला अब जो फसल होगी, उसे यह किसान पहले से ही कैसे खा सकता है? क्या गाय-भैंस के समान यह पत्तों को ही चबा जायेगा? फसल तो जब होगी, तभी खाई जायेगी न?

पर वे चुप रहे।

श्रेणिक भी चुप हो गया। उसका निश्चय था कि एक प्रश्न को दुबारा नहीं पूछेगा।

चुपचाप चलते-चलते वेणातट नगर भी आ ही गया। किन्तु नगर में प्रवेश करने से पूर्व एक नदी को पार करना पड़ता था। नदी की जलधारा कुछ क्षीण हो चुकी थी। अतः काफी दूर तक, किनारों पर रेत फैली हुई थी। जब रेत आई, तब श्रेणिक ने अपने जूते उतारकर हाथ में ले लिये, और जब जलधारा में से होकर चलना था, तब उन्हें पहन लिये।

सुभद्र श्रेष्ठी ने श्रेणिक की यह क्रिया देखी और सोचा–इसका तो दिमाग ही फिर गया लगता है। प्रत्येक कार्य उल्टे ही करता है। करने दो, मेरा क्या?

नदी पार करके सुभद्र श्रेष्ठी ने श्रेणिक से कहा–

"नगर आ गया। तुम कुछ देर यहाँ वृक्ष की छाया में बैठो। मैं घर पहुँचकर, व्यवस्था देखकर तुम्हें शीघ्र ही बुला लूँगा। ठीक है?"

"बिलकुल ठीक है, मामा जी ! एकाएक अपरिचित अतिथि के आ जाने से घर में असुविधा हो सकती है। अतः मैं यहीं बैठता हूँ।"

यह कहकर अपनी छतरी अपने सिर पर तानकर श्रेणिक वृक्ष की छाया में बैठ गया।

यह देखकर सुभद्र श्रेष्ठी को हँसी आने को हुई कि वर्षा का तो नाम नहीं, वृक्ष की सघन छाया है, फिर भी इसने सिर पर छतरी तान ली है। किन्तु जैसे-तैसे उन्होंने अपनी हँसी को रोक लिया। वे भद्रपुरुष थे। व्यर्थ ही किसी के हृदय को दुःखाना नहीं चाहते थे।

श्रेष्ठी अपने घर पहुँचे।

प्यारी बेटी नन्दा ने पूछा–"पिताजी ! आज तो आपको लौटने में कुछ देर हुई। क्या बात है? मार्ग कैसा कटा? यात्रा कैसी रही?"

"अरे बेटी, यात्रा तो सानन्द ही रही। पर एक वज्रमूर्ख युवक मेरे साथ हो लिया था। उसकी मूर्खतापूर्ण बातों से सच कहूँ मन भी लगा रहा और खीझ भी

होती रही। अजीब युवक है। देखने में परम तेजस्वी, कुलीन और समझदार, किन्तु बातें सारी मूर्खों जैसी।"

नन्दा को कुतूहल हुआ। उसने कहा–

"पिताजी ! ऐसी क्या मूर्खतापूर्ण बातें उसने कीं अथवा कहीं, मुझे भी बताइये न !"

श्रेष्ठी सुभद्र अपनी बेटी नन्दश्री को बहुत दुलार करते थे। दुलार में ही उसे नन्दा कहकर सम्बोधित करते थे। वह बड़ी बुद्धिमती भी थी। जितनी बुद्धिमती थी, उतनी ही सुन्दर भी थी। यौवन के द्वार पर दस्तक दे रही थी। उसके आग्रह को वे टाल नहीं सके। उन्होंने आदि से अन्त तक सारी रामकहानी उसे सुना दी और कहा–"अब तू ही बता बेटी ! ऐसी मूर्खतापूर्ण बातें करने वाले युवक को क्या कहा जाये?"

किसी भी कथन के भीतर रहे मर्म को तत्क्षण पकड़ लेने की अद्‌भुत क्षमता थी नन्दा में। उसने अपने पिता की बातें सुनीं, कुछ क्षण विचार किया और फिर बोली–

"पिताजी ! क्षमा करें, आपने उस युवक को समझने में शायद भूल ही की है। जहाँ तक मेरा विचार है, वह युवक बहुत बुद्धिमान् है।"

"वह कैसे?"

"बल्कि मुझे तो वह बृहस्पति का अवतार ही प्रतीत होता है।"

"बेटी ! मैं ठहरा व्यापारी आदमी। तू मुझसे पहेलियाँ न बुझा। बता, तुझे उस युवक की बातों में बुद्धि की गंध तक कैसे आई?"

"वह ऐसे, सुनिये पिताजी–उस युवक ने आपको अपरिचित होते हुए भी 'मामा' कहा। इसका अर्थ यह होना चाहिए कि उसकी माता सती स्त्री है। सती स्त्री के लिए उसकी आयु से बड़ा प्रत्येक व्यक्ति पिता के समान होता है तथा उसकी समान आयु का व्यक्ति भाई के समान। आप उसकी माता की आयु के होंगे। अतः उसने आपको उनका भाई मानकर मामा कहा। ठीक?"

"हाँ, चल ठीक। इतना तो ठीक लेकिन ....।"

"अब आगे सुनिये, पिताजी ! नन्दीग्राम के मुखिया ने आप लोगों को भोजन तो दूर की बात, पानी तक नहीं पिलाया। तो पिताजी, जिस ग्राम में अतिथि को, पथिक को, पानी तक न मिले, वह ग्राम चाहे हजार घरों वाला हो, उसे ऊजड़ न कहेंगे तो क्या कहेंगे? मैं होती तो उसे श्मशान ही कहती।"

"चलिए, अब उस बेचारे भूखे-नंगे-दुर्बल-दीन-दुःखी किसान की बात। तो यह निश्चित है, उसकी दीन दशा को देखते हुए, कि वह किसी सूदखोर सेठ के शिकंजे में फँसा हुआ होगा, और उसकी होने वाली फसल वह सेठ अवश्य ले लेगा, अपने ऋण की वसूली में। फिर वह किसान खायेगा क्या? उसकी होने वाली फसल उसकी कहाँ रही? इसीलिए उस युवक ने पूछा था कि मामा जी, यह किसान अपनी फसल को खा चुका है कि अब खायेगा?"

श्रेष्ठी सुभद्र को नन्दा की बात में सार तो दिखाई दिया। उन्होंने कहा–

"अच्छा बेटी, यह तो ठीक। किन्तु स्त्री बँधी हुई है अथवा मुक्त–उसके इस प्रश्न में कौन-सी तुक हुई? साफ दिखाई दे रहा था कि वह स्त्री मुक्त थी।"

"नहीं पिताजी ! जरा विचार कीजिए। प्रत्येक विवाहिता स्त्री मर्यादा से बँधी हुई होती है। वह मारे-पीटे जाने पर भी भाग नहीं सकती। जबकि कोई भोगिनी स्त्री बँधी हुई नहीं होती। वह पुरुष को ठेंगा दिखाकर भाग सकती है।

"अतः पिताजी ! उस युवक का यह प्रश्न भी अत्यन्त सारगर्भित था। विचारणीय था।

श्रेष्ठी सुभद्र अपनी बुद्धिमती बेटी की बातें सुनकर चमत्कृत होते जा रहे थे। उनका भी कुतूहल बढ़ चला था। उन्होंने कहा–"अच्छा, आगे बोल।"

"फिर आई नदी। बालू में उसने जूते उतार लिए, क्योंकि जूते पहनकर बालू में चलने से रेत जूतों में घुस जाती है और पैरों में चुभती है। आपको चुभी कि नहीं? सच कहना पिताजी !"

"अरे हाँ-हाँ, चुभी। फिर?"

"फिर पानी आने पर उसने जूते पहन लिए, क्योंकि पानी में कंटक-कीड़े आदि कुछ हो सकते हैं। वे कष्ट दे सकते हैं।"

सुभद्र श्रेष्ठी कुछ भौंचक्के से अपनी बुद्धिमती बेटी को देखते रह गये। फिर बोले–

"चल, यहाँ तक भी ठीक। किन्तु अब वह मूर्ख···· किन्तु अब मैं उसे मूर्ख कैसे कहूँ···· लेकिन अब वह छतरी ताने ग्राम से बाहर, नदी किनारे, आम्र-वृक्ष के नीचे बैठा है उसका क्या? वृक्ष की घनी छाँह तले छतरी तानकर बैठने का मतलब?"

"इसका मतलब यह कि वृक्ष पर नाना प्रकार के पक्षी बसते हैं। वे बीट कर सकते हैं····।"

"ओ हो ऽ ऽ ऽ तो यह बात है? अरे बेटी, तूने तो जैसे मेरी आँखें ही खोल दीं। वह तेजस्वी युवक सचमुच विचित्र ही नहीं, बड़ा ही बुद्धिमान् है। उसे आदरपूर्वक अपना अतिथि बनाना चाहिए। तू दासी को भेजकर उसे घर बुला ले। तब तक मैं स्नानादि से निवृत्त हो लूँ।"

यह कहकर श्रेष्ठी उठे।

नन्दा ने भी सोचा–कल प्रातः पिताजी ने मुझे अपना एक स्वप्न सुनाया था– कोई सुयोग्य पुरुषश्रेष्ठ स्वयं ही उनके घर आया है और उसी के साथ मेरा पाणिग्रहण हो गया है····

ओह ! कहीं वह स्वप्न-पुरुष यही युवक तो नहीं?

कदाचित्····

संभव है। पिताजी कहते हैं कि युवक तेजस्वी, उच्च कुलीन दिखाई देता है। बुद्धि का आगार तो वह है ही····

यह विचार करके उसने अपनी दासी लम्बनखा को आवाज दी।

दासी आये, तब तक उसने यह विचार भी मन में कर लिया कि मैं भी इस युवक की परीक्षा तो लूँगी ही। आनन्द रहेगा।

दासी के आने पर नन्दा ने उसे आवश्यक निर्देश प्रदान किये, ऐसे, कि जिनसे उस युवक की बुद्धिमत्ता के अन्य प्रमाण भी प्राप्त हो सकें।

दासी गई।

नन्दा के जीवन में एक महान् परिवर्तन का क्षण समीप आने लगा।

× × ×

दासी लम्बनखा के नाखून लम्बे-लम्बे थे। इसीलिए उसका नाम ही लम्बनखा पड़ गया था।

स्वामिनी नन्दा का आदेश और निर्देश पाकर वह उस स्थान पर पहुँची जहाँ श्रेणिक प्रतीक्षारत बैठा था। उसे कोई चिन्ता नहीं थी। कोई बुलाये कि न बुलाये। बस श्रेष्ठी कह गये थे, अतः वह कुछ समय प्रतीक्षा कर रहा था।

दासी ने आकर उसे प्रणाम किया और कहा–"आपको श्रेष्ठिवर ने अपने घर बुलाया है। आप आइये, मुझे तनिक जल्दी है, मैं चलती हूँ।"

यह कहकर अपने कानों पर हाथ रखकर वह चल ही दी। क्षणभर भी नहीं ठहरी।

श्रेणिक को यह बात कुछ विचित्र लगी। क्षणभर को वह झुँझलाया भी कि यह भी कोई रीति हुई अतिथि को अपने घर आमंत्रित करने की? दासी मुझे लेकर साथ-साथ चल सकती थी। अथवा कम से कम घर का ठीक पता ही बताये जाती।

किन्तु फिर उसने सोचा–शायद मेरी परीक्षा ही ली जा रही है। चलो ठीक है। चलता हूँ। दासी ने जाते-जाते अपने कानों पर हाथ रखे थे। कान ताड़पत्र के द्योतक हैं। अतः निश्चित ही श्रेष्ठी के घर के पास ताड़ के वृक्ष होने चाहिए। यह तो हुई एक बात।

दूसरी बात यह कि कानों में मैल भी होता है। तो श्रेष्ठी के घर के आसपास कीचड़ भी हो सकती है। चलो, इतने संकेत तो मेरे लिए पर्याप्त हैं। चलता हूँ।

श्रेणिक ने जैसा सोचा था, वैसा ही निकला। कीचड़ भी थी, ताड़ का वृक्ष भी था। उसने श्रेष्ठी के घर को पहचान लिया। अब कीचड़ को पार करना था। उससे बचने के लिए बीच-बीच में पत्थर तो रखे गये थे। किन्तु श्रेणिक ने सोचा कि यदि पत्थर पर से पैर फिसल गया, अथवा पत्थर ही कीचड़ में दबक गये तो कीचड़ उछलेगा और तमाम वस्त्र एवं शरीर मैले हो जायेंगे।

अतः वह कीचड़ में से ही चला। पैर अवश्य ही कीचड़ से सन गये, किन्तु वस्त्र एवं अन्य शरीर साफ बच गये।

उसकी इस क्रिया को हवेली के एक झरोखे से दो उत्सुक नयन बड़े ध्यान से देख रहे थे।

वे नयन नन्दा के थे।

श्रेष्ठी के घर जब श्रेणिक पहुँच गया तब दासी लम्बनखा ने एक लोटा पानी लाकर उसे दिया और कहा–"इस पानी से सारा कीचड़ धो लीजिये।"

छोटा-सा एक लोटा।

उतने थोड़े-से पानी से पैर धोने थे। श्रेणिक को विश्वास हो गया कि उसकी बुद्धि की परीक्षा ही ली जा रही है।

किन्तु श्रेणिक हार मानने वाला कहाँ था?

उसने पहले आसपास से एक बाँस की खपच्ची खोजकर उठाई और उससे अपने दोनों पैरों का कीचड़ बहुत अच्छी तरह हटा दिया। उसके बाद उसने एक लोटेभर पानी से ही अपने पैर एकदम स्वच्छ कर लिये।

जो दो आँखें उसे चुपचाप देख रही थीं, उनमें चमक आ गई थी, आती जा रही थी।

इसके बाद दासी लम्बनखा ने श्रेणिक के स्नान की व्यवस्था की। पात्र में पर्याप्त पानी भर दिया। चौकी भी रख दी। फिर वह अपने दसों लम्बे नाखूनों में तेल भरकर लाई और बोली–"यह तेल आप अपने सारे शरीर पर लगा लें।"

श्रेणिक को फिर अचरज हुआ–नाखून चाहे जितने लम्बे हों, पर उनमें आखिर कितना तेल समा सकता था? केवल कुछ बिन्दु।

किन्तु तेल चाहे बिन्दुभर ही हो, श्रेणिक की बुद्धि तो अपार सागर थी।

उसने वह तेल सारे पानी में मिला दिया और उससे स्नान कर लिया। इस प्रकार सारे शरीर पर तेल लग गया।

छिपे-छिपे, चुपचाप देख रही दो आँखें अब तो चमत्कृत हो उठीं।

श्रेणिक के रूप और तेजस्वी देहयष्टि को देखकर नन्दा पहले से ही प्रभावित हो चुकी थी। और अब जब उसने श्रेणिक की बुद्धि का यह चातुर्य एक के बाद एक देखा, तब तो वह उस पर बलिहारी ही हो गई–मन ही मन।

उसकी आत्मा ने पुकार-पुकारकर कहा–"वह स्वप्न-पुरुष, तेरा श्रेष्ठ जीवन-सहचर आ पहुँचा है।"

दूसरे दिन श्रेष्ठी सुभद्र ने कहा–

"चलो श्रेणिक ! दुकान पर चलकर ही बैठना कुछ देर। हमारी दुकान तथा यहाँ के निवासियों को भी देखो।"

"जी, अवश्य ! चलिए। मैं प्रस्तुत हूँ।"

दुकान पर उस दिन श्रेष्ठी के माल की इतनी अधिक बिक्री हुई कि वर्षों में किसी भी एक दिन में नहीं हुई होगी। बहुत-सा ऐसा सामान जिसके कि कोई खरीददार ही नहीं आते थे, वह भी हाथोंहाथ बिक गया। श्रेष्ठी को बहुत लाभ हुआ।

इस चमत्कार का सारा श्रेय श्रेणिक को मिला। सुभद्र के मन में पक्का विचार बन गया कि यह सब भाग्यवान श्रेणिक के पगफेरे का ही प्रताप है।

इसी प्रकार कुछ दिन बीते।

श्रेष्ठी का व्यापार आकाश की ऊँचाइयों को छूने लगा। वे श्रेणिक को अब तो पुत्रवत् ही मानने लगे।

उधर श्रेणिक और नन्दा भी परस्पर अनकहे-प्रीति के बन्धन में बँधते चले जा रहे थे। दोनों बुद्धिमान्, रूपवान, कुलीन, सुसंस्कारवान थे। विधि ने उन्हें एक-दूसरे के लिए ही बनाया था।

एक दिन नन्दा ने श्रेणिक को एक मोती और धागा देते हुए कहा-

"मुझसे यह धागा उस मोती में पिरोया ही नहीं जा रहा। आप पिरो दीजिये न !"

"क्यों नहीं? लाइये, असमर्थ की सहायता करना तो हमारा धर्म है।" -कहकर श्रेणिक ने मोती और धागा ले लिया।

मोती में छिद्र तो था, किन्तु टेढ़ा था। अतः धागा छिद्र में से आरपार जाता नहीं था। श्रेणिक ने अपनी बुद्धि का सहारा लिया। उसने धागे के एक सिरे पर शहद लगाकर उस सिरे को मोती के एक छिद्र में लगाकर उसे चींटियों के बिल के पास रख दिया।

शहद की गंध पाकर चींटियाँ आईं और धागे को खींचकर टेढ़े मोती के आरपार ले गईं।

मोती विंध गया।

नन्दा श्रेणिक के बुद्धि-चातुर्य पर बलिहार हो गई।

"असमर्थ की सहायता करना तो हमारा धर्म है।"-इस श्रेणिक के मुख से निकले वाक्य का भी उसको स्मरण था। इससे वह जान गई थी कि श्रेणिक अवश्य ही किसी उच्च क्षत्रिय कुल का भूषण ही है।

प्रीति की डोर और दृढ़ हो गई।

किन्तु अब तक सभी कुछ अनकहा ही था।

राष्ट्रकवि स्व. मैथिलीशरण जी गुप्त ने अपने 'साकेत' महाकाव्य में लिखा है-

"दोनों ओर प्रेम पलता है,
सखि ! पतंग तो जलता ही है।
दीपक भी जलता है,
दोनों ओर प्रेम पलता है॥"

-यह विशुद्ध, सात्त्विक प्रेम श्रेणिक तथा नन्दा दोनों के सरल-शुद्ध युवा हृदयों में मौन, किन्तु तीव्रता से पल रहा था।

एक दिन श्रेणिक ने सुभद्र श्रेष्ठी से कहा–

"आदरणीय ! अब मैं चलूँगा।"

"चलूँगा ? अर्थात् ? कहाँ जाओगे ? क्यों जाओगे तुम यहाँ से ?"

"मान्यवर ! मैं तो प्रवासी हूँ। अतिथि हूँ। अतिथि और प्रवासी तो आते और जाते ही रहते हैं····।"

"नहीं, बेटा श्रेणिक ! नहीं। तुम अब हमारे अतिथि नहीं हो। घर के ही एक सदस्य हो। मैं तुम्हें कहीं नहीं जाने देने वाला।"

"किन्तु श्रेष्ठिवर····।"

"न कोई किन्तु, और न कोई परन्तु। देखो बेटा, क्या तुम्हें मेरे घर में कोई कष्ट है ?"

"उसका तो कोई प्रश्न ही नहीं।"

"अब स्पष्ट बता ही दूँ–क्या मेरी बेटी नन्दा को तुम एक सुयोग्य कुलीन कुमारी समझते हो ? यदि समझते हो, तो मैं तुम्हारा विवाह उसके साथ करना चाहता हूँ और तुम्हें यहीं रखना चाहता हूँ। बोलो, तुम्हारा क्या उत्तर है ?"

सहज लज्जा की एक हल्की लालिमा श्रेणिक के तेजस्वी मुखमण्डल पर आई और गई। उसने उत्तर दिया–

"आदरणीय ! यह तो मेरा सौभाग्य होगा। नन्दा तो अद्वितीय नारी-रत्न है·····।"

"बस, बस। अब और कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। मैं शीघ्र ही शुभ मुहूर्त्त निकलवा लेता हूँ।"

और फिर एक शुभ मुहूर्त्त में श्रेणिक और नन्दा परस्पर विवाह के पवित्र बन्धन में बँध गये।

दिन कब आते, कब चले जाते, दोनों को कुछ पता ही नहीं चलता।

● ●

सूर्य जब उदित और प्रकाशित होता है, तब किसी को उसका संकेत अथवा प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं होती। वह स्वयंसिद्ध, स्पष्ट दिखाई देता है।

इसी प्रकार जब श्रेणिक ने श्रेष्ठी सुभद्र के प्रस्ताव करने पर यह कहना चाहा था कि उन्होंने यह तो जाना ही नहीं कि मैं किस कुल का, कैसा व्यक्ति हूँ, तो श्रेष्ठी ने कुछ ऐसा ही उत्तर दिया था, जैसा हमने अभी कहा–सूर्य को किसी साक्ष्य की अपेक्षा होती ही नहीं।

और विवाह हो गया था। श्रेणिक और नन्दा बहुत सुखी जीवन व्यतीत कर रहे थे। वे सूर्य और चन्द्रमा की भाँति एक जुगल-जोड़ी के रूप में समस्त वेणातट में प्रिय और प्रसिद्ध हो गये थे।

न केवल श्रेष्ठी सुभद्र की ऋद्धि-सिद्धि बढ़ रही थी, बल्कि सम्पूर्ण वेणातट नगर समृद्ध हो रहा था। सभी प्रसन्न थे।

बातचीत के दौरान नन्दा ने एक-दो बार श्रेणिक से पूछा तो था–

"प्रिय ! अब तो बता दीजिये कि आप कहाँ के रहने वाले हैं? किस भाग्यवान कुल को सुशोभित करते हैं?"

किन्तु श्रेणिक ने हर बार इस प्रश्न को विनोद में टाल दिया था–"समय आने पर तुम्हें सब स्वयं ही ज्ञात हो जावेगा, प्रिये ! अभी तो हमारे आनन्द करने के दिन हैं।"

ऐसा कहकर श्रेणिक प्रेमपूर्वक नन्दा के मस्तक का चुम्बन कर लेता था और नन्दा अपने कुतूहल, अपनी जिज्ञासा को भूलकर विभोर हो जाया करती थी।

बस, इसी प्रकार दिन बीत रहे थे।

अब आइये, तनिक महाराज प्रसेनजित की क्या स्थिति थी उस समय, यह भी जान लें।

राजधानी कुशाग्रपुर में जब एक के बाद एक घरों में आग लगने की घटनाएँ होने लगी थीं और उससे धन-जन की हानि होने लगी थी, तब महाराज प्रसेनजित ने आदेश निकाला था कि असावधानी अक्षम्य है। भविष्य में यदि

किसी भी व्यक्ति के घर में आग लगी तो उसे नगर से बाहर जाकर रहना पड़ेगा।

इस आदेश का प्रभाव यह हुआ था कि नागरिक बड़ी सावधानी से अपने सब कार्य करने लगे थे। अच्छा ही हुआ था।

किन्तु संयोग ही कहना चाहिए कि कुछ समय पश्चात् राजभवन में ही आग लग गई थी, जिसमें से, हम अपने पाठकों को बता ही चुके हैं, कि श्रेणिक छत्र, चँवर तथा भंभा लेकर ही राजभवन से बाहर आया था।

श्रेणिक तो चला गया था।

किन्तु नियम-पालन का आदर्श उपस्थित करने के लिए स्वयं महाराज प्रसेनजित ने राजधानी का त्याग कर दिया था और कुशाग्रपुर से आधा योजन दूर वैभारगिरि, रत्नागिरि, विपुलाचल आदि पाँच पर्वतों के बीच अपना नया गृह बनाया था।

वह गृह राजा का था, अतः उस स्थान का नाम ही राजगृह पड़ गया । देखते ही देखते राजगृह एक विशाल, अत्यन्त सुन्दर और वैभवशाली नगरी में स्वतः ही परिवर्तित होती चली गई। अब राजा प्रसेनजित की राजधानी राजगृह ही थी।

काफी समय बीत चुका था इन सब बातों को। महाराज प्रसेनजित ने अपने यमदण्ड को दिये गये वचन का पालन करने के लिए तिलकवती के पुत्र को राज्य-भार सौंप दिया था। वे वानप्रस्थ जीवनयापन करते हुए धर्माराधन में दत्तचित्त रहते थे। वृद्ध हो चले थे। अशक्त, अस्वस्थ रहने लगे थे।

इधर तिलकवती का पुत्र राज्याधिकार पाकर मतवाला हो उठा था। वह प्रजा पर अनेक प्रकार के अत्याचार करने लगा था। प्रजा त्राहि-त्राहि पुकारने लगी थी।

प्रसेनजित इस स्थिति से अत्यन्त दुःखी थे।

उन्हें यह भी भास होने लगा था कि अब उनकी प्रयाण-वेला समीप आ गई है।

अतः वे चाहते थे कि वचन-पालन तो हो गया, किन्तु अपनी प्यारी मगध की प्रजा की रक्षा के लिए अब उनका प्यारा और सर्वप्रिय पुत्र श्रेणिक लौट आये तथा राज्य धुरा को उनके जीते जी सम्हाल ले, तो वे शान्ति से महाप्रयाण के पथ पर जा सकें।

अन्यथा शूल गड़ा रह जायेगा।

अतः एक दिन उन्होंने महामंत्री से कहा–

"मंत्रिवर ! आप देख ही रहे हैं, मेरी तो चला-चली की बेला आ पहुँची। अब मेरी एक ही इच्छा है कि मैं श्रेणिक को मगधेश्वर के रूप में देखूँ और उसकी छत्रछाया के नीचे प्रसन्न और सुखी प्रजा सुखपूर्वक जीवनयापन करे।"

"कहीं से भी, किसी भी प्रकार, शीघ्रातिशीघ्र मेरे प्रिय श्रेणिक को खोजकर बुलवा दीजिये। मेरे प्राण उसी में अटके हैं....।"

कहते-कहते महाराज प्रसेनजित का कण्ठ अवरुद्ध हो गया। वे निढाल से, शान्त, मौन, अपनी शय्या पर पड़ गये।

"महाराज ! आप चिन्तित न हों। कुमार श्रेणिक शीघ्र ही आयेंगे। मैंने गुप्तचरों तथा सन्देशवाहकों को चारों दिशाओं में दौड़ा दिया है। अब किसी भी क्षण युवराज कुमार को यहाँ पहुँच ही जाना चाहिए। आप आश्वस्त हों, महाराज!"–मंत्री ने कहा, और उसके इस कथन से महाराज प्रसेनजित को बहुत आश्वासन मिला।

वे धैर्यपूर्वक श्रेणिक की प्रतीक्षा करने लगे।

× × ×

मगध का साम्राज्य विशाल और सशक्त था, क्योंकि मगधेश नीतिवान, न्यायी तथा प्रजावत्सल नरेश थे।

जिस राष्ट्र की प्रजा सन्तुष्ट और शक्तिशाली होती है, वही राष्ट्र समृद्ध एवं सशक्त बन सकता है।

सशक्त मगध-साम्राज्य के चर भी चतुर और चपल थे। उन्होंने शीघ्र ही श्रेणिक का पता लगा लिया और उनके नायक ने श्रेणिक से विनयपूर्ण शब्दों में निवेदन किया–

"युवराज ! आपके पूज्य पिताश्री तथा हम सभी के स्वामी महाराज प्रसेनजित मृत्यु-शय्या पर हैं। घड़ी–पल का भी कुछ भरोसा नहीं। उनके प्राण केवल आपमें ही अटके हैं। आप अविलम्ब पधारें।"

इस सूचना को सुनकर श्रेणिक आकुल-व्याकुल हो गया। वह परम पितृभक्त था। अब उसके लिए एक क्षण भी वेणातट में रुकना अशक्य था। गुप्तचरों को तनिक ठहरने का आदेश देकर वह नन्दा के समीप जाकर बोला–

"प्रिये ! समाचार आये हैं कि मेरे पिताजी मृत्यु-शय्या पर हैं और उन्होंने मुझे बुलाया है। मुझे इसी समय जाना होगा।"

यह सुनकर नन्दा के हृदय को आघात लगा। किस पत्नी को पति-वियोग दुःख नहीं देता? किन्तु उसने कहा–

"तो चलिये, स्वामी ! मैं भी आपके साथ चलती हूँ। इसी घड़ी, इसी पल। मुझे कोई तैयारी नहीं करनी है''''।"

"नन्दा ! प्रियतमे ! मुझे तुम्हें छोड़कर जाने में बहुत दुःख हो रहा है। किन्तु इस समय मुझे अकेले ही जाना होगा। वही उचित है। और इस समय तो तुम यात्रा करने योग्य भी नहीं हो। उसमें भय है। तुम माँ जो बनने वाली हो। अतः धीरज और विवेक से कार्य करना ही उचित होगा। अभी मुझे अकेले ही, अविलम्ब, जाने दो, प्रिये !"

"तो फिर मेरा क्या होगा? हम कब मिलेंगे?"

"मैं उचित अवसर पर, यथाशीघ्र तुम्हें अपने पास बुलवा लूँगा। अथवा किसी कारण यदि ऐसा न हो सके तो जब भी तुम ठीक समझो, मेरे पास स्वयं चली आना।"

नन्दा उदास और दुःखी तो अवश्य हो गई, किन्तु वह विदुषी और संस्कारवान नारी थी। उसने अपने हृदय पर पत्थर रखते हुए कहा–

"पितृभक्ति पुत्र का प्रथम कर्त्तव्य है। अतः मैं आपको रोकूँगी नहीं। किन्तु प्राणनाथ ! आप मुझे भूल तो नहीं जायेंगे''''?"

श्रेणिक ने अपना हाथ प्रेमपूर्वक नन्दा के मुख पर रखकर उसे आगे बोलने से रोक दिया और कहा–

"ऐसी कल्पना भी क्यों करती हो, नन्दा ! तुम्हारे जैसी पवित्र, पुण्यवान पत्नी को भूल सके ऐसा भी कोई मनुष्य हो सकता है क्या?"

"मुझे आप पर पूर्ण विश्वास है, प्रिय ! किन्तु नारी का हृदय आखिर नारी का ही हृदय है।"–नन्दा के हृदय का दुःख उसकी आँखों से आँसू बनकर टप-टप टपकने लगा था।

श्रेणिक ने अपने उपरिवस्त्र से उन मोती जैसे आँसुओं को हल्के-से पोंछते हुए कहा–

"नन्दा ! तू विचारवान तो है ही, वीर भी है। हैं न?"

"मैं क्या जानूँ''''।"

"आज जान ले, नन्दा ! तू वीर नारी है। हिम्मत रखना और लेशमात्र भी चिन्ता न करना। अपने आने वाले नन्हें-मुन्ने को खूब सम्हालकर रखना भला !

यह दायित्व तुझे सौंपे जा रहा हूँ। अच्छा, अब प्रसन्नतापूर्वक मुझे विदा दे। अनुचर प्रतीक्षा कर रहे हैं। पल-पल मूल्यवान है।"

"कैसे कहूँ प्राणनाथ, कि आप जायें, किन्तु जाना तो उचित ही है। लेकिन जाने से पूर्व अपना परिचय और पता तो देते जाइये।" नन्दा ने शान्त स्वर से कहा।

श्रेणिक को फिर विनोद सूझा। उसने एक कागज के टुकड़े पर लिखा–

"पांडर कुट्या वयं गोपाला राजगृहे।"

यह वाक्य लिखकर उसने कागज मोड़कर नन्दा को दे दिया और कहा–

"इस पुर्जे में जो आवश्यक है वह मैंने लिख दिया है। इसे सम्हालकर रख ले। आवश्यकता पड़ने पर देख लेना। वैसे आवश्यकता पड़ेगी ही नहीं। मैं स्वयं तुझे शीघ्र बुला ही लूँगा।"

पति के वचनों में अगाध, अटूट श्रद्धा रखने वाली नन्दा ने वह कागज का पुर्जा ले लिया और श्रेणिक के चरण-स्पर्श करते हुए मौन नेत्रों से उसे विदा दी।

उसी समय सुभद्र श्रेष्ठी भी घर आ गये। यह अच्छा ही हुआ। अन्यथा उनसे विदा लेने के लिए श्रेणिक को दुकान तक जाना पड़ता।

उतना समय बच गया।

समय मूल्यवान था।

संक्षेप में श्रेणिक ने सब बातें उन्हें बता दीं और उनसे भी आज्ञा लेकर वह अनुचरों के साथ तेजी से राजगृह की ओर चल पड़ा।

× × ×

मगधेश महाराज प्रसेनजित के प्राण उनकी आँखों में आ टिके थे, और आँखें कक्ष के द्वार पर अटकी हुई थीं।

वे पल-पल अपने प्राणप्रिय पुत्र श्रेणिक की प्रतीक्षा कर रहे थे। वे बार-बार महामंत्री से धीमे, व्याकुल, अशक्त स्वरों में पूछते थे–

"श्रेणिक आया महामंत्री?"

"महाराज ! धैर्य रखें। युवराज पधारते ही होंगे। मैंने मगध के कुशलतम चर पवनपंखी अश्वों के साथ चारों दिशाओं में भेजे हुए हैं। अब किसी भी क्षण युवराज पहुँचने ही वाले होंगे .... लीजिये, लीजिये, महाराज ! मुझे लगता है युवराज आ गये ....।"

तेजी से, द्रुततम गति से दौड़े आते अश्वों की टाप सुनाई दी और प्रासाद के प्रांगण तक आकर थम गई। महामंत्री उस कक्ष के द्वार की ओर दौड़े जिसमें मगधेश्वर अपनी मृत्यु-शय्या पर पड़े थे।

भव्य, सप्तखण्डी प्रासाद की सीढ़ियाँ एक साथ दो-दो, चार-चार दौड़कर पार करते श्रेणिक ऊपर आ रहा था।

महाराज प्रसेनजित के कक्ष में उनकी शय्या के पास आकर श्रेणिक ने अपना मस्तक पिता के चरणों पर टेक दिया।

प्यारे बेटे को देखकर पिता के श्लथ शरीर में सहसा चैतन्य आ गया। उन्होंने अपनी बाहें फैलाकर श्रेणिक को अपनी छाती से चिपटा लिया। कुछ क्षण तक वे हर्ष और विषाद दोनों प्रकार की अनुभूतियों से भरे मौन ही रह पाये। फिर उन्होंने कहा–

"बेटा श्रेणिक ! मेरी आँखों के तारे ! तू आ गया, जिनेश्वर देव की परम कृपा ! अब मैं शान्तिपूर्वक प्रयाण कर सकूँगा····।"

"ऐसा न कहें, पिताजी····।"

"नहीं बेटा, मुझे अब कह लेने दे। मेरे पास समय बहुत थोड़ा है। देख, तेरी अनुपस्थिति में अपने प्यारे मगध की प्यारी प्रजा बहुत दुःख पा रही है। मुझे अपना वचन-पालन करने के लिए तिलकवती के पुत्र को राज्य-भार सौंपना पड़ा था। किन्तु उसने राजा का धर्म नहीं निभाया। प्रजा पर वह नाना प्रकार के अत्याचार करता है। अपनी मनमानी करता है। वह नितान्त अयोग्य है। बेटा श्रेणिक, मगध की समस्त प्रजा तुझे पुकार रही है। तू अपने सद्गुणों के कारण समस्त प्रजा का दुलारा है। अब तू आ गया है तो मैं निश्चिन्त होता हूँ। पुत्र, अब तू अपने मगध को सम्हालना। अपनी प्रजा के हित-अहित और सुख-दुःख का सदैव ध्यान रखना। प्रजा को कभी कोई कष्ट न होने देना····।"

"किन्तु तुझे यह कहने की कोई आवश्यकता ही नहीं। तू तो स्वयं यह सब जानता है और ऐसा ही करेगा। मुझे विश्वास है····।"

एक साथ इतना अधिक बोलने से महाराज प्रसेनजित थक गये। निढाल हो गये। उन्होंने अपना सिर श्रेणिक की गोद में रखकर आँखें बन्द कर लीं।

वे आँखें फिर कभी नहीं खुलीं।

परम शान्तिपूर्वक भगवान पार्श्वनाथ के चरणों में अपना ध्यान केन्द्रित कर, नवकार मंत्र का स्मरण करते हुए महाराज प्रसेनजित ने अपनी अन्तिम श्वास ली।

●●

राजगृह के नागरिकों को जब यह ज्ञात हुआ कि उनके प्रिय युवराज श्रेणिक लौट आए हैं, तो महाराज प्रसेनजित की विदाई के दारुण दुःख को भी वे सह सके, भूल गए और हर्षित भी हो गए।

श्रेणिक के दर्शन पाने के लिए लालायित जन-समूह ने राजप्रासाद को घेर लिया और एक स्वर से वे उसका जय-जयकार करने लगे। अब उन्हें आशा बँध गई थी कि जनता-जनार्दन पर होने वाले अत्याचारों का अन्त आ जाएगा।

उनकी आशा सफल हुई। श्रेणिक ने अपने पिता की आज्ञा और प्रजा की इच्छा का मान करते हुए राज्य-भार वहन करना स्वीकार कर लिया।

मगध के अच्छे दिन लौट आए।

श्रेणिक अपनी प्रजा के हित और उत्थान के लिए दिन-रात एक करने लगा। स्वयं अपना सुख क्या होता है, इसे उसने भुला ही दिया, और दिन-प्रतिदिन वह प्रजा की भलाई के कार्यों में ही जुटा रहने लगा।

अब श्रेणिक मात्र युवराज श्रेणिक नहीं, मगधेश-महाराज श्रेणिक था।

उसका जीवन अब अपने लिए नहीं, अपनी प्रजा के लिए समर्पित हो गया था।

एक राजा को, महाराज को, सम्राट् को शोभा दे, ऐसी पवित्र कर्त्तव्यभावना तथा समर्पित हृदय से 'सम्राट् श्रेणिक' जन-जन के दुःख-निवारण में दत्तचित्त हो गए।

कब सुबह होती थी और कब शाम, यह भी वे भूल गए।

वे यह भी भूल गए कि वेणातट में उनकी प्रिया पत्नी नन्दा उनके वियोग में एक-एक दिन किस प्रकार से काट रही होगी।

राजाओं के जीवन में कभी-कभी ऐसे दिन भी आते हैं।

आदर्श उनके लिए प्रमुख बन जाता है। व्यक्तिगत सुख-सुविधा गौण बन जाती है।

ऐसे ही नरोत्तमों को संसार याद करता है और 'धन्य-धन्य' कहता है।

इतिहास उनकी जयगाथा गाता है।

× × ×

हमारे पाठक यह जानने के लिए अवश्य ही उत्सुक होंगे कि यदि सम्राट् श्रेणिक नन्दा को भूल गए, अथवा भूले नहीं भी, प्रजारंजन के कार्यों में अतिव्यस्त हो गए या फिर नन्दा की बुद्धि की एक परीक्षा लेने की उनके मन में भी आ ही गई–तो फिर नन्दा का हुआ क्या?

आइये, तो फिर वेणातट ही चलें।

नन्दा को अपने पति में अगाध श्रद्धा थी। असीम विश्वास था। किसी भी प्रकार की आशंका के लिए उसके हृदय में स्थान ही नहीं था।

उसका हृदय पति-प्रेम से सराबोर था।

किन्तु कौन-सी ऐसी नारी होगी, जो प्रिय पति के वियोग से दुःखी न हो?

नन्दा भी अन्ततः एक नारी थी। वह सन्नारी थी। विवेकवान थी। श्रेणिक के उज्ज्वल, तेजस्वी चरित्र में उसे अविचल आस्था भी थी। किन्तु नारी होने के नाते वह वियोग की घड़ियों में यदा-कदा उदास भी हो जाती थी।

सोचने लगती थी–उसकी प्रतीक्षा का अन्त कब होगा?

श्रेष्ठी सुभद्र ऐसे क्षणों में उसे आश्वस्त किया करते थे–चिन्ता न कर, बेटी ! श्रेणिक जैसे नर-रत्न तो दुर्लभ हैं। अवश्य ही कोई ऐसी अनिवार्य परिस्थिति होगी जिस कारण से वे आ नहीं सके या तुझे बुला नहीं सके। उचित समय आने पर सब ठीक हो जाएगा। तू प्रसन्न रहा कर। उसका प्रभाव तेरी आने वाली सन्तान पर भी पड़ेगा।

इसी प्रकार समय बीत रहा था।

और फिर यथासमय नन्दा ने एक अत्यन्त सुन्दर पुत्र को जन्म दिया। उस पुत्र-रत्न को पाकर नन्दा को लगा कि जैसे उसका जीवन सार्थक हो गया। धन्य हो गया। श्रेणिक सुभद्र के हर्ष का भी कोई पार न रहा। उन्होंने इस शुभ अवसर पर दीन-दरिद्रों तथा असमर्थ-असहाय लोगों को दान देने की झड़ी-सी लगा दी।

फिर आई नामकरण की घड़ी। सुभद्र श्रेष्ठी ने शिशु का नाम रखा–अभयकुमार।

बहुत सुन्दर नाम था। और इस नाम की सार्थकता भी थी। नन्दा को गर्भवती होते समय दोहद उत्पन्न हुआ था कि वह सभी जीवों को यथाशक्य अभयदान दे।

अभयकुमार नाम सुनकर नन्दा बहुत प्रसन्न हुई। उसने अपने पिता से कहा–

"इस नाम की एक सार्थकता और भी है, पिताजी ! व्यक्ति के लिए यह स्वाभाविक है कि वह स्वयं को 'यथा नाम तथा गुण' सिद्ध करने का प्रयत्न करे। मेरा यह पुत्र सदैव अभय–निर्भय बने, ऐसा शुभ आशीर्वाद भी आप प्रदान करें।"

"अवश्य ऐसा ही होगा बेटी ! तेरी अभिलाषा अवश्य पूर्ण होगी। श्रेणिक जैसे श्रेष्ठ चरित्रवान, बुद्धिमान, तेजस्वी और प्रतापी पिता एवं तेरे जैसी बुद्धिमती, शीलवान माता का पुत्र तो तू देख लेना तुम दोनों से कहीं आगे ही निकलेगा।"

वास्तव में ऐसा हुआ भी। अभयकुमार अपने समय का अद्वितीय पुरुष सिद्ध हुआ।

पर यह तो अभी आगे की बात है।

अभी तो अभय शिशु ही है।

धीरे-धीरे शिशु चन्द्रमा की कलाओं के समान अभिवृद्धि पाने लगा।

क्रमशः जब वह बड़ा हुआ और विद्यालय में अध्ययन हेतु जाने योग्य हुआ तो श्रेष्ठी सुभद्र ने उसकी शिक्षा-दीक्षा की समुचित व्यवस्था कर दी।

अभय ज्ञान-प्राप्ति हेतु विद्यालय जाने लगा।

देखते ही देखते जैसे कोई चमत्कार ही हो रहा हो, वह ज्ञान और बुद्धि में अपने से कहीं अधिक आयुवर्ग तथा श्रेणियों के छात्रों से भी आगे, और आगे निकलता ही चला गया। उसके गुरुजन भी विस्मित ही रह गए कि यह कैसा होनहार, कितना बुद्धिशाली, कैसा चतुर बालक है !

एक दिन जब श्रेष्ठी सुभद्र ने गुरुजन से अभय की प्रगति के विषय में पूछा तो उन्होंने कहा–

"श्रेष्ठिवर ! यह आपका पुत्र तो अद्‌भुत प्रतिभाशाली है। हमें तो लगता है कि स्वयं बृहस्पति ने ही अभय के रूप में जन्म लिया है। हमें तो इसे कुछ सिखाना ही मानो नहीं पड़ता। हम तो मात्र संकेत करते हैं और यह सारतत्त्व तक स्वयं ही पहुँच जाता है। आप अत्यन्त भाग्यवान हैं, श्रेष्ठिवर !"

गुरुजनों के इन वचनों को सुनकर सुभद्र श्रेष्ठी बहुत आनन्दित हुए। गौरव से उनका हृदय भर उठा।

एक-एक कला स्वयं ही अभयकुमार का वरण करती चली गई, उसे कलाओं को सीखने का प्रयत्न ही नहीं करना पड़ा।

और वह बहत्तर कलाओं में निपुण हो गया।

× × ×

छात्र-समुदाय के बीच अपनी बुद्धि, चातुर्य, शौर्य, तेजस्विता तथा विशिष्ट प्रकार के गांभीर्य के कारण अभयकुमार सभी का सर्वमान्य नेता, अग्रणी बन गया था। किसी भी प्रकार की कोई भी गतिविधि हो–शास्त्र-पाठ हो, शस्त्र-संचालन हो अथवा खेलकूद, नाट्य, संगीत, वादन इत्यादि कोई भी सांस्कृतिक क्षेत्र हो, अभयकुमार सबसे आगे था। सब कुछ स्वतः ही उसके नेतृत्व में होता था।

कहीं, कोई, सानी ही नहीं था उसका।

सभी गुरुजन, सभी छात्र अभयकुमार से स्नेह करते थे।

किन्तु अपवाद कहाँ नहीं होते?

कुछ छात्र ऐसे भी निकल ही आए, जो अपने हीन बोध के कारण अभयकुमार से ईर्ष्या करने लगे। किन्तु उससे ईर्ष्या रखकर भी वे कर क्या सकते थे? स्वयं अपने ही जीवन को वे और भी अधिक हीन ही बना सकते थे।

एक बार वे ईर्ष्यालु छात्र मिलकर किसी न किसी प्रकार अभयकुमार को सताने, उसे लज्जित करने का उपाय सोचने लगे। और कुछ तो उन्हें सूझा नहीं, यही सूझा कि अभयकुमार को उसके अनुपस्थित पिता के संदर्भ में चिढ़ाया जाय।

यह सोचकर एक छात्र ने अभय से कहा–

"अभय ! माना कि तुम हम लोगों से बहुत अधिक बुद्धिमान् हो। यह भी माना कि हम सभी में तुम योग्यतम हो। लेकिन उससे लाभ क्या?"

"लाभ क्या? मैं तुम्हारे कथन का आशय नहीं समझ पाया, बन्धु !"–अभय ने कहा।

"हम यह कहना चाहते हैं कि तुम्हारे पिता का तो कोई पता ही नहीं। कौन हैं तुम्हारे पिता? कहाँ हैं? जिस व्यक्ति के पिता का ही कुछ अता-पता न हो, वह चाहे जितना बुद्धिमान् और योग्य हो–लेकिन क्या उसे कुलीन भी कहा जा सकता है?"

मर्मान्तिक चोट थी।

अभयकुमार चाहता तो अपने दुर्मुख से ये शब्द निकालने वाले उस छात्र की बत्तीसी अपनी सशक्त बाहु के एक तमाचे से ही बाहर निकाल देता।

उसका चेहरा तमतमा उठा था। क्षणभर के लिए उसे विचार भी आया कि वह एक तमाचा जड़ ही दे।

किन्तु शालीन व्यक्ति ऐसी पशु-प्रवृत्तियों पर धैर्यपूर्वक विजय पा लिया करते हैं।

अभयकुमार ने भी खून का वह घूँट पी लिया और शान्त भाव से उत्तर दिया–

"बन्धुओ ! तुमने जो बात कही है, वह अत्यन्त नीच भावना को प्रदर्शित करती है। किन्तु मैं तुम्हें क्षमा करता हूँ·····।"

"जब उत्तर है ही नहीं, तो क्षमा ही करोगे और करोगे भी क्या?"

"उत्तर तुम्हें मिलेगा। भूलना नहीं। यह अभयकुमार का वचन है। मेरे पिता जहाँ भी हैं और जो भी हैं, महान् पुरुष हैं। किसी कारण से वे आ नहीं पाए होंगे। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि तुम लोग उनकी अनुपस्थिति को लेकर ऐसी अशोभनीय बात अपने मुँह से निकालो। सावधान ! इस बार तो मैंने तुम्हें क्षमा कर दिया है। किन्तु साथ ही सचेत भी किए देता हूँ कि यदि इस प्रसंग को लेकर तुममें से किसी ने भी अब भविष्य में कोई व्यंग अथवा उपहास करने का प्रयत्न किया तो वह उसके जीवन का अन्तिम व्यंग या उपहास होगा। सावधान !"

अभयकुमार के अग्नि के समान प्रदीप्त और दर्पयुक्त मुख को देखकर वे कायर छात्र भीतर तक काँप उठे।

मौन रह गए।

अभयकुमार सधे, किन्तु तेज कदमों से वहाँ से चल पड़ा।

× × ×

अन्य कोई सामान्य बालक होता तो खिन्न होकर, क्षुब्ध होकर, क्रोधित होकर अपनी माँ से लड़ पड़ता। किन्तु अभयकुमार विस्मयकारी रूप से विचारवान किशोर था। उसने यह ध्यान रखा कि उसकी वीरांगना किन्तु भोली माता के हृदय को सहसा कोई आघात न पहुँचे।

अपने हृदय की उद्विग्नता को बलपूर्वक दबाकर घर आकर उसने अपनी माता से कहा–

"माँ ! एक बात बताएगी?"

"अरे, अभय बेटा, क्यों नहीं बताऊँगी भला? बोल, क्या बात है?"

"बता माँ, प्रत्येक बात की कोई न कोई सीमा तो होती है न?"

अचानक इस असंबद्ध से लगते, अटपटे प्रश्न को सुनकर नन्दा थोड़ा चकित हुई। फिर बोली–

"हाँ बेटा, सीमा तो प्रत्येक बात की कहीं न कहीं होती ही है। लेकिन तेरे इस अजीब प्रश्न का अर्थ?"

"देख माँ, मैंने तुमसे अपने पिताजी के विषय में एक-दो बार पूछा कि वे कहाँ हैं? कौन हैं? आते क्यों नहीं? तो तूने कहा कि उचित समय आने पर मुझे सब ज्ञात हो जाएगा। मैं मान गया। बोल, माना कि नहीं?"

"क्यों नहीं, बेटा ! तू तो बहुत समझदार है। अपनी माँ का कहना मानता कैसे नहीं? पर आज फिर अचानक यह प्रश्न क्यों? क्या हुआ है?"

"सीमा आ गई है। यह हुआ है, माँ !"

"फिर पहेलियाँ बुझाने लगा। साफ-साफ बता। क्या बात है?"

"माँ ! मेरे कुछ सहपाठी छात्र हीन मनोवृत्ति के हैं। वे और कुछ तो कर नहीं सकते, अब मुझ पर व्यंग करने लगे हैं। हमारे उज्ज्वल चरित्र तथा श्रेष्ठ कुल पर कीचड़ उछालना चाहते हैं। तू चिन्ता तनिक भी नहीं करना, किन्तु यहाँ सीमा आ गई है, और पिताजी ने भी कोई सन्देश इतने वर्षों तक नहीं भेजा, स्वयं भी नहीं आए, यह भी सीमा हो गई। माँ ! अब तो तुझे बताना ही होगा....."

"लेकिन बेटा अभय, मैं तुझे बताऊँ भी तो क्या? जब-जब भी मैंने उनका धाम तथा अन्य कोई परिचय जानना चाहा और पूछा तो सदा ही उन्होंने इस प्रसंग को विनोद में टाल दिया। यह तो ध्रुव सत्य है, बेटा कि वे सच्चे हैं, उनके मन में छल की कोई भावना हो, इसकी कल्पना अथवा आशंका तक करना पाप है, तथा वे अत्यन्त उच्च कुल के प्रतापी वंशज हैं–किन्तु बस, उन्होंने अब तक अपना पूरा परिचय ही हमें नहीं दिया।"

नन्दा का हृदय भर आया था। पुत्र की विकलता देखकर वह भी दुःख का अनुभव कर रही थी। आँखों की कोरों तक आँसू भी उमड़ आए थे। किन्तु उन आँसुओं को उसने ढलने नहीं दिया। अपने हृदय को वश में रखने का महाप्रयत्न उसने किया।

लेकिन चतुर अभयकुमार की दृष्टि से अपनी माता का यह दुःख छिपा नहीं रह सका। उसने माँ के दोनों हाथ अपने हाथों में लेकर प्रेमपूर्वक यह कहा–

"माँ ! इस बात में कहीं न कहीं कोई रहस्य है। ऐसा लगता है कि शायद पिताजी तेरी और मेरी बुद्धि की परीक्षा लेना चाहते हैं। माँ ! तू तनिक ठीक से याद कर। कोई न कोई संकेत उन्होंने अवश्य ही तुझे कभी न कभी दिया ही होगा। हमें उसी संकेत के सहारे पिताजी को खोज निकालना है। अच्छी तरह याद कर, माँ !"

जब अभयकुमार ने यह बात कही, तब एकाएक नन्दा को स्मरण आ गया कि विदा लेने से पूर्व उसके पतिदेव ने एक कागज के टुकड़े पर कुछ लिखकर दिया था। यह याद आते ही वह बोली–

"अरे हाँ, बेटा, तेरे पिताजी ने मुझसे विदा लेते समय एक कागज पर कुछ लिखकर दिया था। देखती हूँ वह कागज कहाँ है। मैं तो उस समय वियोग की घड़ी में इतनी विह्वल थी कि न कुछ सोचा न समझा, कागज को सम्हालकर कहीं रख भर दिया। देखती हूँ, बेटा !"

अभयकुमार के मन में आशा जागी।

नन्दा ढूँढ़-ढाँढ़कर वह मुड़ा-तुड़ा कागज ले आई। अभयकुमार ने पढ़ा–

"पांडुर कुट्या वयं गोपाला राजगृहे।"

यह पंक्ति पढ़कर अभयकुमार हर्ष से उछल पड़ा और अपनी माता को अपने प्रगाढ़ प्रेमपूर्ण आलिंगन में लेकर बोला–

"माँ ! महारानी नन्दादेवी ! पिताजी का पता चल गया। वे राजा हैं। तू, मेरी प्यारी माँ, महारानी है। और मैं राजकुमार हूँ।"

"अरे बेटा, तू बावरा तो नहीं हो गया? क्या कह रहा है तू .... ?"

"जो है सो कह रहा हूँ, माँ ! देख, अर्थ को समझ। अर्थ-भेद से गोपाल का अर्थ राजा होता है। तथा राजगृह में तो एक से बढ़कर एक श्रेष्ठियों के भव्य, गगनचुम्बी भवन होंगे ही। किन्तु उन सब में सर्वोच्च भवन राजभवन ही हो सकता है। इतना संकेत तो पिताजी ने कभी बातों ही बातों में किया भी था, यह तूने मुझे एक बार बताया था। अब इस सूत्र को पढ़कर तो मुझे यह अटल निश्चय हो गया है, दीपक के प्रकाश की भाँति यह स्पष्ट है कि पिताजी राजगृह में राजा हैं–मगधेश्वर महाराज श्रेणिक।"

अभयकुमार की बात तर्कसम्मत थी। सत्य ही प्रतीत हो रही थी, स्पष्ट रूप से। यह जानकर नन्दा अपने परम सौभाग्य से अभिभूत हो उठी।

अभयकुमार ने कहा–"माँ ! अब तू राजगृह चलने की तैयारी कर। हम पिताजी के पास चलेंगे।"

किन्तु अब हर्ष के साथ-साथ नारी सुलभ मान की भावना भी नन्दा के हृदय में जाग्रत हुई। उसने उत्तर दिया–

"बेटा, अभय ! यदि मैं रानी हूँ, तो रानी के गौरव के साथ ही राजगृह जाऊँगी, ऐसे नहीं। राजा जब स्वयं लेने आएगा, तभी रानी जाएगी।"

नन्दा के स्वरों में दृढ़ता थी।

अभय दौड़ा-दौड़ा अपने नाना के पास गया और उन्हें सारी बात बताकर कहा–"आप माँ को समझाएँ।"

सुभद्र श्रेष्ठी ने नन्दा को समझाया। उनका हृदय बेटी को विदा करने की कल्पना से टुकड़े-टुकड़े तो हो रहा था–संसार में प्रत्येक पिता के लिए ऐसा अवसर आता ही है–किन्तु उन्होंने नन्दा को समझाया ही–"बेटी ! एक न एक दिन पिता-पुत्री की विदाई का यह अवसर आता ही है और यह अवसर होता भी शुभ है। विवाह के पश्चात् तो पत्नी के लिए पतिगृह ही उसका अपना होता है, बेटी ! तू तो सब जानती है। बुद्धिमती है। तुझे अधिक क्या कहूँ? अभय का कहना ठीक ही है ..... ।"

"किन्तु पिताजी ! मैं पूरे सम्मान के साथ ही पतिगृह जाना चाहती हूँ।"

"वही होगा," अभयकुमार शीघ्र बोला–"तू मुझ पर विश्वास रख, माँ ! पिताजी हमें लेने आएँगे और हम ससम्मान रानी और राजकुमार की भाँति ही राजगृह में प्रवेश करेंगे। मेरी बुद्धि पर तुझे भरोसा नहीं है क्या?"

"तेरे जैसा धीमान्, चतुर, सर्वगुण-सम्पन्न पुत्र पाकर तो मैं धन्य हूँ बेटा ! ..... ।"

"तो फिर अब ना-नुकुर मत कर माँ ! चलने की तैयारी कर। हम राजगृह से बाहर कहीं आसपास किसी ग्राम अथवा उद्यान, अथवा जंगल में ही सही, कहीं भी रुकेंगे, और फिर तू मेरी बुद्धि का चमत्कार देखना।"

अभयकुमार तथा श्रेष्ठी सुभद्र, बेटे और पिता, के इतना कहने पर नन्दा प्रस्तुत हो गई।

मन ही मन इतनी दीर्घ अवधि के वियोग के पश्चात् अपने पति से मिलने की तीव्रतम अभिलाषा तो उसे थी ही।

किस पति-परायण नारी को न होगी?

श्रेष्ठी सुभद्र ने रथों, नौकर-चाकरों, विपुल धन तथा यात्रा हेतु अन्य सभी सुख-सुविधाओं की व्यवस्था तत्काल कर दी।

नन्दा और अभयकुमार वेणातट से राजगृह की ओर रवाना हुए।

अभयकुमार की बृहस्पति-बुद्धि के चमत्कारों का आरम्भ अब होने को था।

● ●

नन्दीग्राम आ गया। राजगृह वहाँ से कुछ ही दूरी पर था। अभयकुमार ने वहीं ठहरने का निश्चय किया। किसी अच्छी, साफ-सुथरी पान्थशाला में उसने डेरा डाल लिया। अंग्रेजी में एक कहावत है–"Money makes the mare go." इसका भावार्थ है कि धन से सभी काम निकल जाते हैं।

अभयकुमार के पास पर्याप्त धन था। अतः उसे अपनी माता तथा अंगरक्षक, सेवक-सेविकाओं के साथ वहाँ ठहरने में कोई कठिनाई नहीं हुई।

अब वह उचित अवसर की प्रतीक्षा करने लगा।

उधर महाराज श्रेणिक अपनी प्रजा के उत्कर्ष से सम्बन्धित प्रत्येक छोटी से छोटी बात को भी बड़ी सूक्ष्मता से, स्वयं ही देखते थे। केवल आदेश प्रदान कर देना तथा शेष कार्य राज्य-कर्मचारियों पर छोड़कर निश्चिन्त हो जाना उन्हें रुचिकर नहीं था, उनके स्वभाव में नहीं था, तथा ऐसा करना किसी भी सच्चे प्रजापालक राजा के लिए उचित भी नहीं है।

इसी क्रम में एक दिन उन्होंने नन्दीग्राम को राज्यकोष से दी जाने वाली आर्थिक सहायता की राशि के विषय में ब्यौरा देखा। राशि पर्याप्त थी। यह राशि ग्राम के मुखिया को उस ग्राम में आने-जाने वाले अतिथियों, प्रवासियों, पथिकों, व्यापारियों आदि की सुविधा के लिए खर्च की जाने हेतु प्रदान की जाती थी।

किन्तु वस्तुतः उस प्रभूत राशि का उपयोग कैसे होता था, यह भी श्रेणिक को अपने ही कटु अनुभव से ज्ञात हो चुका था–वर्षों पूर्व।

हमारे पाठकों को स्मरण ही होगा कि जब श्रेष्ठी सुभद्र तथा श्रेणिक उस ग्राम में गए थे, तब ग्राम-प्रमुख ने उन्हें भोजन तो क्या, पीने के लिए पानी तक नहीं दिया था।

महाराज श्रेणिक को यह बात याद आ गई। उन्होंने मंत्री को बुलाकर कहा–

"इस नन्दीग्राम का मुखिया अनैतिक आचरण करने वाला है। यह मेरा व्यक्तिगत अनुभव है। वह राज्यकोष से प्राप्त होने वाली सारी राशि स्वयं ही अपने पास रख लेता है। अतिथि एवं पान्थ बेचारे कष्ट पाते हैं। इसे समुचित शिक्षा दी जानी चाहिए।"

"जी, महाराज !"

"क्यों न इस ग्राम के मुखिया तथा उसके साथी-संगियों को देश निकाला दे दिया जाय? मगध-साम्राज्य में ऐसे अनैतिक व्यक्तियों के लिए स्थान नहीं है।"

"आपका यह कथन सत्य है, महाराज ! किन्तु थोड़ा विचार यह करने की आवश्यकता है कि वह ग्राम-प्रमुख स्वयं तो ब्राह्मण है ही, उस ग्राम में अधिकांश बस्ती भी ब्राह्मणों की है। यदि हम एकाएक सीधे आदेश द्वारा उन्हें देश-निष्कासन देंगे तो राज्य के ब्राह्मण-वर्ग में असंतोष उत्पन्न हो सकता है। जो लोग वास्तविकता को नहीं जानते, वे यह विचार कर सकते हैं कि भगवान महावीर के अनुयायी महाराज श्रेणिक ने पक्षपात दिया है।"

"तो फिर आपका मंतव्य?"

"ग्राम-प्रमुख की बेईमानी के प्रमाण जुटा लिए जायें। उस पर कुछ आरोप सिद्ध हो जाए, तब उसे तथा उसके संगी-साथियों को दण्ड दिया जाए।"

"उचित है। तब ऐसा ही कीजिए।"

मंत्री ने ग्राम-प्रमुख नन्दिनाथ की बुद्धि-परीक्षण तथा उसके विरुद्ध आरोप एकत्र करने की दृष्टि से बुद्धि-चातुर्य में श्रेष्ठ महाराज श्रेणिक की सहायता से एक योजना बनाई–

एक बकरा मँगाकर नन्दीग्राम भेजा गया और नन्दिनाथ को राज्यादेश प्रदान किया गया कि वह सात दिन तक बकरे को अपने ग्राम में रखे और उसके बाद उसे लौटाए। देखा यह जाना है कि बकरे का वजन सात दिन बाद भी ठीक उतना ही रहे, जितना इस समय है। वजन न घटे, न बढ़े। तिलमात्र भी।

जब राजसेवक उस बकरे को लेकर नन्दीग्राम पहुँचे और उन्होंने बकरा नन्दिनाथ को सौंपते हुए राज्यादेश सुनाया तो नन्दिनाथ के होश उड़ गए.....

वह जानता था कि वह बेईमान है। उसकी बेईमानी अब पकड़ी गई है। तथा यह जो इस प्रकार का राज्यादेश आया है, उसके पीछे यही रहस्य है कि उसे शिकंजे में जकड़ा जा रहा है.....

उसने गाँव के अपने सभी सगे-सम्बन्धी, भाई-भतीजों, ब्राह्मणों को बुलाया और कहा–

"भैया ! अब यहाँ से भाग लो। यदि प्राण बचाना है तो तुरन्त यह ग्राम और यह देश छोड़कर कहीं अन्यत्र शरण ले लो। अन्यथा मगध में अब महाराज

श्रेणिक का राज्य है। उनके राज्य में अब हम जैसे बेईमानों के लिए स्थान नहीं है।" उसके मुख से स्वयं ही निकल गया–जैसे चोर की दाढ़ी में से तिनका झाँकने लगे।

बात क्या थी, यह जब एकत्रित लोगों ने जाना, तब वे सब भी यकायक किंकर्तव्यविमूढ़ हो गए। भाग-दौड़ की स्थिति बन गई।

उसी समय घूमता-घामता अभयकुमार उधर आ निकला। उसने यह भीड़भाड़ देखी, सभी लोगों को चिन्तित मुद्रा में देखा तो पूछा–

"क्या बात है, मुखिया जी ! आप लोग इतने घबराए हुए क्यों हैं?"

डूबते को तिनके का सहारा।

नन्दिनाथ ने अभयकुमार को राज्यादेश बताकर बकरे की ओर संकेत करते हुए कहा–

"अब तुम्हीं बताओ भैया ! सात दिन तक इस बकरे को रखकर यदि खिलाएँ-पिलाएँ, तो वजन तो बढ़ेगा ही। और यदि न खिलाएँ, तो वजन घटेगा ही। वैसा का वैसा, उतना का उतना कैसे रहेगा भला? हम तो मारे गए !"

चातुर्य और बुद्धि के सागर अभयकुमार ने सुना और वह तत्क्षण ही समझ गया कि चतुर और बुद्धिमान् महाराज श्रेणिक परीक्षा ले रहे हैं।

उसे ऐसे ही किसी अवसर की तलाश थी, जब वह यह सिद्ध कर सके कि बेटा है, और वह बाप से सवाया है।

उसने नन्दिनाथ से कहा–

"इतनी छोटी-सी, मामूली-सी बात के लिए आप लोग इतना घबरा गए? यह तो बहुत सरल कार्य है। बस, थोड़ी बुद्धि का प्रयोग करने की ही बात है।"

नन्दिनाथ और उपस्थित ब्राह्मणों के समुदाय ने मन ही मन सोचा कि लड़का बड़बोला प्रतीत होता है। किन्तु आजमाने में हर्ज भी क्या है? अब मरना तो है ही। देखें तो सही कि यह लड़का क्या कहता और क्या करता है।

प्रगट में नन्दिनाथ ने कहा–"तो भाई, बताओ अब क्या किया जाय?"

अभयकुमार ने कहा–

"जंगल से एक भेड़िया पकड़वाकर मँगवा लीजिए। दिनभर इस बकरे को खूब भरपेट दाना-चारा खिलाइये और शाम को इसे भेड़िये के सामने बाँध दीजिए। दिनभर खा-पीकर जितना वजन इसका बढ़ेगा, उतना ही वजन रातभर

भेड़िये के सामने बँधा रहने पर डर के मारे कम भी हो जायेगा। इस विधि से इसका वजन सात दिन बाद भी उतना ही बना रहेगा।''

नन्दिनाथ ने ऐसा ही किया, और अभयकुमार की बात सच निकली। सात दिन बाद जब उस बकरे को महाराज श्रेणिक के सामने लाया गया और उसका वजन तोला गया, तो वह ठीक उतना ही निकला जितना कि सात दिन पूर्व था।

महाराज श्रेणिक यह देखकर विस्मित रह गए।

उन्होंने दूसरी योजना बनाई। एक मुर्गा नन्दीग्राम भेजा गया और आदेश दिया गया–इस मुर्गे को बिना किसी अन्य मुर्गे से लड़ाए द्वन्द्वयुद्ध करना सिखा दिया जाय।

यह आदेश भी विचित्र था। बिना किसी अन्य मुर्ग से लड़ाए गए, उस मुर्ग को द्वन्द्वयुद्ध करना कैसे सिखाया जा सकता था? नन्दिनाथ तथा स्वयं को बड़ा पंडित समझने वाले सभी विप्रप्रवर अपना-अपना माथा ठोकने लगे। वे दौड़े-दौड़े अभयुकमार के पास गए और बोले–

''बेटा ! महाराज तो हमारे पीछे ही पड़ गए हैं। लगता है वे हमें छोड़ेंगे नहीं। हमारे पाप का घड़ा भर गया है। तुम बहुत चतुर हो। अब तुम्हीं हमारी रक्षा करो। कोई उपाय बताओ।''

अभयकुमार ने कहा–

''देखिए महाशय ! मेरा नाम अभयकुमार है। मैं आपको इस संकट से तो अभय प्रदान करता हूँ। आप निश्चिन्त रहें। किन्तु जहाँ तक पाप का घड़ा भरने का प्रश्न है, तो अपने-अपने कर्मों का फल तो सभी को आगे-पीछे भोगना ही पड़ता है।''

''पर भैया ! इस मुसीबत से तो हमारा छुटकारा करा ही दो।''

''ठीक है। इस मुर्ग को आप लोग एक बड़े दर्पण के सामने छोड़ दीजिए। मुर्ग अपने प्रतिद्वन्द्वी को सहन नहीं कर सकता। यह मूर्ख मुर्ग दर्पण में अपनी छाया देखकर उसे अपना कोई प्रतिद्वन्द्वी मुर्ग समझेगा और उससे लड़ेगा। इस प्रकार यह द्वन्द्वयुद्ध करना सीख जायेगा।''

अभयकुमार का कथन सत्य निकला।

उसकी तीक्ष्ण बुद्धि ने सटीक उपाय खोजा था।

मुर्ग बिना किसी अन्य मुर्ग से लड़े द्वन्द्वयुद्ध करना सीख गया। उसे लेकर ग्राम के ब्राह्मण राजदरबार में पहुँचे। शाही मुर्ग से उसका द्वन्द्वयुद्ध हुआ।

महाराज श्रेणिक विचार में पड़ गए–यह कैसे संभव हुआ? उनके पूछने पर ब्राह्मणों ने बता दिया कि दर्पण द्वारा इस मुर्ग को द्वन्द्वयुद्ध करना सिखाया गया है।

श्रेणिक सोचने लगे–इन पोथी-पंडितों के मस्तिष्क में इतनी चतुराई भरी तीक्ष्ण बुद्धि नहीं हो सकती। अवश्य ही इसमें कुछ रहस्य है। इस रहस्य का भी पता लगाना होगा.....

यह विचार करके उन्होंने उन ब्राह्मणों को एक और आदेश भिजवाया–एक बालू रेत की रस्सी बनाकर शीघ्र ही भेजी जाय।

इस आदेश को पाकर तो नन्दिनाथ ने गाँव छोड़कर रातोंरात भाग जाने का ही निश्चय कर लिया। भला बालू रेत की भी रस्सी बनाई जा सकती है? अभयकुमार चाहे जितना चतुर हो, किन्तु यह कार्य तो एकदम असंभव है। इसे तो वह भी कैसे कर पाएगा?

किन्तु उसे फिर विचार आया–मगधराज के हाथ तो बहुत लम्बे हैं। उनकी शक्ति और बुद्धि अपार है। हम बचकर जायेंगे तो कहाँ? अब तो कोई उपाय नहीं है। अभयकुमार से ही कहकर देखा जाय। अद्‌भुत तेजस्वी युवक है। बुद्धि का तो भंडार ही दिखाई देता है। देखें, शायद वह कोई उपाय खोज ही निकाले।

यह सोचकर नन्दिनाथ ने समस्या अभयकुमार के समक्ष प्रस्तुत कर ही दी।

सुनकर अभयकुमार ने नन्दिनाथ की ओर ऐसे देखा जैसे कोई बड़ा-बुजुर्ग किसी ऐसे बालक की ओर देखता है जो किसी अत्यन्त सामान्य बात से ही घबरा गया हो। अपने चेहरे पर मुस्कान बिखरते हुए उसने कहा–

"मुखिया जी ! घबराइये नहीं। यह तो बुद्धि की टकराहट है। मैं भी देखता हूँ कि आपके महाराज श्रेणिक कितनी समस्याएँ हमारे सामने खड़ी करते हैं। कितनी पहेलियाँ बुझाते हैं।"

"उपाय बताओ, भैया ! उपाय बताओ। वरना महाराज हमें फाँसी पर चढ़ा देंगे।"–नन्दिनाथ ने कहा। उसके चेहरे पर घबराहट के मारे पसीने की बूँदें झलक आई थीं।

राजदरबार में जाकर क्या कहना चाहिए, यह सब बातें अभयकुमार ने ब्राह्मणों के प्रतिनिधियों को ठीक से समझा दीं।

ब्राह्मण दरबार में पहुँचे।

महाराज श्रेणिक ने पूछा–"आप लोग रस्सी लाए?"

"प्रभु ! स्वामी ! मगधेश महाराज ! आपकी आज्ञानुसार रस्सी कल तक तैयार कर दी जाएगी। किन्तु वह कितनी मोटी हो, उसका आकार-प्रकार कैसा हो, यह जानने के लिए दयानिधान कृपा करके रस्सी के नमूने का टुकड़ा हमें प्रदान करें।"

ब्राह्मणों की यह बात सुनकर महाराज श्रेणिक ने कहा–"ऐसा नमूना तो राज्यकोष में नहीं है।"

ब्राह्मण अभयकुमार द्वारा सिखाए-पढ़ाए थे। उन्होंने तुरन्त हाथ जोड़कर कहा–

"महाराज ! अब आप ही विचार करें। जो वस्तु पृथ्वी के स्वामी मगध-सम्राट् के स्वयं के राज्यकोष में भी नहीं है, वह वस्तु हम गरीब ब्राह्मणों के पास कहाँ से आ सकती है?"

इस चतुराई भरे उत्तर से महाराज श्रेणिक भी चकराए, और उन्हें अब तो पक्का भरोसा हो गया कि उस ग्राम में कोई न कोई अत्यन्त बुद्धिमान् व्यक्ति आया हुआ है, जो इन पोंगे-पंडितों को सिखा-पढ़ाकर बचा रहा है।

मन में उन्होंने निश्चय कर लिया कि उस आदमी का पता लगाना ही चाहिए।

प्रगट में उन्होंने उन ब्राह्मणों की एक और भी परीक्षा लेने की दृष्टि से कहा–

"विप्रनाथ ! आपके ग्राम के कुएँ का पानी सुना है, बहुत मधुर है। वह कुआँ राजधानी में भिजवा दीजिए। अब आप लोग जाइये।"

ब्राह्मणों की जान साँसत में फँसी थी। यह राजा तो हाथ धोकर पीछे पड़ गया है। कुएँ को ग्राम से राजगृह कैसे लाया जा सकता है?

प्रतिनिधियों ने आकर नन्दिनाथ को राजा का आदेश सुनाया। हैरान और भयभीत नन्दिनाथ फिर से दौड़ा-दौड़ा अभयकुमार के पास गया और हाथ जोड़कर कहने लगा–

"बेटा अभय ! राजा भैया ! तुम्हीं हमारे तारणहार, तुम्हीं हमारे अभयदाता हो। रक्षा करो भाई !"

"अब क्या हुआ मुखिया जी?"

"राजा ने गाँव का कुआँ राजधानी में मँगाया है। अब भेजो कुएँ को राजधानी।"

"अरे तो घबराते क्यों हो? मैं जो बैठा हूँ तुम्हारे महाराज को पानी पिलाने के लिए। अपने माथे का पसीना पौंछ लो और सुनो ....."।"

अभयकुमार ने जो समझाना था समझा दिया।

ब्राह्मण प्रतिनिधि राजदरबार में गए और हाथ जोड़कर बोले–

"महाराज मगधपति की जय हो। आपके आदेशानुसार हम अपने गाँव का कुआँ यहाँ भेजने के लिए प्रस्तुत हैं। कुआँ भी राजी है यहाँ आने के लिए। किन्तु महाराज ! वह कुआँ जितना मीठा है, उतना ही संकोचशील भी है। बेचारा गाँव का कुआँ है न? उसने अपने जीवन में इतना भव्य नगर और इतनी भीड़भाड़ कभी देखी नहीं। इसलिए वह वहाँ आने से घबराता है। दयानिधान ! आपसे हमारी प्रार्थना है कि आप राजधानी से कोई भी एक कुआँ हमारे ग्राम में भिजवा दें तो उस अपने भाई के साथ हमारा कुआँ यहाँ आ जायेगा। इतनी कृपा करें महाराज !"

यह सुनकर महाराज श्रेणिक को मन ही मन हँसी भी आई और वे अब तो निश्चित रूप से जान गए कि उस ग्राम में कोई न कोई अद्‌भुत रूप से चतुर और बुद्धिमान् व्यक्ति है, जो उनकी प्रत्येक योजना की काट करने में महासमर्थ है।

ठीक है, उन्होंने सोचा, इन ब्राह्मणों से तो बाद में निबट लूँगा। ये जायेंगे कहाँ? किन्तु पहले उस महाविचक्षण व्यक्ति का पता लगाना चाहिए कि आखिर वह है कौन? कहाँ से आया है?

यह निश्चय करके महाराज श्रेणिक ने अपने गुप्तचरों को आदेश दिया–

"जाकर पता लगाओ कि वह कौन व्यक्ति है जो इन ब्राह्मणों की रक्षा कर रहा है, इन्हें पाठ पढ़ा रहा है। लौटकर मुझे तत्काल सूचना दो। विलम्ब न हो।"

ब्राह्मणों को तो महाराज ने पहले ही विदा कर दिया था। अब गुप्तचर चले।

नन्दीग्राम में पहुँचकर राजा के गुप्तचरों ने इधर-उधर गुप्त वेश में घूमकर ग्रामवासियों के मुख से अभयकुमार की अद्‌भुत तीक्ष्ण बुद्धि के विषय में चर्चा सुनी। वे उसे गुप्तरूप से खोजने लगे।

घूमते-फिरते वे एक उद्यान में जा पहुँचे। वहाँ वे लोग कुछ विश्राम करने के विचार से एक वृक्ष की छाया में बैठ गए।

वृक्ष जामुन का था।

फल लगे हुए थे। पके, मीठे फल।

एक तरुण-युवक वृक्ष पर चढ़ा हुआ जामुन खा रहा था और अपने बाल-मित्रों को भी फल तोड़-तोड़कर दे रहा था।

कुछ व्यक्तियों को, जोकि वस्तुतः राज-गुप्तचर थे, वृक्ष के नीचे बैठा देखकर उस युवक ने उनसे पूछा–

"बड़े मीठे, गदराए हुए जामुन के फल हैं। खाएँगे आप लोग?"

गुप्तचरों ने कहा–"नेकी और पूछ-पूछ? लाओ, दो, अवश्य खाएँगे। ताजे, तुरत के तोड़े, पके, मीठे फल तो कभी-कभी ही खाने को मिलते हैं।"

युवक ने पूछा–"ठण्डे फल खाएँगे कि गरम?"

गुप्तचरों ने सोचा–जामुन के फल गरम भी होते हैं क्या? कभी खाए नहीं। सदा ठण्डे ही खाए हैं। देखें तो आज गरम कैसे होते हैं? यह सोचकर उन्होंने उत्तर दिया–"आज गरम ही खिलाओ।"

वृक्ष पर चढ़े युवक ने कुछ जामुन तोड़े और जान-बूझकर उन गुप्तचरों की फैली हुई झोली में उन्हें सीधे न फेंककर भूमि पर गिरा दिया।

बड़े सुन्दर, बड़े-बड़े, पके जामुन थे। लेकिन भूमि पर गिरने के कारण उनमें कुछ धूलि लग गई थी। गुप्तचर उस धूलि को फूँक-फूँककर जामुन खाने लगे।

पर जामुन तो गरम नहीं, ठण्डे ही थे। उन्होंने कहा–

"ये तो ठण्डे ही हैं। तुम तो कहते थे गरम देता हूँ?"

युवक ने शरारत से मुस्कराते हुए कहा–"यदि गरम नहीं हैं तो फिर इन्हें फूँक-फूँककर क्यों खा रहे हो?"

यह सुनकर उन गुप्तचरों को उस युवक की बुद्धि पर आश्चर्य हुआ। उसी समय किसी एक बालक ने पुकारकर कहा–

"अभयकुमार ! अब वृक्ष से नीचे उतर आओ। देर हो गई है। पेट भी भर गया। अब घर चलेंगे।"

गुप्तचरों ने यह सुनकर जान लिया कि यही अभयकुमार है, जिसने अपनी चतुरता से महाराज को प्रभावित कर रखा है। उनकी खोज पूरी हुई।

राजधानी में लौटकर उनके नायक ने महाराज श्रेणिक से निवेदन किया–

"महाराज ! हमने नन्दीग्राम में जाकर उस व्यक्ति का पता लगा लिया है जिसने ग्राम के ब्राह्मणों को अभय दे रखा है और अपने बुद्धि-चातुर्य से आपकी सारी योजनाओं को विफल कर देता है।"

"कौन है वह?"

"कोई तरुण है। अभी यौवन की देहरी पर पाँव रख ही रहा है। उसका नाम अभयकुमार है। आज्ञा हो तो उसे हम लोग पकड़ लाएँ? बहुत ही तेजस्वी और चतुर दिखाई देता है, प्रभु !"

महाराज श्रेणिक ने थोड़ा विचार किया और फिर कहा–

"नहीं, ऐसे नहीं। ऐसे बुद्धि के आगार युवक से हम अन्य किसी प्रकार से, बौद्धिक माध्यम से ही मिलना चाहेंगे। आप लोग अभी जाएँ।"

गुप्तचर शीर्ष झुकाकर चले गए।

महाराज श्रेणिक ने विचार किया। आखिर वे भी परम बुद्धिशाली थे। उन्होंने मंत्री को बुलाकर आदेश दिया–

"मंत्रिवर ! नन्दीग्राम में कहीं से आकर ठहरे हुए तरुण युवक अभयकुमार की मैं एक और परीक्षा लेना चाहता हूँ।"

"आज्ञा करें, स्वामी !"

"एक सूखे, अन्धे कुएँ में एक अँगूठी गिरा दीजिए। कुआँ गहरा हो। फिर राजगृह तथा साथ ही नन्दीग्राम सहित दूर-दूर तक, पूरे राज्य में, घोषणा करा दीजिए कि सूखे, अन्धे, गहरे कुएँ में महाराज की अँगूठी गिर गई है। उस अँगूठी को जो भी व्यक्ति कुएँ में उतरे बिना, उसकी जगत के पास खड़ा रहकर, हाथ बढ़ाकर निकाल देगा, उसे पाँच सौ मंत्रियों से ऊपर महामंत्री बनाया जायेगा और किसी श्रेष्ठ क्षत्रिय कुल की कन्या से उसका विवाह भी किया जायेगा। उसे पूर्ण राज-समादर प्रदान किया जायेगा।"

●●

अभयकुमार कुछ और कौतुक करके अपने पिता महाराज श्रेणिक के समक्ष प्रगट होने से पूर्व उन्हें छकाना चाहता था।

मगधपति द्वारा कराई गई घोषणा उसने सुन ली थी। अपनी माता नन्दा से आज्ञा लेकर वह राजगृह की ओर चल पड़ा। नन्दा ने कहा–

"बेटा, अभय ! अब तू अधिक समय क्यों लगा रहा है? अपने पिता से मिल क्यों नहीं लेता?"

"मिलना तो है ही, माँ ! तू थोड़ा और धीरज रख। एकाध चमत्कार और दिखा दूँ, तब मिलूँगा। तूने भी यह घोषणा सुनी है न–अन्धे, सूखे कुएँ में से बिना उसमें उतरे अँगूठी निकाल देने वाली–जरा मैं भी देख आऊँ कि पिताजी के राज्य में कितने बुद्धिमान् व्यक्ति हैं। तू तो बस यह समझ ले कि तेरी इच्छा के अनुसार अब पिताजी महाराज तुझे धूमधाम से, आदर सहित लेने आने वाले ही हैं। अच्छा, मैं चलता हूँ।"

"अब तेरी तू ही जान। जाने कैसे-कैसे कबाड़े तू करता रहता है। लेकिन जल्दी आना। मुझे अकेले में घबराहट रहेगी।"

"मैं जल्दी ही आऊँगा, माँ ! चिन्ता न कर। और अब तो सारा ग्राम हमें अपना अभयदाता मानकर हमारा सम्मान और चिन्ता करता है। मैं नन्दिनाथ को कह जाऊँगा कि वे तेरा ध्यान रखेंगे।"

माता से आज्ञा लेकर अभयकुमार राजगृह जा पहुँचा। वहाँ जाकर उसने एक स्थान पर बड़ी भीड़भाड़ देखी और शोरगुल सुना। वह उसी ओर आगे बढ़ा। सामने से एक ब्रह्मचारी 'हरि ॐ तत्सत्' का जाप करता आता दिखाई दिया। माथे पर चन्दन चुपड़ा हुआ था। भुजंग जैसी चोटी कमर तक लटक रही थी। हाथ में एक टेढ़ा-मेढ़ा, मोटा-सा दण्ड था। काया कोयले-सी काली।

उस ब्रह्मचारी को देखकर उसका अभिवादन करते हुए अभयकुमार ने कहा–

"प्रणाम ! ब्राह्मण देवता !"

"आयुष्मान् भव ! केवल ब्राह्मण देवता कहने से काम नहीं चलेगा, शास्त्री जी महाराज कहो–पूरे बारह वर्ष काशी में अध्ययन करके लौटा हूँ। वहाँ गंगा-किनारे बैठकर मछलियाँ नहीं मारी हैं, विद्याध्ययन किया है। समझे? वेद-वेदांगों की गहराई में गोते लगाए हैं। कोई परदेशी दिखाई देते हो?"

"धन्य है शास्त्री जी महाराज ! आप ज्ञानी हैं····।"

"धन्य तुम भी हो। इतनी जल्दी जान गए कि हम ज्ञानी हैं। अन्यथा इस राजगृह नगर में बहुत-से लोग तो हमें मूर्ख ही समझते हैं।"

"धिक्कार है उन लोगों को महाराज ! आपने ठीक ही कहा कि मैं परदेशी हूँ। राजगृह नगरी और इसके राजा की बड़ी प्रशंसा सुनी थी। जी में आया कि एक बार हो आऊँ, सो चला आया–किन्तु यह शोरगुल वहाँ कैसा सुनाई दे रहा है? यह भीड़भाड़ क्यों है?"

"अच्छा किया तुमने कि यहाँ आ गए। मेरे दर्शनों का पुण्यलाभ भी मिल गया। राजा भी अच्छा है। नीतिज्ञ है, ज्ञानी है, धर्मात्मा है, धर्म का निष्ठापूर्वक पालन करता है, विद्वानों का आदर करता है। अच्छा तो चलूँ, मेरे सन्ध्यावन्दन का समय हो गया।"–कहकर शास्त्री जी महाराज चलने गए। किन्तु अभयकुमार ने फिर प्रश्न दोहराया–

"यह शोरगुल कैसा है, महाराज !"

"अरे हाँ, मैं भूल ही गया था। यह शोरगुल–हा, हा, हा, आयुष्मान् ! यह शोरगुल तो मगध के भावी महामंत्रीश्वर मचा रहे हैं। जाकर तुम भी देख आओ, मज़ा आएगा। यह क्या, सामने ही उस वट-वृक्ष की ओट में कुआँ है न? वहीं चले जाओ।"

अभयकुमार सारे माज़रे को समझ तो चुका ही था। फिर भी उसने 'शास्त्री जी महाराज' से कुछ चुहल कर लेने की मंशा से कहा–

"ब्रह्मचारी–अरे, नहीं नहीं, क्षमा कीजिए, शास्त्री जी महाराज ! मैं तो अल्पबुद्धि हूँ। आपके कथन के अभिप्राय को ठीक से समझ नहीं सका। महामंत्रीश्वर तो एक ही हो सकता है। और वह भी भावी? और यह शोरगुल? यह क्या चक्कर है, महाराज?"

"मेरे दर्शनों का लाभ लेते रहना। धीरे-धीरे तुम भी सब समझने लगोगे। पूरे बारह वर्ष काशी में रहकर वेद-वेदांगों का अध्ययन किया है। गुरु की कृपा से क्या सम्भव नहीं है? मेरे जैसे गुरु तुम्हें राह चलते ही मिल गया, यह अच्छा ही

हुआ, अन्यथा इस राजगृह में किसी पाखंडी के चक्कर में फँस जाते। अच्छा तो मैं चलूँ, मेरे सन्ध्यावन्दन का समय हो चला।"–कहकर ब्रह्मचारी फिर चलने को हुआ और अभयकुमार ने फिर एक बार पूछ ही लिया–

"उस कुएँ पर ये लोग शोर क्यों मचा रहे हैं? क्या कोई गिर गया है?"

"कोई गिरा नहीं है। गिर गया होता तो कौन परवाह करता? कुआँ सूखा है। गहरा है। राजा ने उसमें एक अँगूठी गिरवाई है और घोषणा की है कि जो भी व्यक्ति उस अँगूठी को कुएँ की जगत पर खड़ा-खड़ा हाथ बढ़ाकर अपनी अँगुली में पहन लेगा, वही मगध का महामंत्रीश्वर बनेगा। भला यह भी क्या संभव है? संभव होता तो क्या मैं ही मगध का महामंत्रीश्वर न बन गया होता? मैंने भी माथा लड़ाया, किन्तु किसी शास्त्र में ऐसी व्यवस्था नहीं दी गई है। मैं शास्त्रार्थ के लिए प्रस्तुत हूँ।"

अभयकुमार को 'शास्त्री जी' की भोली मूर्खता पर हँसी आ रही थी। किन्तु उसे दबाकर उसने कहा–

"मैंने आपको बहुत कष्ट दिया शास्त्री जी महाराज ! क्षमा करें। आपके सन्ध्यावन्दन का समय हो गया।"

"अरे हाँ, मैं तो भूल ही गया था। अच्छा तो मैं चलूँ। मुझे लोग श्रद्धापूर्वक शास्त्री भानुदत्त के नाम से पुकारते और धन्य होते हैं। उधर दक्षिण की ओर महादेव के मन्दिर के पास निवास करता हूँ। दर्शन पाते रहना। कल्याण हो।"

शास्त्री जी चले गए।

अभयकुमार कुएँ की ओर चला।

सैकड़ों लोग जमा थे। अपना-अपना माथा लड़ा रहे थे। मगध के महामंत्रीश्वर का गौरवपूर्ण पद किसे आकर्षित न करता? किन्तु किसी को कुछ सूझ नहीं रहा था। किसी की बुद्धि काम नहीं कर रही थी। गहरे, सूखे कुएँ में बहुत नीचे पड़ी बहुमूल्य हीरे की अँगूठी चमक रही थी। लोग उसे हसरत और लालच भरी दृष्टि से देख रहे थे और देखे चले जा रहे थे....

उस भीड़ में मगध के मंत्री थे, सेनापति थे, विद्वान् थे, व्यापारी थे–अनेक महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति थे।

अभयकुमार धीरे-धीरे वहाँ पहुँचा। कुछ क्षण ठहरकर उसने स्थिति को जाँचा–परखा और पास खड़े लोगों से कहा–

"आप लोग इस मुद्रिका को निकाल क्यों नहीं लेते?"

एक जला-भुना आदमी तुरन्त बोल पड़ा–

"हाथ में लड्डू रखा है न? जो कह रहे हो, खा क्यों नहीं लेते? तुम बड़े चतुर हो तो तुम ही निकाल लो न?"

"कोई बड़ी बात तो है नहीं। आप लोग यदि नहीं निकालते तो मैं ही निकाल लेता हूँ। किन्तु मैं परदेशी व्यक्ति हूँ। क्या मुझे आज्ञा है?"–अभयकुमार ने समीप खड़े किसी राजपुरुष से पूछा।

उत्तर मिला–"देशी-परदेशी का कोई प्रश्न नहीं है। सम्राट् को सबसे अधिक बुद्धिमान् महामंत्री चाहिए। वह कोई भी हो।"

"तब ठीक है। कृपया थोड़ा-सा गोबर मँगा दीजिए।"

अभयकुमार की यह बात सुनकर आसपास खड़े कुछ लोग खिलखिलाकर हँस पड़े। दबी आवाज़ में वे कहने लगे, एक-दूसरे से–

"इस बेचारे युवक का सिर फिर गया है।"

"पगला मालूम पड़ता है। कोई चोट खाई होगी बेचारे ने।"

"दिमाग में गोबर भरा है सो गोबर ही गोबर दिखाई देता है।"

कोई कुछ कहता था और कोई कुछ। सभी हँस रहे थे।

किन्तु एक वृद्ध मंत्री बड़ी गंभीरतापूर्वक अभयकुमार की विश्वास से भरी, तेजस्वी, राजसी मुखमुद्रा को देख रहे थे। उन्होंने कहा–

"युवक ! तुमने क्या कहा? थोड़ा-सा गोबर मँगाया जाय?"

"जी हाँ।"–अभयकुमार ने मन्द मुस्कान के साथ उत्तर दिया।

मंत्री की आज्ञा से तुरन्त ही पास खड़े एक सैनिक ने कहीं समीप से ही ढूँढ़-ढाँढ़कर गोबर ला दिया। अभयकुमार ने गोबर का वह लौंदा अपने हाथ में लिया और निशाना साधकर कुएँ में पड़ी अँगूठी पर फेंक दिया।

अँगूठी गोबर में चिपक गई।

वृद्ध, विचारवान मंत्री निरन्तर सूक्ष्मता से अभयकुमार की मुद्रा एवं क्रिया-कलाप का अध्ययन कर रहे थे।

जो लोग अब तक हँस रहे थे, वे भी अब कुछ उत्सुकतापूर्वक देखने लगे कि यह पगला अब आगे क्या-क्या जादू करता है।

अभयकुमार ने अब कुछ सूखी टहनियाँ इकट्ठी करवाईं और उनमें आग लगाकर उन्हें कुएँ में गोबर के लौंदे पर फेंक दीं।

टहनियाँ जलती रहीं।

धीरे-धीरे अग्नि के ताप से गीला गोबर सूखकर कण्डे की आकृति में आ गया।

लोग झाँक-झाँककर देख रहे थे। अब भी किसी को विश्वास तो नहीं था कि यह युवक वहीं खड़े-खड़े उस अँगूठी को अपने हाथ में उठा सकता है, किन्तु वे कुछ विस्मित और कुछ स्तब्ध अवश्य हो चले थे। सोच रहे थे कि आखिर यह सिरफिरा कर क्या रहा है?

केवल वे वृद्ध और अनुभवी मंत्री गंभीर थे और संभवतः कुछ आशावान भी।

उनकी बूढ़ी आँखें अभयकुमार में किसी अद्‌भुत प्रतिभावान व्यक्ति को भाँप रही थीं।

उस कुएँ के समीप से ही एक झरना बहता चला जा रहा था। अभयकुमार ने उस वृद्ध मंत्री से अब कहा–

"कृपया इस झरने से एक नाली इस कुएँ तक खुदवा दीजिए।"

चकित और प्रभावित मंत्री ने अभयकुमार के इस आग्रह को भी तुरन्त स्वीकार कर लिया। नाली खुद गई और उस झरने का पानी उस सूखे कुएँ में मानो मगध के भावी महान् महामंत्रीश्वर का यशोगान करता हुआ गिरने लगा।

झर-झर, झर-झर की ध्वनि गूँजती रही। खाली कुआँ धीरे-धीरे भरने लगा। सूखा हुआ कंडा कुएँ में भरते चले जा रहे पानी की सतह पर तैरता रहा और गोल-गोल चक्कर काटता रहा।

इसके साथ ही उन लोगों के सिर भी चकराने लगे जो अब तक अभयकुमार की बात को केवल एक सिरफिरे की निकम्मी बात ही समझ रहे थे।

जल तेजी से ऊपर चढ़ता चला जा रहा था–मानो वह मगध के महामंत्रीश्वर का अभिषेक करने के लिए उतावला हो रहा हो।

सूखा हुआ वह कंडा जल की सतह पर चक्कर काट रहा था और उसमें जड़ी हुई अँगूठी झिलमिला रही थी–मानो अभयकुमार की भाग्यलक्ष्मी उसे भेंटने स्वयं ही चली आ रही हो।

कुआँ लबालब भर गया। कंडा चक्कर काटता हुआ अभयकुमार के सामने आ गया। अभयकुमार ने हाथ बढ़ाकर अँगूठी निकाल ली और उसे अपनी अँगुली में पहन ली···

'मगध के महामंत्रीश्वर की जय', 'सम्राट् श्रेणिक की जय' का तुमुल घोष चारों दिशाओं में फैल गया। औपचारिक रूप से मगधेश्वर द्वारा अभयकुमार की मंत्रीश्वर के पद पर नियुक्ति से पूर्व ही वहाँ उपस्थित जनमेदिनी ने उसे मगध का महाअमात्य, महामंत्रीश्वर मान लिया था।

वृद्ध मंत्री ने अभयकुमार को हर्षविभोर होकर अपने गले से लगा लिया। भीगे कंठ से वे बोले–

"तुम अद्‌भुत हो, युवक ! धन्य हो ! तुम्हारी बुद्धि विचक्षण है। आओ, चलो, सम्राट् प्रतीक्षा में होंगे। वे कहते थे कि क्या अब आर्यावर्त्त मेधावी–महान् पुरुषों से शून्य हो गया है? किन्तु ऐसा कैसे हो सकता था? आर्यावर्त्त की यह पवित्र भूमि, देवभूमि तुम जैसे नर-रत्नों से विहीन कैसे हो सकती थी?"

"नागरिको ! सभ्यो ! और जोर से पुकार लगाओ–मगध के महामंत्रीश्वर की जय !"

और इस बार जो जयघोष उठा वह सम्राट् श्रेणिक के राजप्रासादों से जा टकराया।

श्रेणिक चौंक पड़े–"यह कैसा जयघोष है? मगध के महामंत्रीश्वर की जय ! तो क्या कोई परम बुद्धिनिधान मिल गया? अरे कोई है···· प्रतिहार ! देखो तो सही···· ।"

राजसेवक दौड़ पड़े और कुछ ही समय में उल्टे पैरों दौड़ते आए–"प्रभु ! विजय हो। मंत्रिगण एक अद्‌भुत, अपार तेजस्वी युवक को लेकर आ रहे हैं··· वे आ ही पहुँचे हैं।"

हर्ष से पागल हुई भीड़ प्रासाद से बाहर ही ठहर गई। जयघोष रुकने का नाम ही नहीं लेता था। वृद्ध मंत्री ने अभयकुमार को सम्राट् के समक्ष ले जाकर हाथ जोड़कर कहा–

"सम्राट् श्रेणिक की जय हो। मगधपति की विजय हो। प्रभु, मगध के महामंत्रीश्वर पधारे हैं।"

श्रेणिक अभयकुमार को देखते ही रह गए। उसे देखकर उनके हृदय में भावनाओं का जाने कैसा उफान-सा उठने लगा। उन्हें कुछ ऐसी अनुभूति हो रही थी, उनकी आत्मा कुछ ऐसा कहती प्रतीत होती थी कि तुम, श्रेणिक, इस युवक को जन्म-जन्मान्तर से जानते हो।

कुछ क्षण ऐसी ही भावावेश की स्थिति में रहकर वे बोले–

"तो तुमने वह मुद्रिका उस कुएँ में से निकालकर अपनी अँगुली में पहन ली। तुम्हें साधुवाद देता हूँ। आज से, इसी क्षण से, तुम मगध-साम्राज्य के महामंत्रीश्वर हो। तुमने यह पराक्रम किस बुद्धि-कौशल से किया, यह बाद में पूछूँगा। पहले अपना परिचय तो दो। कौन हो तुम?"

"परदेशी हूँ, राजन् ! वेणातट नगर से आ रहा हूँ।"

'वेणातट' शब्द सुनते ही श्रेणिक की हृदय-वीणा के तार एकाएक झनझना-से उठे। उन्हें कोई भूली-सी कथा याद आती प्रतीत हुई। अत्यन्त आतुर होकर उन्होंने पूछा–

"तब तो तुम 'वेणातट' में श्रेष्ठी सुभद्र को जानते होगे?"

"हाँ, राजन् ! श्रेष्ठी सुभद्र को भी जानता हूँ, और उनकी पुत्री को भी जानता हूँ, तथा उसके पुत्र को भी जानता हूँ।"

"क्या कहा? नंदा को पुत्र हुआ है? अरे मंत्रिवर, आपके राज्य की खटपटों में उलझकर मैं तो भूला ही रहा, मुझसे नंदा के प्रति बड़ा अपराध हुआ। आप शीघ्र ही वेणातट जाइये–लेकिन रुकिए–अच्छा, तो नंदा को पुत्र हुआ है? अब तो वह बहुत बड़ा हो गया होगा–तुम्हारे जितना ही, कैसा है वह? जानते हो उसे भी? मुझे उसके बारे में शीघ्र सब कुछ बताओ।"

सम्राट् श्रेणिक की इस आकुलता और अधीरता को देखकर अभयकुमार के होठों पर मन्द स्मिति छा गयी। कौतुकमय एक चमक उसके विशाल, प्रतापी नेत्रों में झलक उठी। उसने उत्तर दिया–

"राजन् ! नंदादेवी का वह पुत्र मेरा अनन्य मित्र है। बिलकुल, हू-बहू, मेरे जैसा ही दीखता है। कभी-कभी तो लोगों को भ्रम भी हो जाता है।"

"अच्छा, ऐसा है? तब तो वह बहुत सुन्दर होगा। क्या नाम है उसका?"

"सम्राट् ! मेरे उस अनन्य मित्र ने पृथ्वी पर किसी से भयभीत होना नहीं सीखा। वह सर्वथा अभय है। अतः उसका नाम अभयकुमार रखा गया है। इसके अतिरिक्त मैं आपको इतना और बता दूँ कि सुभद्र श्रेणिक की पुत्री नंदादेवी के उस पुत्र और मेरा मन तो एक है ही, तन भी एक ही है।"

अभयकुमार के इस कथन को सुनकर, इस विचित्र उत्तर का आशय तत्काल समझकर बुद्धिमान् महाराज श्रेणिक उछलकर सिंहासन से नीचे आ गए और

सिंह के समान एक ही छलाँग लगाकर अभयकुमार से लिपटकर, उसे अपने आलिंगन में लेकर, उसका मस्तक चूमते हुए बोले–

"बेटे ! अभय ! तूने तो मुझे खूब छकाया। बड़ा शैतान है तू। तेरी बुद्धि की बलिहारी है। अरे मंत्रिवर ! सेनापति जी ! इसी क्षण वेणातट नगर को जाइये और सुभद्र श्रेष्ठी की पुत्री, मगध-साम्राज्ञी महारानी नंदादेवी को सम्पूर्ण आदर सहित लेकर आइये। अभय ! मेरे बेटे ! आओ, मेरे पास बैठो तुम।"

मंत्री और सेनापति को सिर झुकाकर जाते देखकर अभयकुमार ने कहा–

"पिताजी ! महाराज ! किसी को वेणातट जाने की आवश्यकता नहीं है। माताजी मेरे साथ ही आई हैं। वे इस नन्दीग्राम में हैं।"

"क्या कहा? नंदा आई है? अभय, तू बड़ा दुष्ट भी प्रतीत होता है। तूने मुझे अब तक क्यों नहीं बताया? अरे कोई है? मेरा अश्व लाओ ··· ।"

सम्राट् श्रेणिक का हर्ष उनके हृदय में समा नहीं रहा था। धड़धड़ाते हुए वे प्रासाद की सीढ़ियाँ दो-दो, चार-चार कर छलाँगें भरते उतर गए!

राजगृह के राजपथ पर सम्राट् श्रेणिक का अश्व पवनवेग से दौड़ा चला जा रहा था।

हर्षविभोर मंत्रिगण, सेनापति, सेवक, उनके पीछे-पीछे अपने-अपने अश्वों पर भागे चले जा रहे थे।

राजगृह की प्रजा महामंत्रीश्वर अभयकुमार के जयघोष से आकाश गुँजाए दे रही थी।

और राजप्रासाद के एक गवाक्ष में खड़ा मगध का राजकुमार तथा महामंत्रीश्वर अभयकुमार इस आनन्द और उल्लासमय दृश्य को कौतुकपूर्ण एवं संतुष्ट हृदय से देख रहा था।

उसने सोचा–पिताजी को ही जाने देना चाहिए। वर्षों बाद पति-पत्नी को कुछ समय के लिए एकान्त मिलना ही चाहिए।

कितनी-कितनी साधें होंगी दोनों के मन में !

●●

सघन और निर्जन वह वन अत्यन्त भयावह था। सैकड़ों वर्ष पुराने भीमकाय वृक्षों को लताओं ने जकड़ रखा था और आसपास झाड़-झंखाड़ उगे हुए थे। आदमी की तो बात और बिसात ही क्या, सूर्य का प्रकाश भी उस वन में जाने से झिझकता था। बस, झाँकभर लेता था–कभी यहाँ से, कभी वहाँ से।

ऐसे उस विकट वन में, वैभारगिरि पर्वत की एक विशाल, गहरी, अन्ध गुहा में एक बूढ़ा आदमी मामूली-सी अपनी शय्या पर लेटा हुआ खाँस रहा था। उसकी साँस तेज-तेज चलने लगी थी। उसने जान लिया था–बाती अब बुझने को है।

इस अनुभूति ने उसे शक्ति दी और वह अपनी शय्या पर गुफा की दीवार का सहारा लेकर अधलेटा हो गया।

इतने ही श्रम से वह थक गया। कुछ क्षण उसने अपनी साँस को साधने का शान्त प्रयत्न किया और फिर पुकारा–

"बेटा ! अरे कहाँ गया तू? रोहिणेय बेटे !"

राक्षस की-सी विशाल और शक्तिशाली देह वाला, भर यौवन से मदमाता रोहिणेय पिता की पुकार सुनकर तुरन्त भीतर आया और बोला–

"आपने बुलाया बापू? पानी पीना है?"

बूढ़ा अपनी अन्तिम साँसें ले रहा था, किन्तु उसकी आँखें अब भी शेर की आँखों की तरह चमक रही थीं। वह बोला–

"इधर मेरे पास बैठ और सुन। इस तरह मुँह मत लटका। जाने से पहले तुझे दो-एक बातें कह देता हूँ, भूलना नहीं''''।"

"बापू'''' ।"

"इधर मेरे पास आ। बैठ। और सुन। इस तरह 'बापू-बापू' मत कर। तू शेर का बच्चा है। शेर की तरह ही जीवित रह और शेर की तरह ही निडर होकर विचरण कर।"

शेर का बच्चा चुपचाप अपने बूढ़े बाप के पास आकर बैठ गया।

बूढ़े ने थोड़ा सीधे बैठने का प्रयत्न किया और कहने लगा–

"बेटे ! तू इस कुल का सूर्य है। मेरे तो नाम से ही यह राजा और इसकी सेना काँपती है, लेकिन मैं कहता हूँ तेरी तो बात ही निराली है। बाप-दादों से चली आ रही अपनी परम्परागत कला में तू मुझसे भी आगे है। इसलिए तुझे शिक्षा तो क्या दूँ, किन्तु जाते-जाते एक-दो बातें कहे जाता हूँ····।"

"देख बेटा ! यदि तूने इस समय कही गई मेरी बातों को याद रखा तो किसी की शक्ति नहीं जो तुझे परास्त कर सके—अभयकुमार की भी नहीं। सुना है वह बड़ा चतुर है। विचक्षण बुद्धि है उसकी। लोग उसे साक्षात् बृहस्पति का अवतार मानते हैं। और निस्संदेह वह है भी ऐसा ही। वह तुझे छोड़ेगा नहीं···।"

"किन्तु बेटा ! तू अपनी कला में पारंगत है। कला तो कला ही है, भले ही वह चौर्यकला ही क्यों न हो। अभयकुमार विचक्षण व्यक्ति है, तो तू भी विलक्षण है। तेरी और अभयकुमार की परस्पर स्पर्धा को देखने के लिए, काश ! मैं जीवित रह पाता···।"

"किन्तु अब वह सम्भव नहीं। बस, तू इतना करना कि कभी किसी जैन साधु के समीप भी न फटकना। कभी किसी साधु की बात सुनना नहीं। समझा मेरी बात?"

रोहिणेय ने अपनी बड़ी-बड़ी, मक्कारी और धूर्तताभरी आँखें अपने पिता की चमकती हुई आँखों से मिलाईं और उत्तर दिया—

"कुछ समझा, कुछ नहीं समझा, बापू ! यह राजा श्रेणिक और इसकी सारी सेना भी जब मेरा कुछ बिगाड़ नहीं सकते तो फिर कोई साधु मेरा क्या कर लेगा?"

वह वृद्ध पुरुष अब एकदम उठकर सीधा बैठ गया। कहने लगा—

"बेटा ! तू उस महावीर को नहीं जानता। मैं जानता हूँ। वह बड़ा भयानक आदमी है। जब वह बोलता है तब उसके ओठ भी हिलते दिखाई नहीं देते। केवल ध्वनि आती है, और सुनने वाले को ऐसा प्रतीत होता है जैसे स्वयं उसकी आत्मा ही कहीं भीतर से बोल रही है·····।"

"वह महावीर लोगों को पागल बना देता है बेटे ! उसकी बात सुनकर लोग घरबार छोड़कर जंगल में चल देते हैं और उपवास करने लगते हैं। जीवनभर की कमाई धरी-की-धरी रह जाती है। मैं जो कुछ कह रहा हूँ उसे चुपचाप सुन ले और मान ले—कभी किसी साधु की बात सुनना नहीं। उस महावीर के पास तो फटकना भी नहीं। आजकल वह इधर आया हुआ भी है····।"

"भगवान महावीर····।"

बूढ़े की आँखें यकायक मशाल की भाँति जल उठीं–

"हाँ, बेटा ! वही भगवान महावीर। लोग उसे भगवान ही कहते हैं, और वह है भी ऐसा ही। उसे देखकर मुझे डर लगता है। यह जी करने लगता है कि सारी सम्पति, यह सारा संसार छोड़कर उसके पीछे-पीछे चल पड़ूँ। लेकिन बेटा, मेरी तो अब गुज़र गई। यह संसार छोड़कर तो जा ही रहा हूँ। उस महावीर से बच गया यही गनीमत है। तुझे भी यदि अपनी परम्परागत, पैतृक कला की रक्षा करनी हो और इस संसार और जीवन का सुख भोगना हो तो कभी उसकी बात न सुनना। भूल से भी यदि तूने उसकी बात क्षणमात्र के लिए भी सुन ली, तो फिर कहे देता हूँ कि तू इस दुनियाँ का नहीं रहेगा।"

खाँसी आ गई। छाती पर हाथ रखकर बूढ़े ने कुछ दम लिया। अँधेरी गुफा की छत की ओर कुछ क्षण जाने क्या देखता रहा और फिर धीरे-धीरे कहने लगा–

"बेटा ! इस बात को याद रखना। कोई तेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकेगा। इसके साथ ही इतनी और भी सावधानी बरतना, होशियार रहना कि कभी इस दुष्ट अभयकुमार के चक्कर में न पड़ना। इसके जैसा छली और चतुर व्यक्ति इस समय समस्त भरतखंड में नहीं है। यह पापी जिसके पीछे पड़ जाता है, उसका फिर भगवान ही रक्षक है। तूने देखा कि मैंने कुछ समय से बाहर निकलना ही छोड़ दिया था, सो इसी अभयकुमार के कारण। जब से यह आया है, मुझे कभी सुख की नींद नहीं आई। बेटा रोहिणेय ! इस दुष्ट से बचना''''।"

"अभय मंत्रीश्वर की बात कर रहे हैं न बापू? यह लड़का''''।"

"तू इसे लड़का कहता है? अरे, यह काला नाग है। आखिर सम्राट् श्रेणिक का ही तो पुत्र है न? जैसा बाप, वैसा बेटा। बल्कि उससे भी सवाया। जैसा तू है। लेकिन उसे लड़का समझकर भूल मत कर बैठना। इसकी बुद्धि विचक्षण है। मैं थक गया हूँ'''' अब मुझसे'''' बोला नहीं जाता'''' दोनों से बचकर रहना '''' भगवान महा'''' वीर'''' ।"

बूढ़ी काया ढल पड़ी। कराल काल ने लोहे के समान मजबूत लौहखुर की देह को धूल में मिला दिया।

किन्तु अन्तिम श्वास लेने से पूर्व उसने मन ही मन भगवान महावीर से अपने शब्दों के लिए क्षमायाचना भी की।

राक्षस जैसी विशाल काया और क्रूर मुखाकृति वाला रोहिणेय अपने दिवंगत पिता के शव को देखता रहा और सोचता रहा–कैसे होंगे ये दोनों व्यक्ति जिनसे सारे मगध को थर्रा देने वाला मेरा पिता भी डरता था? ● ●

श्रेणिक नीतिज्ञ था। प्रजावत्सल, प्रजा के उत्कर्ष हेतु निरन्तर प्रयत्नशील और जाग्रत मगधपति सम्राट् था वह। उसका प्रशासन न्याय पर आधारित था, व्यवस्थित तथा सुदृढ़ था।

मगधेश्वर श्रेणिक की प्रजा को कोई कष्ट नहीं था, कोई शिकायत नहीं थी, कोई अभाव भी नहीं था। चैन की बंसी बजाती हुई मगध की प्रजा विभिन्न व्यापारों तथा क्रिया-कलापों में व्यस्त और मस्त रहती थी। दिवसभर जीवन के लिए आवश्यक आजीविका के उपार्जन में नीतिपूर्वक लगे हुए लोग सायंकाल को विभिन्न आमोद-प्रमोदों में डूब जाते थे और रात्रि को सुख की नींद सोते थे।

और जब अभयकुमार जैसा राजकुमार आ गया तथा उसने मगध के महामंत्रीश्वर का पद सम्हाल लिया तब तो मगध की सुव्यवस्था में चार चाँद लग गए। राजगृह नगरी अपने वैभव और सौन्दर्य में इन्द्र की अलकापुरी से होड़ लेने लगी।

मगध का प्रत्येक निवासी स्वयं को किसी राजा से कम नहीं समझता था, क्योंकि वह जानता ही नहीं था कि अभाव किस चिड़िया का नाम है? उसके अन्न के भंडार भरे रहते थे और सोना-चाँदी उसकी मंजूषाओं में समाता नहीं था।

ऐसी थी मगध की स्थिति।

किन्तु किसी शान्त सरोवर में सहसा कोई भीमकाय चट्टान टूटकर आ गिरे और उसका जल आन्दोलित हो उठे, उसी प्रकार राजगृह नगरी के शान्त और निश्चिन्त जीवन में रोहिणेय एक धूमकेतु की भाँति आ टूटा।

अपने परम्परागत चौरकर्म के अद्‌भुत कलाकार रोहिणेय का आक्रमण बिजली की तेजी से होता था, और हवा की तरह वह अदृश्य, विलीन हो जाता था। अपनी सघन और भयावह अटवी में से वह दिन या रात को कब निकलकर आता और कब, किसी भी सम्पन्न नागरिक के गृह में चुपचाप प्रवेश करके उसका सर्वस्व लूट ले जाता, यह कोई नहीं जान पाता था।

वेश-परिवर्तन एवं स्वरूप बदल लेने की कला में वह अद्वितीय था। ईंट और पत्थर की तो क्या, फौलाद की दीवारों को भी छेद और भेद डालने में वह दक्ष

था। सेंध लगाना और मजबूत से मजबूत तालों को भी तोड़ डालना, क्षणमात्र में, उसके बाएँ हाथ का खेल था।

जहाँ तक चौर्यकर्म की अपनी कुल-परम्परागत कला का प्रश्न था, रोहिणेय वस्तुतः अपने सुदक्ष बाप लौहखुर का बेटा था। बल्कि बेटा बाप से भी सवाया था। इसीलिए उसके बाप ने मरते-मरते उससे कहा था–तू इस कुल का सूर्य है। यह राजा और इसकी सारी सेना भी तेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकती, लेकिन भगवान महावीर से बचना, बल्कि कभी भी किसी साधु के समीप भी मत जाना– और इस दुष्ट अभयकुमार के चक्कर में न पड़ जाना।

अतः रोहिणेय सावधान और सतर्क था। क्या मज़ाल कि उसकी गतिविधि को कोई भाँप भी सके? क्या मज़ाल कि वह किसी स्थान पर कोई ऐसा सूत्र या प्रमाण छोड़ जाए जिससे उसके कार्य का पता किसी को चल सके।

रोहिणेय अपने कार्य का सच्चा कलावन्त था। इस निपुणता से वह अपना कार्य करता था कि एक बाल के बराबर भी कोई प्रमाण वह अपने पीछे नहीं छोड़ता था।

और न्यायनिष्ठ श्रेणिक के राज्य में बिना प्रमाण के किसी को दण्डित किया जाय यह भी अशक्य था।

लोगों को पता ही नहीं चलता था और आज एक तो कल दूसरा घर खाली हो जाता था। जीवनभर की लोगों की कमाई लूट–चुराकर रोहिणेय हवा में विलीन हो जाता था। लोग अपने खाली घर को देखते ही रह जाते थे।

रोहिणेय ने वैभारगिरि जैसे विशाल पर्वत को खोद-खोदकर पोला कर डाला था, और उसे राजगृह के नागरिकों की अथाह सम्पत्ति से भर डाला था। वह कहाँ रहता है, किधर से आता है, कहाँ गायब हो जाता है–कोई नहीं जानता था।

धीरे-धीरे मगध-सम्राट् की राजधानी में 'त्राहि-त्राहि' मच गई।

लोगों के समूह सम्राट् की शरण में पहुँचे और पुकार लगाने लगे–

"राजाधिराज ! दीनबन्धु ! हमारी रक्षा कीजिए। जाने कौन पापी है जो हमें लूटे जा रहा है। आपके राज्य में हम सुख की नींद सोते थे, किन्तु आजकल हमें अनुभव हो रहा है जैसे हम अनाथ हो गए हैं। हे अनाथों के नाथ ! हमें क्षमा करें। हम पर दया करें। और इस चोर का पता लगाकर उसे दण्ड दें, प्रभु ! अन्यथा यह राजधानी उजड़ जायेगी।"

महाराज श्रेणिक ने जब अपनी दुःखी प्रजा की यह पुकार सुनी तो उनके विस्मय का पार न रहा। उनके रक्त में उबाल आ गया। कोतवाल को बुलाकर उन्होंने गर्जना करते हुए कहा–

"यह मैं क्या सुन रहा हूँ? क्या तुम अफीम खाकर सोते रहते हो? तुम्हारी नाक के नीचे ये घटनाएँ हो रही हैं और तुमने कुछ नहीं किया? मुझे सूचना तक नहीं? तुम्हें लज्जा नहीं आती? मेरी प्रजा को इतना कष्ट है, और मुझे पता भी नहीं? क्या किया तुमने अब तक? तुम किस बात का वेतन राज्य से लेते हो? उत्तर दो।"

कोतवाल को काटो तो खून नहीं।

वह भीतर से बाहर तक काँप उठा था।

जैसे-तैसे साहस जुटाकर उसने उत्तर दिया–

"दीनबन्धु ! दयानिधान महाराज ! मैं क्या निवेदन करूँ? मै जानता हूँ कि यह कार्य उस पापी लौहखुर चोर के महापापी बेटे रोहिणेय का ही है। उसके अतिरिक्त अन्य किसी की मज़ाल नहीं जो आपकी राजधानी में चोरी करने का विचार तक अपने मस्तिष्क में ला सके। किन्तु महाराज ! यह भी सत्य है कि मैं प्रयत्न करके हार गया। सचमुच हार गया, महाराज ! उसे पकड़ने के लिए मैंने क्या कुछ नहीं किया? रातों जागता हूँ। दिन में चैन नहीं लेता। किन्तु वह दुष्ट तो कहीं दिखाई ही नहीं देता। आँधी और तूफान की तरह वह आता है और चला जाता है। भगवान जाने वह उड़कर आता है या नगर की प्राचीर को कूदकर निकल जाता है–कुछ भी तो समझ में नहीं आता, प्रभु !''''''।"

"यह सब बकवास है।" राजा ने गुर्राते हुए कहा–"क्या वह कोई भूत-पिशाच है जो तुम्हें और तुम्हारे सैनिकों को दिखाई नहीं देता?"

"प्रभु ! कोई भूत-पिशाच भी होता तो एक बार तो उससे भी मैं दो-दो हाथ कर लेता। आखिर मैं भी मागध हूँ। आपका, प्रजा का नमक खाता हूँ। प्रजा की गाढ़ी इकाई में से मुझे वेतन मिलता है, महाराज ! मैं जानता हूँ। किन्तु यह महापापी, महाधूर्त्त, महाचतुर रोहिणेय तो भूत-पिशाचों का भी बाप है। मैं विवश हो गया हूँ महाराज ! अपना अपराध अथवा हार मैं स्वीकार करता हूँ।"

कोतवाल ने भूमि पर अपनी दृष्टि रखते हुए जब यह उत्तर दिया तो महाराज श्रेणिक ने अन्तिम बात कही–

"एक सप्ताह का समय तुम्हें और दिया जाता है। इस बीच जैसे भी हो, उसे पकड़कर मेरे सामने उपस्थित करो। अन्यथा अपने घर बैठो।"

"सम्राट् ! आप न्यायी हैं। दयालु हैं। यह एक सप्ताह की अवधि जो आप मुझे प्रदान कर रहे हैं, वह भी आपकी दयाभावना का ही प्रतीक है। अन्यथा और कोई राजा होता तो मैं अब तक फाँसी के फन्दे में ही झूल रहा होता। लेकिन महाराज ! मुझ पर थोड़ी दया और भी कीजिए। मुझे अधिक लज्जित न करके इसी क्षण यह कोतवाल का पद किसी अन्य व्यक्ति को सौंप दीजिए। मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ। इस रोहिणेय को पकड़ना मेरे वश की बात है ही नहीं प्रभु .... ।"

इतना कहते-कहते कोतवाल ने अपनी पगड़ी और तलवार सम्राट् श्रेणिक के चरणों में आदर सहित रख दी।

उसी समय अभयकुमार ने वहाँ प्रवेश किया।

यह नाटकीय स्थिति देखकर तथा संक्षेप में सारी बात की जानकारी सूक्ष्मतापूर्वक ले लेने के पश्चात् उसने कहा–

"कोतवाल ! पगड़ी अपने सिर पर रखो और तलवार कमर में बाँधो। संसार में ऐसा कोई कार्य नहीं जो धैर्य, साहस और बुद्धि के बल पर पूरा न किया जा सके। चलो मेरे साथ।"

कोतवाल को यह आदेश देने के बाद अभयकुमार ने सम्राट् श्रेणिक की ओर देखते हुए कहा–

"महाराज ! आप चिन्ता न करें। आज से इस समस्या का समाधान मेरे जिम्मे रहा।"

फरियाद लेकर आये हुए सभ्य नागरिक मंत्रीश्वर अभयकुमार की जय बोलते हुए अपने-अपने घर लौट गए।

× × ×

अब सूत्र अभयकुमार ने अपने हाथ में ले लिये थे।

राजगृह के नागरिकों को यह जानकर बहुत आश्वस्ति मिली थी। उन्हें विश्वास था कि जिस कार्य को अभयकुमार अपने हाथ में लेगा, उसे पूर्ण करके ही मानेगा। उसकी बुद्धि और विवेक में, उसके चातुर्य तथा पराक्रम में लोगों की आस्था ऐसी ही दृढ़ हो चली थी।

अभयकुमार ने सर्वप्रथम एकान्त में कोतवाल को बुलाकर उससे पूछा–

"वह रोहिणेय चोर तुम्हें कभी दिखाई भी देता है?"

"हाँ, मंत्रीश्वर ! कभी-कभी दिखाई तो देता है, और दिन-दहाड़े दिखाई देता है। किन्तु उस समय वह ऐसे सभ्य नागरिक के समान व्यवहार कर रहा होता है

कि मेरा साहस उसे पकड़ने का नहीं होता। मैं तो बड़े पशोपेश में हूँ। जानता हूँ कि वही है जिसने यह सारा उत्पात मचा रखा है, किन्तु एक राई या रत्ती के बराबर प्रमाण भी उसके विरुद्ध मेरे पास नहीं है। वह कहीं, कोई प्रमाण छोड़ता ही नहीं।"

"मंत्रीश्वर ! अब आप ही आज्ञा दें कि ऐसी स्थिति में मैं क्या करूँ? उसे पकड़ भी लूँ तो क्या होगा? क्या आप केवल अनुमान के आधार पर उसे दण्ड देंगे?"

"नहीं, कोतवाल ! सम्राट् श्रेणिक के राज्य में केवल अनुमान के आधार पर किसी को दण्ड नहीं दिया जा सकता है। प्रमाण तो चाहिए ही। वह प्रमाण खोजना ही होगा। और जैसा तुम कहते हो, वैसा ही चतुर यदि यह चोर है, तो निश्चय ही प्रमाण खोजना कठिन कार्य ही होगा।"

"किन्तु ऐसे कठिन कार्य करने में ही आनन्द भी है। तुम सजग रहो। वेश-परिवर्तन में वह निपुण है, किन्तु इस बार जब वह दिखाई दे और पहचान में आ जाय, तो मुझे तुरन्त सूचित करना। आगे का आदेश मैं तुम्हें उसी समय परिस्थिति का विचार करके दूँगा। एक बार उसे पकड़कर उससे बात तो करनी ही होगी।"

अभयकुमार ने यह आदेश कोतवाल को दिया और कुछ विचारमग्न रहा। फिर बोला–

"अच्छा, अब तुम जाओ। मैंने जो कुछ कहा है वह ध्यान में रखना।"

कोतवाल सिर झुकाकर और प्रणाम करके चला गया। अभयकुमार अपने गुनताड़े में लग गया।

× × ×

उन दिनों भगवान महावीर राजगृह नगरी को पावन कर रहे थे। नगरी से बाहर एक उद्यान में वे विराजे हुए थे। प्रतिदिन उनके दर्शन करने तथा उनका मंगलमय उपदेश सुनने, सुनकर अपने जन्म-जन्मों के पापकर्मों का क्षय करने हजारों नागरिक आया-जाया करते थे।

बल्कि सारी नगरी ही उमड़ी पड़ती थी।

भगवान के दर्शनमात्र संसारी जीवों को आत्म-कल्याण के मार्ग में प्रेरित करने वाले सिद्ध हो रहे थे। प्रभु की शान्त, मनोज्ञ, सौम्य मुखमुद्रा प्राणियों के हृदयों में स्वतः ही प्रेम, दया, अहिंसा और उत्तम पावन भावनाओं का संचार करती थी।

रोहिणेय चोर जब कभी अपनी गुफा से निकलकर वन को चीरता हुआ बाहर आता और नगरी की ओर जाता था तो उसे उसी मार्ग से आना-जाना

पड़ता था, जिस मार्ग पर वह उद्यान था, जिसमें भगवान महावीर विराजमान थे। दूसरा मार्ग बहुत लम्बा था। रोहिणेय को अपने पिता की बात याद थी। अतः जब वह उस उद्यान के समीप पहुँचता था जिसमें भगवान उपदेश प्रदान करते थे, तब वह वहाँ से, कुछ दूरी से ही तेज-तेज कदमों से निकल जाता और साथ ही अपने कानों में अँगुलियाँ भी डाल लेता था, ताकि भगवान के श्रीमुख से निकला एक शब्द भी उसके कानों में पड़ न जाय।

एक दिन रोहिणेय उधर से जा रहा था। जब वह ठीक उद्यान के सामने पहुँचा तब संयोगवशात् एक तीक्ष्ण शूल उसके पैर में चुभ गया। वेदना इतनी तीव्र थी कि रोहिणेय एक 'आह' करके बैठ गया और सहज ही अपने कानों से अँगुलियाँ हटाकर शूल निकालने लगा।

शूल तो निकल गया, और रोहिणेय भी शीघ्र ही आगे बढ़ गया, किन्तु इतने ही समय में उसके कानों में भगवान महावीर द्वारा कहे गए ये शब्द पड़ गए–

"देवताओं की पलकें नहीं झपकतीं। उनके गले की मालाएँ कभी नहीं मुरझातीं। उनकी देह पसीने आदि से मैली नहीं होतीं ..... ।"

केवल इतने ही शब्द।

रोहिणेय ने सोचा–मेरा क्या बिगड़ता है? देवताओं की पलकें झपकें या न झपकें, उन्हें पसीना आए या न आए–मुझे इससे क्या लेना-देना? चलो, अच्छा ही हुआ कि कोई ऐसी बात मेरे सुनने में नहीं आई जिससे मैं अपने कर्त्तव्य-पथ से विचलित हो जाता या मेरा कोई अकल्याण होता। भाड़ में जायें देवी-देवता और चूल्हे में जायें उनके गले की मालाएँ। मुझे क्या?

रोहिणेय निश्चिन्त हो गया और भूल गया कि किसी साधु के–स्वयं भगवान महावीर के–कोई वचन कभी उसके कान में पड़ गये थे।

उस समय उस पापात्मा ने नहीं जाना कि शूल गड़ने और भगवान के कुछ ही शब्द उसके कानों में पड़ जाने के संयोग का क्या महत्त्व है?

यह संयोग उसके जीवन की रक्षा करने वाला सिद्ध होगा–उसने नहीं जाना।

यह संयोग उसके जन्म-जन्मान्तरों के भव-चक्र को ही समाप्त कर देगा–उसने नहीं सोचा।

आइये, देखें, यह कैसे हुआ।

आगे क्या हुआ–

× × ×

एक दिन रोहिणेय तरंग में था। धन-सम्पत्ति की उसके पास कोई कमी तो थी नहीं–अथाह थी–और कोतवाल उसे तो क्या, उसकी छाया को भी नहीं छू पाया था–अतः वह उस दिन कुछ विशेष ही तरंग में था। नामूली से एक ग्रामीण का हू-बहू वेश बनाए वह राजगृह के एक मदिरालय में बैठा सुरा और सुन्दरी का रसपान कर रहा था।

कोतवाल ने उसे दूर से देखा, शंका हुई, समीप आकर छिपकर देखा, पहचान ही लिया और उल्टे पैरों दौड़कर अभयकुमार को सूचना दी–

"प्रभु ! वह पापी आज एक मदिरालय में बैठा है। क्या आज्ञा है?"

"पकड़ लाओ।"–शान्तिपूर्वक मंत्रीश्वर ने आदेश दिया।

सैनिकों की एक पूरी छोटी-मोटी सेना ले जाकर कोतवाल ने उस मदिरालय को घेर लिया। आखिर उसका पाला किसी सामान्य चोर से नहीं, रोहिणेय से पड़ा था, जो प्रगट होने तथा अदृश्य होने में अपनी तरह का एक ही कलाकार था।

कोतवाल यह जानता था। इसीलिए उसने उस मदिरालय का चप्पा-चप्पा सैनिकों से घेर लिया था। उसे ज्ञात था कि यदि रोहिणेय को तनिक भी आशंका हो गई तो वह हवा हो जायेगा और फिर ऐसा अवसर वह भविष्य में कभी नहीं देगा। अतः आज का अवसर चूकना नहीं है। एक बार तो उसे पकड़कर मंत्रीश्वर के सामने ला ही देना है। आगे मंत्रीश्वर जानें।

पूरा घेरा डालकर कोतवाल कुछ सैनिकों के साथ मदिरालय में घुस पड़ा। रोहिणेय की ओर संकेत करते हुए उसने सैनिकों को आदेश दिया–

"घेर लो। पकड़ लो इसे।"

रोहिणेय की एक भृकुटि तनिक-सी ऊँची उठी, किन्तु वह अपने स्थान से हिला नहीं और किसी प्रकार की घबराहट का भी उसने प्रदर्शन नहीं होने दिया। एक भी लक्षण उसके चेहरे पर ऐसा प्रगट नहीं हुआ जिससे प्रतीत हो कि जैसे वह अपराधी है और उसे पहचान लिया गया है।

बल्कि इसके विपरीत दूसरी ओर मुँह फेरकर मस्ती भरी आवाज में मदिरालय की एक सेविका को पुकारते हुए उसने कहा–

"अरी ओ सोमसुन्दरी ! थोड़ा सोमरस तो और पिलाओ। आज बड़ी थकान महसूस हो रही है।"

तब तक सैनिकों ने उसे घेर लिया था। कोतवाल ने आगे बढ़कर उससे कहा–

"रोहिणेय ! चलो, तुम्हारी मस्ती के दिन अब पूरे हुए।"

रोहिणेय ने बड़ी सहजता से आश्चर्य के भाव अपने मुख पर लाकर कोतवाल से कहा–

"कोतवाल जी ! आपको कोई भ्रम हुआ है। यह किस रोहिणेय की बात आप कर रहे हैं? मेरा नाम तो दुर्गचंड है।"

"अच्छा? ठीक है। तो दुर्गचंड जी, आप ही पधारिए। मंत्रीश्वर को आपसे कुछ काम है।"

"मंत्रीश्वर'''' यानी अभयकुमार'''' यह सुनते ही एक बार तो रोहिणेय की काया काँप गई। उसे अपने पिता के शब्द याद आए–इस अभयकुमार से बचकर रहना–किन्तु दूसरे ही क्षण वह स्वस्थ और सावधान दिखाई पड़ा। बोला–

"मंत्रीश्वर ! अर्थात् महामंत्रीश्वर अभयकुमार?"

"जी हाँ, दुर्गचंड जी ! मंत्रीश्वर, अर्थात् महामंत्रीश्वर अभयकुमार। और कोई शंका है?"

"शंका? भला मुझे क्या शंका हो सकती है? मैं तो एक सीधा-सादा भला नागरिक हूँ, कोतवाल साहब। मुझे क्या शंका हो सकती है?"

"रोहिणेय !"–कुछ क्रोध भरे स्वर में राजगृह के प्रचण्ड कोतवाल ने कहा–"समय बरबाद मत करो। तुम कितने चतुर हो, तम्हारे दुर्ग कितने सुदृढ़ हैं, यह मंत्रीश्वर देख लेना चाहते हैं। और तुम्हारी प्रचंडता अब प्रतापी मंत्रीश्वर के सामने कितनी देर टिकती है, तुम्हारी चतुराई हमारे चतुर शिरोमणि मंत्रीश्वर अभयकुमार के चातुर्य के समक्ष किस हिसाब में बैठती है, यह मुझे भी देखना है। उठो।"

अब रोहिणेय के समक्ष अन्य कोई उपाय नहीं रहा। वह उठकर खड़ा हो गया। सैनिकों के घेरे में वह चुपचाप चल पड़ा। सोचता चला जा रहा था–तो अब सीधी टक्कर अभयकुमार से ही होनी है। चल बेटा दुर्गचंड, एक न एक दिन तो यह होना ही था।

● ●

घड़े पाप के हों कि पुण्य के, एक न एक दिन भर ही जाते हैं।

रोहिणेय को लेकर जब कोतवाल अभयकुमार के आवास में पहुँचा तब अभयकुमार एक बड़े-से गवाक्ष के पास एक ऊँचे सिंहासन पर बैठा था। अपने पैर उसने इतमीनान के साथ सामने पड़ी एक चौकी पर फैला रखे थे। हाथ में एक पुस्तक थी, जिसे पढ़ने का अभिनय वह कर रहा था। किन्तु उसकी सतर्क दृष्टि सामने ही पड़े हुए एक छोटे-से दर्पण में सारे कक्ष को देख रही थी।

उसकी पीठ द्वार की ओर थी जिसमें से कोतवाल ने रोहिणेय के साथ प्रवेश किया था। अभयकुमार ने उस दर्पण में सब कुछ देखा किन्तु जान-बूझकर अनदेखा करता हुआ पुस्तक पढ़ने के अभिनय में व्यस्त रहा।

कोतवाल ने कुछ क्षण प्रतीक्षा की, फिर धीरे से खाँसकर उसने अपनी उपस्थिति प्रकट करने का यत्न किया।

किन्तु अभयकुमार ने फिर भी पीछे मुड़कर नहीं देखा। इस बीच वह वस्तुतः पुस्तक का नहीं, बल्कि दर्पण में दिखाई देती हुई रोहिणेय की मुखाकृति का सूक्ष्म अध्ययन कर रहा था।

कुछ क्षणों में ही उसने जान लिया कि यह चोर कोई साधारण चोर नहीं है और प्रमाण सहित इसे पकड़ लेना सरल बात नहीं है।

कोतवाल ने अब साहस करके कहा–

"मंत्रीश्वर की जय हो ! सेवक रोहिणेय चोर को पकड़ लाया है।"

अभयकुमार ने अब भी पीछे मुड़कर नहीं देखा। पुस्तक पर ही दृष्टि गड़ाए हुए वह गरजकर बोला–

"तुम गधे हो कोतवाल ! चोर को पकड़कर लाए हो तो उसे बन्दीगृह में क्यों नहीं पटक देते, हथकड़ी-बेड़ियाँ डालकर? ले जाओ इसे, वहीं सड़ने दो। मैं अभी व्यस्त हूँ। जाओ।"

बेचारा कोतवाल हक्का-बक्का रह गया। इस अभयकुमार की माया भगवान ही जाने, यह सोचकर वह मुड़ने को ही हुआ कि रोहिणेय बोल उठा–

"दुहाई है मंत्रीश्वर ! मैं निरपराध हूँ। आपके जैसे न्यायनिष्ठ मंत्रीश्वर के राज्य में किसी भोलेभाले निरपराध किसान को ऐसा कठोर दण्ड दिया जाना क्या उचित है?"

कुर्सी घूमने वाली थी।

एक झटके के साथ अभयकुमार घूमा और अपनी पैनी दृष्टि रोहिणेय पर डालकर बोला–

"क्या नाम है तुम्हारा?"

"गरीब दुर्गचंड हूँ, प्रभु ! मैंने कोतवाल जी को बता दिया था।"

"क्या मतलब? तुम दुर्गचंड हो तो इस कोतवाल ने क्या घास खाई है जो तुम्हें पकड़कर लाया है? क्यों जी, कोतवाल?"

"स्वामी ! यह झूठ बोल रहा है, सफेद झूठ बोल रहा है। यह पूरा धूर्त है। इसकी बात का विश्वास न करें।"–सिर पीटते हुए कोतवाल ने कहा।

अभयकुमार के स्वर में मानो एकाएक शहद घुल गया हो, इतनी मधुर आवाज में उसने कहा–

"क्यों भाई दुर्गचंड, तुम रहते कहाँ हो?"

"कुछ दूर पर एक शालिग्राम नामक ग्राम है। मंत्रीश्वर ! मैं वहीं पड़ा रहता हूँ। गरीब आदमी हूँ।"

"अच्छा, अच्छा, डरो नहीं। इस कोतवाल ने तुम्हें व्यर्थ ही परेशान किया। वहाँ तुम करते क्या हो?"

रोहिणेय के जी में आया कि कह दे–डरना तो मेरे बाप ने मुझे सिखाया ही नहीं–किन्तु सामने जो व्यक्ति बैठा था उसका नाम था अभयकुमार। इस नाम वाले व्यक्ति की महिमा को वह जानता था। अतः विनम्रतापूर्वक ही बोला–

"मंत्रीश्वर ! आपकी जैसी प्रशंसा सुनी थी, वैसा ही आपको पाया। दूध का दूध और पानी का पानी कर देते हैं–आप। वरना ये कोतवाल जी तो मुझे कच्चा ही चबा डालते। प्रभु, शालिग्राम ग्राम में कभी कुछ खेती–किसानी कर लेता हूँ, कभी मेहनत-मजूरी भी कर लेता हूँ, भगवान ने जैसी भी बुद्धि दी है, उसके अनुसार कुछ भी उठा-पटक करके इस पापी पेट को भर लेता हूँ।"

वह शालिग्राम नामक ग्राम कहाँ था, और वहाँ कोई दुर्गचंड नामक व्यक्ति रहता था कि नहीं, आदि बातों का पता लगाना अभयकुमार के लिए तनिक भी

कठिन नहीं था। किन्तु उसकी योजना ही दूसरी थी। उसने अपनी मीठी आवाज में कहा–

"अच्छा, अच्छा, ठीक है। अरे कोतवाल, तुम तो निरे मूर्ख हो। इस गरीब आदमी को व्यर्थ ही पकड़ लाए। इसका गाँव भी दूर है। वहाँ पहुँचते-पहुँचते अब रात हो जायेगी। अँधेरे में कहाँ जायेगा बेचारा? अतः अब आज रात यह मेरा ही अतिथि रहेगा। खाना-वाना खा-पीकर मुझे कुछ देहात के किस्से सुनाएगा, सुबह चला जायेगा। तुम जाओ और उस धूर्त्त रोहिणेय की तलाश करो।"–अभयकुमार ने यह आदेश कोतवाल को दिया और फिर रोहिणेय से कहा–"ये कोतवाल लोग सब गधे होते हैं। चलो, शाम हो चली है, भोजन के लिए तैयार हो जाओ।"

कोतवाल का तो सिर ही घूमने लगा था। वह कुछ भी समझ नहीं सका कि मंत्रीश्वर यह कर क्या रहे हैं। किन्तु अन्ततः वह इतना तो समझ ही गया कि अभयकुमार के इस सारे व्यवहार में कोई गहरी चाल अवश्य है।

वह चुपचाप चला गया।

उधर रोहिणेय मन ही मन अपने आप से कह रहा था–सावधान रहना बेटा रोहिणेय, यह अभयकुमार का चक्कर है।

भोजन के समय अभयकुमार ने रोहिणेय की बड़ी खातिर की। नाना प्रकार के पकवानों के अतिरिक्त अंगूरों की उत्तम सुवासित मदिरा उसे पीने के लिए दी गई। रोहिणेय ने ऐसी उत्तम मदिरा कभी पी नहीं थी। जैसे-जैसे वह उसके घूँट पर घूँट लेता जाता था, उसकी प्यास बढ़ती ही जाती थी। वह यही सोचता था कि अभी तो कुछ पी ही नहीं। आनन्द का एक अनन्त समुद्र जैसे उसके सामने लहरा चला था।

अभयकुमार उसके ये रंग-ढंग देख रहा था और मन ही मन मुस्करा रहा था। बीच-बीच में कह देता–"मैं तो मदिरापान करता नहीं भाई दुर्गचंड, इसलिए इसके विषय में कुछ जानता भी नहीं। किन्तु तुम ध्यान रखना। अधिक न पीना। भोजन भी करना है।"

किन्तु वहाँ अब न दुर्गचंड था और न ही रोहिणेय। वहाँ तो जैसे अब कोई जन्म-जन्म का प्यासा मदिरा-व्यसनी व्यक्ति था जिसकी प्यास बुझना जानती ही नहीं थी।

रोहिणेय ने जी भरकर मदिरापान किया और पूर्णतः बेभान हो गया।

उसकी इस मदमस्त अवस्था में अभयकुमार की आज्ञा से उसे एक ऐसे सतखंडे महल में ले जाया गया जिसकी तैयारी चतुर मंत्रीश्वर ने विशेष रूप से

की थी। वह महल बड़े परिश्रमपूर्वक इस प्रकार से तैयार कराया और सजाया गया था कि वह साक्षात् इन्द्र का ही आवास दिखाई देता था। पृथ्वी पर ऐसा भव्य और सुन्दर प्रासाद अन्यत्र कहीं नहीं था। बिल्लौरी काँच के अद्‌भुत झाड़-फानूस छत से लटक रहे थे और उनमें सोने-चाँदी की घंटियाँ टँगी हुई थीं। दरवाजों और गवाक्षों पर सोने-चाँदी के तारों वाले परदे लटक रहे थे। फर्श पर बढ़िया मखमली कालीन बिछे थे। स्थान-स्थान पर पारिजात पुष्पों के पुष्पदान रखे हुए थे। उनकी भीनी, मादक सुरभि कपूर, अगरू और चन्दन की सुगन्ध के साथ मिलकर उस भव्य कक्ष को देवधाम का स्वरूप प्रदान कर रही थी। अनेकों दास-दासियाँ देवताओं-देवियों जैसे वस्त्र धारण किए हुए इधर-उधर अपने-अपने स्थान पर नियुक्त थे। दासियों का रूप देवांगनाओं को भी हतप्रभ करने वाला था। उनका एक-एक कोमल कटाक्ष बिजली की तरह गिरता था।

अभयकुमार की ये देवांगनाएँ वीणा और बाँसुरी आदि अनेक वाद्यों पर मधुर राग-रागिनियाँ छेड़ रही थीं।

रोहिणेय को मत्त अवस्था में ही उठाकर इस प्रासाद में एक सुन्दर रत्नखचित पर्यंक पर सुकोमल दुग्ध-धवल शय्या पर लिटा दिया गया था।

बहुत समय तक रोहिणेय उस शय्या पर बेभान पड़ा रहा।

वह जब होश में आया तब उसने अपनी मद-बोझिल पलकें उठाकर जो दृश्य देखा उसे देखता ही रह गया। चकित, ठगा-सा वह कभी इधर देखता, कभी उधर। उसे विश्वास नहीं हो रहा था कि वह जीवित है। वह समझ नहीं पा रहा था कि वह कोई स्वप्न देख रहा है या कोई वास्तविक परिवेश।

उसने अपने तेज नाखून अपने शरीर में गड़ाकर देखा। खून निकल आया।

तो यह स्वप्न नहीं है।

स्वप्न यदि नहीं है, तो फिर वह कहाँ है? कौन है? वह जो भी, और जहाँ भी है, वहाँ किस प्रकार आ पहुँचा?

उसे जागा हुआ देखकर कुछ सुन्दरियों ने छमछमाते हुए आकर उसे घेर लिया। कँटीले कटाक्षपात करती हुई कोई पंखा झलने लगी, कोई पैर दबाने लगी, किसी ने सुवासित मदिरा का चषक आगे बढ़ा दिया, कोई हाथ जोड़कर कहने लगी–

"देव ! हम लोगों के पुण्य के प्रताप से आप आज मर्त्यलोक से मृत्यु को प्राप्त कर अपने अनेक पुण्यकर्मों के बल से इस देवलोक में उत्पन्न हुए हैं। हम

सब देव-देवियाँ आपके दास-दासियाँ हैं। देवराज इन्द्र की आज्ञा है कि आपके मनोरंजन में कोई कोर-कसर उठा न रखी जाय। वे शीघ्र ही आपसे भेंट करेंगे। तब तक आप विश्राम कीजिए। मधुर स्वर्गीय संगीत से मन बहलाइये।"

इतना कहकर कुछ 'देवियों' ने संगीत की वह लहरी छेड़ी कि रोहिणेय झूम उठा।

उसी समय एक प्रतिहार झिलमिलाते हुए स्वर्ण-परिधान में हाथ में एक रत्न-जटित दण्ड लेकर भीतर आया और कहने लगा–

"देव की जय हो ! हमारे नए स्वामी की विजय हो ! किन्तु अरे देवियो ! तुम अपने नए स्वामी को प्राप्त करने की खुशी में इस देवलोक का आरम्भिक नियम कैसे भूल गईं? देवराज क्रुद्ध होंगे।"

एक 'देवी' ने सिटपिटाने का अभिनय करते हुए कहा–

"हे प्रतिहार ! आप तो इस देवलोक में चिरकाल से हैं। सभी नियमों से परिचित हैं। हमसे कौन-सी भूल हुई है?"

"अरे, तुम भूल गईं कि इस देवलोक में पदार्पण करने वाले प्रत्येक देवता को एक बार परिपाटी का पालन करने के लिए मर्त्यलोक में किए गए अपने सभी सुकर्मों का, और यदि कभी भूल से हो गया हो तो किसी कुकर्म का भी वर्णन करना होता है? यह एक परिपाटी भर है। किन्तु इसका पालन करने से वह कुकर्म क्षीण हो जाता है और फिर वह देवता चिरकाल तक इस देवलोक के भोग-विलासों का मनचाहा आनन्द लूटता है।"

इतनी डाँट अभयकुमार की उन 'देवियों' को लगाकर उस प्रतिहार ने पुनः रोहिणेय को प्रणाम किया और कहा–

"देव ! परिपाटी का पालन आवश्यक है। और यह आपके अपने ही हित में है। कृपया अपने मनुष्य-जन्म की कथा संक्षेप में कह डालने का कष्ट करें। फिर मेरा यहाँ क्या काम? आप हैं और ये देवियाँ।"

"मनुष्य-जन्म में मैं वैभारगिरि पर्वत की एक गुफा में···· ।"

रोहिणेय इतना ही बोल पाया था कि उसकी दृष्टि एक 'देवी' की उठती-गिरती, झपकती पलकों पर जम गई····

उसके मस्तिष्क में सहसा एक बिजली-सी कौंध गई। दृष्टि घुमाकर उसने चारों ओर देखा–लम्बी-लम्बी बरौनियों वाली, रसीली पलकों की झपाझप मची थी····

निमिषमात्र में वह सावधान हो गया। उसने गौर से देखा–बहुत देर से उसके जगाने की प्रतीक्षा में सजी-सँवरी 'देवियों' के गले-केश-हाथों आदि के पुष्पहार कुम्हलाने लगे थे।

रोहिणेय को कुछ स्मरण हुआ–"देवी-देवताओं की पलकें कभी झपकती नहीं, उनके गले की मालाएँ कुम्हलाती नहीं····।"

कुछ क्षण रोहिणेय गंभीरतापूर्वक विचार करता रहा और फिर एक तीव्र अट्टहास से उसने सारे कक्ष को गुँजा दिया, तथा फिर शान्त होकर मुस्कराता हुआ कहने लगा–

"हाँ, तो मैं कह रहा था कि मनुष्य-जन्म में मैं मगध देश में वैभारगिरि पर्वत की एक गुफा में रहता था। बड़ा भयावह और विकट वन था वह। वहाँ कोई मनुष्य जाने का साहस नहीं करता था। दिन के समय भी घोर अन्धकार उस सारे वन में छाया रहता था।"

"उस विकट वन में, पर्वत की उस गुहा में रहकर मैं घोर तपस्या करता था। हे प्रतिहार ! मेरी उस विकट तपस्या के फलस्वरूप मुझे इस देवलोक में अब जन्म मिला है। सत्य है, पुण्यकर्मों के शुभ फल मनुष्य को अवश्य ही प्राप्त होते हैं।"

इतना कहकर रोहिणेय फिर से मक्कारीपूर्वक हँस पड़ा। प्रतिहार को लगा कि बाजी हाथ से जा रही है। किन्तु उसने पुनः प्रयत्न किया और कहा–

"धन्य है, देव ! आपकी उस तपस्या को धन्य है। आप पुण्यात्मा हैं। किन्तु देव ! तपस्या में दत्तचित्त होने से पूर्व गृहस्थ-जीवन में आप क्या करते थे? उस समय आपसे यदि कोई छोटी-मोटी भूल हो गई हो, कभी किसी अन्य व्यक्ति की कोई वस्तु आपके द्वारा भूल में व्यवहार में ले ली गई हो, तो कृपया उसका भी वर्णन कर दीजिए। सत्य-कथन से सभी भूलों का परिमार्जन हो जाता है।"

रोहिणेय उसी प्रकार मुस्कराता हुआ बोला–

"अरे भाई, भला मेरे जैसा पुण्यात्मा ऐसी भूल कैसे कर सकता है? मेरे पिता ने मुझे ऐसी शिक्षा दी थी कि जीवन में कभी किसी व्यक्ति ने मुझे किसी दूसरे की वस्तु उठाना तो दूर, कभी स्पर्श करते हुए भी नहीं देखा। मैं बहुत सावधान रहता था। जो मिला, वह ले लिया और परमात्मा का स्मरण किया। गृहस्थ-जीवन में मैंने तो बस इस हाथ से लिया और उस हाथ से धर दिया। और प्रतिहार महोदय ! अब आप तशरीफ ले जाइये और अपने 'इन्द्रदेव' से कहिए कि गरीब दुर्गचंड अपने घर जाना चाहता है। आपका यह इन्द्रलोक मुझ गरीब को रास नहीं आ रहा।"

रोहिणेय ने इस द्विअर्थी भाषा का प्रयोग बड़ी चतुराई से किया था।

प्रतिहार जान गया कि यह धूर्त साफ बच निकला। निराश होकर वह लौट गया। जाते समय कोई विनय उसने रोहिणेय देव के प्रति प्रदर्शित नहीं किया।

प्रतिहार के चले जाने पर रोहिणेय उठकर खड़ा हो गया। देवी-देवताओं को उसने कक्ष छोड़कर चले जाने का आदेश दिया। एकान्त हो जाने पर वह इधर-उधर टहलता हुआ गंभीर चिन्तन में डूब गया।

वह सोच रहा था–आज प्राण बच गए। भगवान महावीर के उन दो ही वचनों ने आज मेरा उद्धार कर दिया। यदि उनके वे शब्द उस दिन मेरे कानों में न पड़ गए होते, और आज भगवान के उन वचनों का स्मरण मुझे न आया होता–तो क्या होता?

आह ! मैं अब तक शायद सूली पर चढ़ा दिया गया होता। मेरे पिता ने तो कहा था कि कभी किसी साधु की बात न सुनना, उसके समीप तक न जाना। उन्होंने अपनी दृष्टि से यह कहा था। किन्तु उनकी यह दृष्टि, ज्ञानदृष्टि तो नहीं थी····

रोहिणेय का चिन्तन गंभीर से गंभीरतम होता चला गया। उसने विचार किया–जिस महापुरुष के केवल दो ही बोलों ने आज मुझे भीषण नरक की यातना से बचा लिया, वह महापुरुष कितना महान् होगा?

यदि उस महापुरुष के कथनानुसार जीवनयापन किया जाय तो इस पापी आत्मा का कितना कल्याण हो? हाय ! मैं भटका हुआ था। भूला हुआ था। हे भगवन् ! तुमने मुझे अंधकार से प्रकाश में ला दिया····

रोहिणेय विचार करता चला गया। उसके हृदय में एक ऐसा संकल्प जाग रहा था जिसकी आज तक उसने कल्पना तक नहीं की थी।

प्रतिहार रोहिणेय को छोड़कर अभयकुमार के पास पहुँचा और हाथ जोड़कर बोला–

"प्रभु ! वह चतुर पापी तो जाल में फँसता-फँसता साफ बच निकला। केवल एक ही वाक्य और निकलना उसके मुख से शेष था, किन्तु वह वाक्य नहीं निकला। अपने पाप का कथन करते-करते ही वह बात को एकदम बड़ी चतुराई से बदल गया। उसका सम्मोहन निमिषमात्र में ही जाने कैसे टूट गया और वह सावधान हो गया।"

आदि से अन्त तक पूरी बात अभयकुमार ने सुनी, कुछ क्षण मौन रहकर विचार किया और फिर वह उठकर चल पड़ा।

रोहिणेय के पास आकर उसने कहा–

"मित्र ! तुम आज बच गए। चिन्ता नहीं। तुम जा सकते हो। किन्तु सावधान रहना–यह मगध है, यहाँ सम्राट् श्रेणिक का राज्य है और अभयकुमार यहाँ का व्यवस्थापक है। अभयकुमार की व्यवस्था में अनीति के लिए स्थान नहीं है। भूलना नहीं। आज तुम्हारे किसी पुराने पुण्य ने तुम्हारी रक्षा की है, किन्तु अब तुम अपने पापों का प्रायश्चित्त करने के लिए प्रस्तुत रहना। जा सकते हो।"

जाने के स्थान पर रोहिणेय अभयकुमार के पैरों पर गिर पड़ा। बोला–

"मंत्रीश्वर ! मुझे क्षमा कीजिए। मैं अपने पापों का प्रायश्चित्त करने के लिए प्रस्तुत हो चुका हूँ। आपने ठीक ही कहा कि आज मेरे किसी पूर्व के पुण्य ने मेरी रक्षा की है। उसी पुण्य के प्रभाव से भगवान महावीर के दो बोल एक दिन मेरे कानों में पड़ गए थे, और उन्हीं दो वचनों के स्मरण से मैं आज सावधान हो सका।"

"मंत्रीश्वर ! मेरी आँखें खुल चुकी हैं। यदि भगवान के वे वचन मुझे स्मरण में न आते तो आपके इस भयानक इन्द्रजाल में से निकलना मेरे लिए असंभव था।"

यह सुनकर अभयकुमार विस्मय से रोहिणेय को देखता ही रह गया।

"मंत्रीश्वर ! मैं चोर हूँ। मेरा नाम रोहिणेय ही है। राजगृह में यह सारा उत्पात मैंने ही मचा रखा है। मुझे दण्ड दीजिए। आज तक जो सम्पत्ति मैंने चुराई है, वह सारी वैभारगिरि की गुफाओं में पड़ी है। सैनिकों को भेजकर वह मँगवा लीजिए। मेरे लिए अब वह धूलि से बढ़कर कुछ भी नहीं है। आज मुझे प्रभु-भक्ति की जो निधि मिली है वह अमूल्य है। अब तो मैं उस निधि को ही अपनी आत्मा में सुरक्षित रखकर भगवान महावीर का स्मरण करते हुए सूली पर चढ़ जाना चाहता हूँ।"

अपनी-अपनी कला के दो बेजोड़ कलाकार एक-दूसरे को चुपचाप देखते रहे।

कुछ समय इसी प्रकार व्यतीत हुआ। फिर सहसा अभयकुमार ने रोहिणेय को गले से लगा लिया। रोहिणेय की आँखों से आँसू झर-झर बह रहे थे....

अभयकुमार ने अपने रेशमी उत्तरीय से उसके आँसू पोंछते हुए कहा–

"रोहिणेय ! जाओ, तुम्हें दण्ड मिल चुका।"

जिनदेव की कृपा ऐसी हुई कि फिर रोहिणेय सीधा प्रभु महावीर स्वामी की शरण में जाकर अणगार बन गया।

● ●

उन दिनों आर्यावर्त्त के मध्यखंड में वैशालिका नामक महानगरी में हैहय कुलोत्पन्न राजा चेटक राज्य करता था। वह बड़ा प्रतापी था। राजा के योग्य अन्य गुण तो उसमें थे, किन्तु एक अवगुण उसमें यह था कि वह बहुत गर्वीला था। भिन्न-भिन्न रानियों से उसे सात पुत्रियाँ प्राप्त हुई थीं। वे सभी राजकुमारियाँ अत्यन्त रूपवती थीं।

उनमें से पाँच राजकुमारियों का विवाह राजा चेटक ने अलग-अलग राजाओं के साथ कर दिया था। प्रभावती का विवाह वीतभया नगरी के राजा उदयन, पद्मावती का चम्पा नगरी के राजा दधिवाहन, मृगावती का कौशाम्बी के राजा शतानीक, शिवा का उज्जयिनी के राजा प्रद्योत, तथा ज्येष्ठा का विवाह भगवान महावीर के बड़े भाई नन्दिवर्धन के साथ किया गया था। केवल दो राजकुमारियाँ –सुज्येष्ठा तथा चेलना अभी अविवाहित थीं।

राजा चेटक के महलों में ये दोनों राजकुमारियाँ लक्ष्मी एवं सरस्वती के समान विचरण करती थीं। इन दोनों का रूप-लावण्य अद्‌भुत था। दोनों ही अपनी कोमलता में एक-दूसरे से बढ़कर थीं। रात-दिन साथ-साथ ही रहतीं और हँसा-खेला करती थीं।

एक दिन वे महल के सरोवर के किनारे पर बैठी थीं। उसी समय एक तापसी वहाँ आई। वह तापसी जलशुद्धि को ही अपना धर्म मानती थी। वह कहा करती थी कि अपने शरीर को शुद्ध करते रहना ही धर्म है।

सुज्येष्ठा विदुषी थी। वह वास्तविक धर्म को जानती थी। उसने उस तापसी से धर्म के इस विषय पर गंभीर चर्चा की और कहा–

"आप तपस्विनी हैं, वृद्धा हैं, किन्तु धर्म के विषय में जैसा आप कह रही हैं, वैसा नहीं है। शुद्धि तो पाँच प्रकार की होती है–प्रथम है दयाशुद्धि, दूसरी है वचनशुद्धि, तीसरी है तपःशुद्धि, चौथी शुद्धि है अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना। रही बात जलशुद्धि की, सो तो अन्तिम शुद्धि है। प्रथम चार शुद्धियों के बिना जलशुद्धि निरर्थक है। और व्यर्थ का पाप भी है। यदि प्रथम प्रकार की चार शुद्धियों से अपनी आत्मा पर छाए हुए पाप के पंक को स्वच्छ न किया तो

जिस प्रकार मदिरा का पात्र कभी शुद्ध होता ही नहीं, उसी प्रकार यह आत्मा भी नहीं होगी।"

"तो क्या शरीर को शुद्ध नहीं रखना चाहिए?"–तापसी ने प्रश्न किया।

"अवश्य रखना चाहिए। किन्तु जैसा कि मैंने कहा–प्रथम चार प्रकार की शुद्धि के बिना उससे कोई लाभ नहीं है। यदि केवल शरीर को ही शुद्ध रखने से काम चल जाता हो तो आप स्वयं जल के जीवों की भाँति चौबीस घंटे जल में ही क्यों नहीं पड़ी रहतीं?"

इस प्रकार यह छोटा-सा धर्म-विवाद कुछ देर तक चला और अन्त में जब उस तापसी के पास कोई तर्कसम्मत उत्तर नहीं बचा तो वह पराजय का अनुभव करती हुई मौन रह गई। राजकुमारी की दासियों ने जब अपनी स्वामिनी की विजय होते देखी तो वे बड़ी प्रसन्न हुईं और उन्होंने अनेक व्यंग-वचनों से उस तापसी की हँसी उड़ाई।

धर्मचर्चा में पराजित और व्यंग-वचनों से मर्माहत वह तापसी उस दिन तो वहाँ से चुपचाप चली आई, किन्तु उसके मन में सुज्येष्ठा से अपने अपमान का बदला लेने की धुन सवार हो गई।

धुन सवार तो हुई, ग्रन्थि भी कसकर जकड़ गई, किन्तु एक सामान्य तापसी राजा चेटक जैसे प्रतापी राजा की राजकुमारी से बदला कैसे ले?

सोचते-सोचते तापसी ने यह विचार किया कि यदि इस राजकन्या को किसी ऐसे राजा से ब्याह दिया जाय जिसके पहले से ही अनेक रानियाँ हों, तो संभव है कि आगे जाकर वह दुःख उठाए, क्योंकि सौत का दुःख एक नारी के लिए बहुत बड़ा दुःख होता है।

यह योजना बनाकर उस तापसी ने किसी एक चित्रकार से राजकुमारी सुज्येष्ठा का एक चित्र बनाकर लाने के लिए कहा। चित्रकार ने किसी दिन, किसी उपाय से सुज्येष्ठा को सरोवर के किनारे बैठा देखकर पहले उसकी छवि अपने मन में और फिर घर आकर एक वस्त्र पर उतार ली। सुन्दरी सुज्येष्ठा की वह अपूर्व छवि देखते ही बनती थी।

अब वह चित्र लेकर तापसी चल पड़ी। चलते-चलते वह राजगृह आई और सम्राट् श्रेणिक को वह चित्र उसने दिखाया।

महाराज श्रेणिक उस स्वर्गीय सौंदर्यमय चित्र को देखकर ठगे-से रह गए। उन्हें लग रहा था कि जैसे कोई राजहंसिनी तिरती-तिरती आई हो और उस सरोवर के किनारे आकर स्थिर हो गई हो !

सम्मोहन की-सी स्थिति हो गई थी।

बहुत समय तक मुग्धभाव से महाराज श्रेणिक उस चित्र को देखते रहे और फिर अन्ततः उन्होंने पूछा–

"हे तपस्विनी ! यह चित्र किसी देवांगना अथवा गंधर्वकन्या का है? अथवा किसी मानुषी का ही? किसी मानुषी का ऐसा अपूर्व, विस्मयकारी सौंदर्य मैंने आज तक कहीं नहीं देखा–सुना। कल्पना भी पहुँच न सके, ऐसी सुन्दर है यह छवि।"

तीर निशाने पर बैठ चुका था। तापसी मन ही मन प्रसन्न हो गई। उत्तर देते हुए उसने कहा–

"राजन् ! यह चित्र किसी देवांगना अथवा गंधर्वकन्या का नहीं, बल्कि एक मानुषी का ही है–एक ऐसी अपूर्व सुन्दरी राजकुमारी का, जिसके समक्ष देवांगनाएँ तथा गंधर्वकन्याएँ भी पानी भरें। और महाराज यह चित्र तो उसके सौंदर्य का आभासमात्र है। वह इतनी सुन्दर है कि उसके सम्पूर्ण सौंदर्य को अंकित कर सकने का सामर्थ्य किसी चित्रकार में नहीं है·····।"

"कौन है? कहाँ है वह राजकुमारी?"–श्रेणिक अधीर होते जा रहे थे।

"मैंने उसे देखा है, महाराज !"–तपस्विनी ने जान-बूझकर श्रेणिक की उत्कंठा को हवा देते हुए कहा–"और जब से मैंने उसे देखा है, तभी से मेरे मन में यह बात घर कर गई थी कि ऐसी राजकुमारी तो सम्राट् के ही अन्तःपुर की शोभा बढ़ाने योग्य है। राजन् ! आप पृथ्वीपति तो हैं, किन्तु जब तक यह रमणीरत्न आपके पास नहीं है, जब तक आप इस सुन्दरी के पति नहीं बनते, तब तक आपका स्वामित्व निरर्थक है।"

"किन्तु यह है कौन?"

"यह रमणीरत्न, अपूर्व सुन्दरी, चेटकराज की पुत्री सुज्येष्ठा है, महाराज ! अच्छा, तो अब मुझे आज्ञा हो। मैं चली।"

भुस में आग लगाकर तापसी दूर खड़ी हो गई।

एकान्त में सम्राट् श्रेणिक उस छवि को जाने कितनी देर तक एकटक निहारते रहे, सोचते रहे, आकांक्षाओं के महल चुनते रहे–और जलते रहे।

× × ×

दूसरे ही दिन सम्राट् बिम्बसार श्रेणिक का एक चतुर दूत वैशालिका के लिए रवाना हो गया। वहाँ पहुँचकर उसने चेटकराज की सेवा में उपस्थित होकर निवेदन किया–

"राजन् ! सम्राट् श्रेणिक आर्यावर्त्त के समस्त नरेशों में सूर्य के समान प्रकाशित हैं। उन्होंने आपकी राजकुमारी सुज्येष्ठा की माँग अपने लिए की है।"

दूत के मुख से श्रेणिक का सन्देश सुनकर राजा चेटक गर्वपूर्वक हँसा और उपेक्षा के स्वर में बोला–

"दूत ! अपने राजा से जाकर कहना कि कौए और राजहंसी का मेल नहीं बैठा करता।"

यह अपमानजनक गर्वोक्ति सुनकर दूत का चेहरा क्रोध से तमतमा उठा। उसका दाहिना हाथ अपनी तलवार की मूँठ पर चला गया। उसने कहा–

"राजन् ! आप अपने दरबार में हैं। अपने सैनिकों और अनुचरों से घिरे हुए हैं। किन्तु आपसे प्रार्थना है कि आप जो कुछ कहें, सोच-विचारकर कहें। जिस प्रकार प्रत्यंचा से छूटा हुआ तीर वापस नहीं लौटता उसी प्रकार एक बार मुख से निकला हुआ शब्द भी कभी वापस नहीं लौटा करता। आपको सावधान किए देता हूँ ..... ।"

चेटक ने फिर से एक क्रूर अट्टहास किया और कहा–

"बड़े तेज दिखाई देते हो? होना भी चाहिए। आखिर अभयकुमार के सिखाए-पढ़ाए हो न? उसकी तो बड़ी प्रशंसा सुन रखी है हमने भी। एक बार उसकी चतुराई और कौशल देखने की हमारी भी बड़ी इच्छा होती है। किन्तु दूत, यह व्यर्थ का क्रोध तुम हमें न दिखाओ। दूत अबध्य होता है, अतः तुम्हें क्षमा करता हूँ। जाओ, अपना काम करो। श्रेणिक से कहना कि मेरी पुत्री सुज्येष्ठा उच्च हैहय कुल की मणि है। श्रेणिक जैसे निम्न वाहीक गोत्र के राजा से उसका विवाह होना अशक्य भी है और हास्यास्पद भी।"

विवश था वह दूत। परिस्थिति का विचार कर वह चुपचाप लौट आया।

महाराज श्रेणिक ने जब राजा चेटक का यह अपमानजनक उत्तर सुना तो उनके तन-बदन में आग लग गई। उनके जी में आया कि वे उसी समय युद्ध के लिए प्रस्थान कर दें। किन्तु वे विचारवान, धीर, गंभीर भी थे। अतः विचार करने लगे–एक राजकुमारी को प्राप्त करने के लिए हजारों निरपराध लोगों को मौत के घाट उतार देना क्या उचित होगा? क्या एक राजा का यह कर्त्तव्य बनता है?

उनकी आत्मा ने साक्षी नहीं दी।

और सम्राट् श्रेणिक भीतर ही भीतर घुटने लगे।

अभयकुमार से यह बात छिपी रह सकती, यह संभव ही नहीं था।

उसने दूत से सारी जानकारी ली, चेटक का उत्तर सुना और अपने पिता का निराश चेहरा तथा बुझा-बुझा-सा मन देखा तो वह अपने गुनताड़े में लग गया।

सब कुछ सोच-विचारकर उसने एक दिन महाराज श्रेणिक से कहा–

"पिताजी ! मैं सुज्येष्ठा को लेने जा रहा हूँ।"

श्रेणिक खोए-खोए बैठे थे। चौंक पड़े। बोले–

"क्या मतलब? अभय, क्या युद्ध करना चाहते हो? नहीं, नहीं, यह तो उचित नहीं होगा·····।"

"युद्ध नहीं होगा, पिताजी ! आप मुझे आज्ञा दीजिए, बस। कुछ ऐसा उपाय करूँगा कि साँप भी मर जाय और लाठी भी न टूटे।"

महाराज श्रेणिक को अपने इस विचित्र पुत्र की अद्‌भुत प्रतिभा और बुद्धि पर पूरा भरोसा था।

आज्ञा मिल गई।

अभयकुमार ने अपनी यात्रा की तैयारी की। उसने अपना वेश और स्वर दोनों बदल लिये। अब कोई उसे पहचान नहीं सकता था। एक व्यापारी का वेश बनाकर श्रेणिक का एक चित्र अपने साथ लेकर वह वैशालिका की ओर चल पड़ा। कुछ चतुर अनुचर उसने अपने साथ मुनीम-गुमाश्तों के रूप में ले लिये।

वैशालिका पहुँचकर उसने अपनी कार्यसिद्धि के लिए उपयुक्त स्थान की खोज आरम्भ की। कुछ ही समय में उसे राजमहल के सामने ही एक खाली दुकान मिल गई। वहाँ उसने अपना व्यवसाय करना आरम्भ किया।

पगड़ी में पेच देकर जब अभयकुमार एक पक्के श्रेष्ठी की भाँति अपनी दुकान पर बैठता था तो देखते ही बनता था।

धन-सम्पत्ति की अभयकुमार के पास कोई कमी तो थी ही नहीं।

व्यापार चल निकला।

उसकी मीठी वाणी और वस्तुओं के उचित मूल्य के कारण ग्राहकों की भीड़ उसकी दुकान पर लगने लगी। श्रेणिक का चित्र उसने अपनी दुकान में ऊँचे और सम्मानजनक स्थान पर लगा दिया था। प्रतिदिन वह उस चित्र की पूजा करता, दीप और धूप जलाता, पुष्पहार पहनाता। ग्राहक देखते और कभी-कभी जिज्ञासावश पूछ लेते कि वह चित्र किसका है, तो अभयकुमार इतना ही कहता– "मेरे पूज्य पिताजी का चित्र है। पुत्र का कर्त्तव्य है कि वह सदा अपने पिता की पूजा करे।"

लोग सोचते–अहा ! कैसा सम्पन्न श्रेष्ठी है, और साथ ही कितना पितृभक्त भी !

राजमहल के सामने ही अभयकुमार की दुकान होने के कारण यदा-कदा राजकुमारी सुज्येष्ठा की दासियाँ भी कोई न कोई बहुमूल्य, अत्यन्त आकर्षक और सुन्दर वस्तु क्रय करने के लिए वहाँ आया-जाया करती थीं।

एक दिन चपला नामक एक दासी ने अभयकुमार से पूछा–

"अरे सेठ, तुम यह प्रतिदिन किसकी पूजा किया करते हो?"

मछली काँटे की ओर बढ़ रही थी।

अभयकुमार ने अपनी भुवनमोहिनी मुस्कान बिखेरते हुए कहा–

"किसी से कहना नहीं। यह चित्र सम्राट् श्रेणिक का है। जैसा इस चित्र में तुम उन्हें देख रही हो, उससे हजार गुना अधिक वे सुन्दर, भव्य एवं तेजस्वी हैं। मैं उनकी प्रजा हूँ। अतः अपने जगत-विश्रुत सम्राट् की पूजा मैं प्रतिदिन करता हूँ।"

यह सुनकर चपला की चपल आँखें कुछ समय के लिए निश्चल रह गईं। चित्र में अंकित उस सुन्दर और भव्य छवि को वह एकटक देखती ही रह गई, और फिर शीघ्रता से पलटकर चली गई। अभयकुमार मुस्कराता रहा।

चपला ने अपनी स्वामिनी सुज्येष्ठा को बताया–

"राजकुमारी जी ! आपने कभी सम्राट् श्रेणिक का नाम सुना है?"

"यह कैसा प्रश्न है?"–राजकुमारी ने आश्चर्य से अपनी दासी की ओर देखा और कहा–"मगध-सम्राट् महाराज श्रेणिक को भला कौन नहीं जानता? इस आर्यावर्त्त में किस अभागे ने उन गुणवान-नरेश का नाम न सुना होगा? किन्तु–तूने आज यह प्रश्न मुझसे कैसे किया?"

"इसलिए, कि यदि आप चाहें तो मैं आपको उनका चित्र दिखा सकती हूँ।"

"क्या करूँगी मैं उनका चित्र देखकर? किस-किसका चित्र मैं देखती फिरूँ? क्या कोई विशेषता है उस चित्र में? और तुझे उनका चित्र आखिर मिला कैसे?"

प्रश्न बहुत-से एक साथ ही हो गए थे। चपला ने नेत्र नचाते हुए कहा–

"राजकुमारी जी ! देखोगी तो देखती ही रह जाओगी।"

"चल हट, मुझे नहीं देखना है किसी का चित्र।"

"चित्र देखकर ऐसा लगता है जैसे कोई चित्रवान अमरावती से साक्षात् देवराज इन्द्र का चित्र ही उतार लाया हो। क्या छवि है?"

"अच्छा? ऐसा चित्र है? तो ला, दिखा। देखने में हर्ज भी क्या है? तेरे इन्द्र और सम्राट् श्रेणिक को साथ ही देखना हो जावेगा।"

"कोशिश करूँगी, कल। यदि उस सेठ ने दे दिया तो दिखा दूँगी।"

सुज्येष्ठा की उत्सुकता बढ़ गई थी। मुँहलगी दासी ने ही वह जगाई थी।

"कल नहीं, आज। अभी। कौन से सेठ की बात कर रही है? वह सामने वाला नया श्रेष्ठी तो नहीं? दिखाई तो वह बड़ा चतुर देता है।"

"जिस राजा के राज्य में ऐसे श्रेष्ठी हों, वह राजा कैसा होगा, यही सोच रही हूँ राजकुमारी जी।"

"दुष्टे ! आज तुझे हुआ क्या है? गुण गाए ही चले जा रही है। उस श्रेष्ठी ने तुझ पर कोई जादू कर दिया है क्या? जा, जाकर वह चित्र ला। मैं भी जरा देखूँ तो सही ..... ।"

"कि दिल देने लायक, हृदय-समर्पण के योग्य कोई है कि नहीं? क्यों?"

सुज्येष्ठा ने चपला की चोटी पकड़कर खींच लेनी चाही, किन्तु चपल चपला भाग छूटी।

लौटकर जब वह अभयकुमार की दुकान पर गई उसने अपनी उसी मोहक मुस्कान के साथ पूछा–

"कुछ भूल गई थी क्या? कुछ लेना है?"

अब बारी चपला की थी। अपने चापल्य में भी गंभीरता लाने का प्रयास करती हुई बोली–

"हाँ, सेठ, कुछ लेना है। आप दे सकें तो।"

"अरे, अरे, हम तो यहाँ देने-लेने के लिए ही आए हैं। अपना काम ही और क्या है? कुछ बहुमूल्य, सुन्दर रत्न दिखलाऊँ? आपकी राजकुमारी जी के सौंदर्य में चार चाँद लग जायें ऐसे अद्भुत समुद्र-पार के रत्न अथवा कोमल, मूल्यवान चीनांशुक दिखाऊँ ..... ?"

"अरे सेठ रहने दो ये रत्न और बहुमूल्य वस्त्र। उनकी कोई कमी हमारी राजकुमारी जी को नहीं है।"

"ठीक ही तो है। आपकी राजकुमारी जी को भला क्या कमी हो सकती है? तो फिर मेरे योग्य अन्य क्या आज्ञा है देवी?"

"अजी ..... यह ..... बात ऐसी है कि ..... हाँ, बात ऐसी है कि हमारी राजकुमारी जी को चित्रांकन का बहुत शौक है। कोई भी अच्छा चित्र हो तो उसकी बड़ी प्रशंसा करती हैं। मैंने वैसे ही बात ही बात में इस चित्र का जिक्र उनसे कर दिया–बस यूँ ही जिक्र कर दिया तो कहने लगीं कि जरा लाकर दिखा तो सही। सेठ, थोड़ी-सी देर के लिए यह अपने सम्राट् श्रेणिक का चित्र मुझे दे दीजिए न ..... !"

"अरे ना ..... ना ..... ना ..... ना। यह नहीं हो सकता। मेरी सारी दुकान आप उठा ले जाइये, यह आपकी ही है। किन्तु यह चित्र तो मैं किसी को दे नहीं सकता। यह मेरे पूज्य सम्राट् बिम्बसार श्रेणिक का चित्र है। किसी को हाथ भी नहीं लगाने देता। दुकान आपकी है, भले उठा ले जाइये।"

"दुकान को अपने सर पर मारूँ क्या? ऐसी दुकानें तो वैशालिका की गली-गली में भरी पड़ी हैं। और मैं कौन-सा आपके चित्र को चबाए डाल रही हूँ। ससम्मान अभी घड़ीभर में राजकुमारी जी को दिखाकर ले आऊँगी।"

"हूँ, अच्छा ..... तब ठीक है। सम्मान सहित ले जाइयेगा और आदर सहित शीघ्र ही लौटा दीजिएगा। आपका विश्वास करता हूँ।"

अभयकुमार से चित्र लेकर चपला उसे अपने आँचल से ढककर तेज-तेज कदमों से लौट पड़ी।

अभयकुमार ने जान लिया कि मछली ने काँटे को पकड़ लिया है, अथवा काँटे ने ही मछली को बेध लिया है।

× × ×

उस दिन चपला लौटकर अभयकुमार की दुकान पर नहीं आई। उस दिन, और सारी रात, सुज्येष्ठा आहें भरती रही और चपला सोचती रही कि अब क्या होगा? सम्राट् श्रेणिक का दूत वैशालिका के दरबार में राजकुमारी की मँगनी लेकर आया था और अपमानित होकर लौट गया था, यह बात सभी को विदित थी। चेटकराज को यह सम्बन्ध स्वीकार नहीं था, और राजकुमारी ने सौगन्ध ले ली थी कि वह विवाह करेगी तो श्रेणिक के ही साथ–अब बेचारी चपला क्या करे?

उतरा हुआ-सा मुँह लेकर वह दूसरे दिन एकान्त के समय अभयकुमार की दुकान पर गई। उसे देखकर अभयकुमार ने कहा–

"अरे चपला देवी ! ऐसी गुमसुम क्यों हो? क्या बात हुई? तुम्हारी राजकुमारी जी की तबियत तो ठीक है न? और वह मेरा चित्र?"

"चित्र वापस नहीं मिलेगा, सेठ !"–चपला ने गंभीरता से कहा।

"अरे, अरे, यह कैसी बात? भई वह चित्र कोई बेचने के लिए नहीं है। किसी भी मूल्य पर।"

"किसी भी मूल्य पर? क्या कोई अपनी जान देकर भी वह चित्र नहीं पा सकता?"

"क्या कहती हो, चपला? मैं तुम्हारी बात समझा नहीं। सीधा-सादा व्यापारी आदमी जो ठहरा। कुछ समझाकर कहो तो पता चले।"

"सेठ ! अब अधिक चतुर बनने की कोशिश न करो। तुम कौन हो, यह तो मैं नहीं जानती, किन्तु तुम व्यापारी नहीं हो, इतना मैं जान गई हूँ। इस चपला ने भी कोई कच्ची गोलियाँ नहीं खेली हैं। सेठ, ध्यान से सुनो–हमें उस चित्र की ही नहीं, वह चित्र जिसका है, उसकी भी आवश्यकता है। हमें वह भी चाहिए।"

भीतर ही भीतर, मन ही मन हँसते हुए अभयकुमार ने उसी भोलेपन से कहा–

"चपला, आज तो कुछ सचमुच बड़ी ऊँची-ऊँची बातें कर रही हो। अच्छा, तो ठीक-ठीक कहो, क्या चाहती हो?"

"पहले यह बताओ कि तुम कौन हो? अभयकुमार ही हो न? अभयकुमार के अतिरिक्त अभी भरतखंड में ऐसा कोई दूसरा व्यक्ति जानने-सुनने में नहीं आया जो इतना बड़ा दुस्साहस कर सके। जो शत्रु के गढ़ में निर्भय प्रविष्ट होकर इतना बड़ा षड्यंत्र रच सके। कहिए मंत्रीश्वर ! मेरा अनुमान ठीक है न? हाँ, यह विश्वास दिला सकती हूँ कि रहस्य रहस्य ही रहेगा ·····।"

अभयकुमार की आँखें सहसा चमक उठीं। उसने कहा–

"चपला, दीवारों के भी कान होते हैं। एक-एक शब्द सावधानी से बोलना। फिलहाल तुम मुझे सेठ ही मानो तो ठीक है। हाँ, अब कहो, क्या चाहती हो?"

"मैं क्या चाहूँगी मंत्री ····· सेठ ! राजकुमारी जी की हालत उस चित्र को देखने के बाद ठीक नहीं है। चित्र को देखकर बहुत समय तक तो वे चित्रवत् ही रह गई थीं। जब होश में आईं तो उन्होंने प्रतिज्ञा कर ली कि इस जन्म में उनका विवाह होगा तो सम्राट् श्रेणिक से ही ·····।"

"बस ! मैं समझ गया। महाराज चेटक क्या सोचते हैं यह तुम्हें मालूम ही है। अब यदि उपाय जानना चाहो और तुम्हारी राजकुमारी जी में यदि साहस हो, तो मैं जैसा कहता हूँ वैसा ही करना। जाओ, अपनी राजकुमारी जी से पूछ आओ।"

"उसकी आवश्यकता नहीं। आप आज्ञा दीजिए। मेरी परमप्रिय राजकुमारी जी के प्राणों की रक्षा का कोई उपाय खोज निकालिए। सम्राट् श्रेणिक को प्राप्त करने के लिए वे अपनी जान की बाजी लगा चुकी हैं। अब न पूछना है, न सोचना।"

अभयकुमार के मस्तिष्क में कोई योजना कभी अधूरी नहीं रहती थी। उसने कहा–

"याद रखना होगा। आज अमावस्या है ठीक एक महीने के बाद आने वाली अमावस्या की रात्रि के बारह बजे राजकुमारी के कक्ष का भीतरी द्वार खटखटाया जायेगा। वह द्वार खोलकर राजकुमारी जी सम्राट् बिम्बसार श्रेणिक के साथ चल पड़ेंगी। लौटकर कभी वैशालिका न आने के लिये। समझ गईं?"

"हाँ, किन्तु यह सम्भव कैसे होगा?"

"कोई न कोई उपाय किया जायेगा। मंत्रीश्वर से कहूँगा कि अपने मस्तिष्क पर जोर डालें।"–कहते-कहते अभयकुमार हँस पड़ा।

चपला उस रहस्यमय, विकट हँसी से भय खाती हुई चुपचाप लौट गई।

× × ×

वैशालिका नगरी के बाहर एक योजन दूर के सघन वन में से एक विशाल सुरंग खोदी जा रही थी। सैकड़ों व्यक्ति पत्ता भी न खड़क पाए, इतनी सावधानी से दिन-रात काम में जुटे थे। वह सुरंग पृथ्वी के भीतर ही भीतर लम्बी से लम्बी होती चली गई और महाराज चेटक का महल समीप से समीपतर आता चला गया।

अमावस्या को अभी तीन दिन शेष थे। सुरंग पूरी खुद चुकी थी। अब प्रतीक्षा थी अमावस्या की रात्रि को ठीक बारह बजे राजकुमारी सुज्येष्ठा के कक्ष के भीतरी द्वार पर दस्तक देने की।

वह घड़ी भी आ गई। सम्राट् श्रेणिक रथारूढ़ होकर अपने बत्तीस अंगरक्षकों के साथ नियत स्थल पर आ पहुँचे।

राजमहल के पहरेदारों ने रात्रि के बारह बजे के घड़ियाल बजाए।

सुज्येष्ठा का हृदय 'धक-धक' कर रहा था। वह चिन्तित थी कि यदि किसी भी कारण से योजना सफल न हुई तो? उसे क्षणभर भी चैन नहीं पड़ रहा था।

उसी समय ज्यों ही घड़ियालों की गूँज समाप्त हुई, उसके कक्ष के भीतरी द्वार पर हल्की दस्तक सुनाई दी। चपला ने दौड़कर वह द्वार खोल दिया। द्वार के

नीचे से एक लम्बी-चौड़ी सुरंग जाने कहाँ तक चली गई थी। मशालों के प्रकाश में उसने तथा सदैव उसके साथ ही रहने वाली प्यारी बहन चेलना ने देखा–एक सुसज्जित रथ में स्वयं सम्राट् श्रेणिक बैठे हैं।

सुज्येष्ठा ने आतुरता से अपनी छोटी, लाड़ली बहन को गले से लगा लिया और भीगे कंठ से बोली–

"वे आ गए। रथ में बैठे हैं। मैं चली, बहन ! मैं चली·····।"

विदा की वह घड़ी चेलना से सही नहीं गई। वह फफक पड़ी–"मेरा क्या होगा? मैं तुम्हारे बिना कैसे जीवित रहूँगी? एक क्षण भी हम दोनों बहनें कभी अलग नहीं रहती थीं। मैं मर जाऊँगी जीजी ! क्या मैं भी तुम्हारे साथ नहीं चल सकती?"

अब तक सुज्येष्ठा को इतना सोचने का अवकाश ही नहीं मिला था। अब जब चेलना ने यह प्रस्ताव एकाएक रखा तो वह खुशी से भर उठी। बोली–

"अरे हाँ, चल-चल, जल्दी कर। हम दोनों तो साथ ही जन्मी हैं, साथ ही रहेंगी। जा, जाकर रथ में बैठ, मैं अभी आई।"

विकट स्थिति थी। तनिक-सी चूक से वारे-न्यारे हो सकते थे। चेलना शीघ्रता से जाकर रथ में बैठ गई।

रंग-रूप, आकार-स्वभाव में बिलकुल एक जैसी सुज्येष्ठा और चेलना में भेद कर पाना कठिन होता था। सुरंग में, मशालों के प्रकाश में यह और भी कठिन काम था। ऐसी कोई आशंका भी नहीं थी। प्रत्येक क्षण मूल्यवान था। अतः जैसे ही चेलना रथ में जाकर बैठी, सारथि ने रथ हाँक दिया।

एक अमूल्य उड़ता हुआ क्षण जो सुज्येष्ठा के जीवन में आया था, वह चला गया।

उसी समय जाने कैसे किसी पहरेदार को कुछ आशंका हुई। वह चिल्ला उठा और डंकों पर चोटें पड़ने लगीं। सैनिक सावधान होकर अपने-अपने शस्त्र सम्हालते हुए दौड़े। राजकुमारी के कक्ष में आकर वहाँ से निकली हुई सुरंग को देखकर वे उसमें धँस पड़े।

उस लम्बी-चौड़ी सुरंग में एक छोटा-सा, किन्तु भीषण युद्ध हुआ। श्रेणिक का एक भी अंगरक्षक जीवित न बचा; किन्तु जब तक उनमें से एक भी जीवित रहा, तब तक चेटक के सैकड़ों सैनिकों में से एक भी, एक कदम भी आगे नहीं बढ़ा सका।

और जब चेटक के सैनिकों को आगे बढ़ने का मार्ग मिला, तब वहाँ केवल सुनसान मार्ग ही मार्ग था–श्रेणिक का रथ कहीं नहीं था। चेलना को लेकर श्रेणिक का रथ बहुत दूर जा चुका था–उस सीमा में, जहाँ केवल अभयकुमार का शासन चलता था।

सम्राट् श्रेणिक ने विधिवत् चेलना से विवाह कर लिया।

सुज्येष्ठा अपने जीवन को हार चुकी थी। अब उसे जीतने के लिए उसने समस्त राग-विरागों का परित्याग कर साध्वी-जीवन अंगीकार कर लिया।

और राजा चेटक खून का घूँट पीकर रह गया।

× × ×

कुछ समय पश्चात् रानी चेलना गर्भवती हुई। गर्भ के समय उसे एक विचित्र, वीभत्स दोहद हुआ। उसकी इच्छा हुई–कि वह अपने पति के शरीर का माँस खाए।

इस भयंकर दोहद के कारण वह बड़ी दुःखी हुई। वह सोचने लगी–हाय ! मेरी कुक्षि में यह कैसी दुष्ट सन्तान आई? इसके आते ही मुझे ऐसा निकृष्ट दोहद हुआ है। यह दोहद इतना निकृष्ट था कि इसकी बात उसने किसी से नहीं कही। यहाँ तक कि उसने चुपचाप यह हीन गर्भपात कराने का प्रयत्न भी किया।

किन्तु किसी भी उपाय से गर्भपात हुआ नहीं। दोहद की बात वह किसी से कह नहीं सकती थी। निदान वह दिन-दिन दुर्बल होने लगी और दुःखी रहने लगी।

अपनी प्रिय रानी की यह गिरती हुई हालत देखकर एक दिन श्रेणिक पूछ बैठे–

"क्या बात है चेलना रानी ! ऐसे कैसे दुर्बल हुई जा रही हो? क्या कारण है, कुछ मुझे तो बताओ। तुम्हें हमारी शपथ है।"

रानी दुविधा में पड़ गई। एक ओर ऐसा भयंकर, निकृष्ट दोहद है और दूसरी ओर पतिदेव की शपथ। आखिर उसने कहा–

"आपने शपथ ही दे दी है तो मैं कारण तो बताती हूँ, किन्तु आप उसकी चिन्ता न करें, स्वामी ! बात यह है कि मेरे गर्भ में न जाने कैसे पापी का आगमन हुआ है कि उसके कारण मुझे आपके शरीर का माँस खाने का दोहद हुआ है। नाथ ! यह बात कहते हुए भी मेरी जीभ गलकर क्यों नहीं गिर जाती? किन्तु आपने शपथ दी थी, अतः बता दिया। अब आप पधारें। कोई चिन्ता न करें।"

यह सुनकर सम्राट् श्रेणिक हँस पड़े और बोले–

"अरे, तुम इतनी-सी बात को मन में रखे बैठी हो और इस प्रकार अपने शरीर के साथ अन्याय कर रही हो? चिन्ता न करो। तुम्हारा दोहद अवश्य पूर्ण होगा।"

रानी 'नहीं ..... नहीं' करती रही और राजा चला गया। सम्राट् श्रेणिक ने निश्चय कर लिया था कि वे रानी की इच्छा की पूर्ति अवश्य करेंगे।

पर ऐसी इच्छा की पूर्ति की कैसे जाय? इससे सम्राट् के जीवन पर संकट आ सकता था।

अभयकुमार को जब इस बात का पता चला तो उसकी अलौकिक बुद्धि ने काम करना आरम्भ किया। उसने थोड़ा-सा खरगोश का माँस मँगवाया। सम्राट् श्रेणिक को लिटाकर, उनके पेट पर माँस रखकर उसने ऐसा अभिनय कराया जैसे कि सचमुच राजा के पेट में से ही माँस काटा जा रहा हो। राजा ने भी अभयुकमार की सलाह के अनुसार एकाध झूठी 'आह' कर दी। रानी चेलना ने दूर से राजा की वह 'आह' सुनी और मूर्च्छित हो गई।

रानी चेलना को शीघ्र ही उपचार द्वारा होश में लाया गया। तब तक सम्राट् श्रेणिक भी पूर्ण रूप से स्वस्थ और मुस्कराते हुए वहाँ आ गए।

रानी की जान में जान आई। उससे राजा ने कहा–

"संरोहिणी औषध के लेप से सब ठीक है। चिन्ता न करो। अपना दोहद प्रसन्नतापूर्वक पूर्ण करो।"

रानी का दोहद तो पूर्ण हो गया, किन्तु उसके मन से आने वाली सन्तान की ओर से ग्लानि और भय दूर नहीं हुआ।

चेलना ने समय आने पर एक पुत्र को जन्म दिया। वह नहीं चाहती थी कि ऐसा कुलक्षण बालक उसकी गोद में खेले। अतः उसने अपनी दासी से कहा–

"इसे चुपचाप ले जाकर किसी कूड़े के ढेर पर फेंक आ। ले जा इसे ....।"

दासी ने आज्ञा का पालन किया। शिशु कूड़े के ढेर पर फेंक दिया गया।

किन्तु सम्राट् श्रेणिक को जब इस बात का पता चला तो वे दौड़े-दौड़े आए और बोले–

"अरे चेलना, तुमने यह क्या किया? कैसा भी हो, है तो हमारा पुत्र ही। उसके साथ ऐसा व्यवहार नहीं करना चाहिए। तुम कैसी माता हो?"

"स्वामी ! जो गर्भ में आते ही अपने पिता का शत्रु बन जाए, ऐसे पुत्र का मैं क्या करूँ? ऐसे पुत्र का तो मर जाना ही अच्छा है।"–रानी ने दुःखी मन से

कहा। किन्तु सम्राट् नहीं माने। उन्होंने तुरन्त अनुचरों को भेजकर उस नवजात शिशु को उठवा मँगवाया और उसे रानी की गोद में रखते हुए कहा–

"रानी ! हमें अपना धर्म निभाना चाहिए। जो भाग्य में होगा, वह होकर ही रहेगा। लो, अब इस अबोध शिशु का प्यार से पालन करो और सारी चिन्ता का त्याग कर दो।"

रानी ने शिशु को सँभाल लिया। इस बीच कूड़े के ढेर पर पड़े हुए उस शिशु की एक अँगुली को एक मुर्गे ने कुतर लिया था। उपचार से वह अँगुली ठीक हो गई, किन्तु वह खंडित रह गई। इस कारण उस बालक का नाम 'कूणित' (कूणिक) पड़ गया।

कूणित धीरे-धीरे बड़ा होने लगा। बचपन से ही वह शैतान और कुचक्री था। रानी चेलना को बड़ी चिन्ता रहती थी, किन्तु भगवान पर भरोसा करके वह उसका पालन करती रही।

आगे समय आने पर चेलना ने 'हल्ल' और 'विहल्ल' नामक दो पुत्रों को और भी जन्म दिया।

अभयकुमार अपने इन तीनों भाइयों के साथ इस प्रकार शोभित होता था जैसे राजा राम शोभित होते थे–लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न के साथ।

जहाँ तक गुणों तथा स्वभाव का प्रश्न है, उनकी बात अलग है। अभयकुमार तो गुणवान था ही, किन्तु कूणित, हल्ल और विहल्ल की बात हमारे पाठक क्रमशः यथा समय जानते रहेंगे।

जैसे-जैसे कथा आगे बढ़ेगी।

● ●

होती हैं, प्रथाएँ।

उनके अनुसार जन-जीवन चलता रहता है, किन्तु काल और स्थितियाँ परिवर्तनशील हैं। उस परिवर्तन के अनुसार यदि प्रथाओं में भी संशोधन होता रहता है तो जन-जीवन सुगमता से चलता है, ठीक दिशा में आगे बढ़ता है, अन्यथा कभी-कभी प्रथाएँ प्राणलेवा बन जाती हैं।

श्रेणिक राजा थे। उन दिनों राजा लोग अनेक रानियों से ही शोभित होते थे। प्रथा ही थी। सामान्य प्रजा में भी पुरुष जब एक से अधिक स्त्रियों से विवाह करते थे तो फिर राजा के लिए तो बाधा ही क्या थी?

श्रेणिक ने धारिणी के साथ एक और विवाह किया। वह नारी, जो अब रानी धारिणी बन चुकी थी, कुछ अद्‌भुत रूप से गुण-सम्पन्न थी। वह इतनी सौम्य और शान्त थी कि प्रतीत होता था मानो उषा की वेला में कोई गुलाब का फूल खिल आया हो और समूची सृष्टि उसे एकटक देखती स्थिर रह गई हो !

धारिणी के मुख से कभी कोई कठोर शब्द किसी ने सुना ही नहीं था। कोई भूली-भटकी देवी इस पृथ्वी-तल पर आ गई हो, ऐसा ही प्रतीत होता था रानी धारिणी को देखकर।

ऐसा भी लगता था कि जैसे विधाता ने उस नारी की सृष्टि किसी विशेष उद्देश्य से ही की हो। वह उद्देश्य क्या था यह कोई जानता तो नहीं था–भविष्य को कौन जान पाता है? किन्तु धारिणी को देखकर कुछ ऐसी ही अनुभूति देखने वालों को स्वतः ही होती थी।

बड़ी भोली थी धारिणी। रानी तो थी, किन्तु ऐसी भोली, जैसे कोई गाय।

एक दिन उसने स्वप्न में देखा–चार दन्तशूलों वाला एक श्वेत, शुभ्र हाथी उसके मुख में प्रवेश कर रहा है। वह चौंक पड़ी। जाग गई। सोचने लगी–इसका क्या अर्थ हो सकता है?

अपनी बड़ी-बड़ी आँखें एक बार राजा की ओर उठाकर और फिर धरती पर टिकाकर प्रातःकाल उसने पूछा–

"नाथ ! एक बड़ा विचित्र स्वप्न मुझे आया है। मैंने स्वप्न में देखा कि एक सफेद हाथी, उसके दो नहीं, चार दाँत थे, खूब बड़े-बड़े, वह हाथी मेरे मुख में प्रवेश कर रहा है। भला ऐसे स्वप्न का क्या अर्थ हो सकता है? लोग कहते हैं कि कभी-कभी सपने सच्चे हुआ करते हैं। यदि यह स्वप्न सच्चा हो तो इसका क्या अर्थ?"

मगध का सम्राट् बिम्बसार श्रेणिक उस समय यह भूल गया कि वह एक सम्राट् है। आनन्द के उस स्वर्गीय क्षण में वह केवल एक प्रेमी और एक भावी महापुरुष का पिता भर रह गया। उसने रानी धारिणी को भाव-विभोर होकर कहा–

"रानी, तुम धन्य हो ! आज मेरा गार्हस्थ्य-जीवन सफल हुआ। यदि मुझे स्वप्नशास्त्र का कुछ भी ज्ञान है, और यदि स्वप्नशास्त्र में कुछ भी सच्चाई है, तो तुम किसी महापुरुष की माता बनने वाली हो। रानी, रुको जरा, मैं अभी स्वप्न-शास्त्रियों को बुलवाता हूँ। देखना तो सही कि वे क्या कहते हैं।"

राजा हर्ष की हिलोर में अपना भान ही मानो भूल गया था। दौड़ता हुआ द्वार तक गया और प्रतिहार से बोला–

"शीघ्रता करो। स्वप्नशास्त्रियों को बुलवाओ।"

सम्राट् श्रेणिक के लिए एक हल्की-सी ताली बजाना ही पर्याप्त था। प्रतिहार दौड़कर उपस्थित हो जाता। किन्तु दौड़े थे स्वयं सम्राट् श्रेणिक क्योंकि जैसा कि हमने कहा, इस समय वे 'सम्राट्' न रहकर केवल एक मुग्ध, हर्षविभोर प्रेमीमात्र रह गए थे।

भोली रानी धारिणी राजा को देखती रह गई। उनकी इस आतुरता को देखती रह गई और सोचती रह गई–मैं किसी महापुरुष की माता बनूँगी? हे भगवान ! क्या यह सच है? क्या मैं इतनी भाग्यशालिनी हूँ?

स्वप्नशास्त्री आए। उन्होंने रानी के स्वप्न पर विचार किया और एक मत से बोले–

"सम्राट् ! बधाई हो ! महारानी जी के गर्भ में कोई दिव्य पुरुष अवतरित हुआ है। या तो वह चक्रवर्ती सम्राट् होगा या फिर इसी जन्म में भव-भव के बंधनों को काटकर सिद्ध होगा। जन्म-मरण का चक्र उसके लिए समाप्त हो जायेगा। महाराज ! इन दोनों बातों में से क्या होगा, यह तो हम इस घड़ी नहीं कह सकते, किन्तु दोनों में से एक कोई बात होगी, यह सुनिश्चित है, अटल है।"

स्वप्नशास्त्रियों की यह बात सुनकर राजा-रानी आनन्द में डूब गए। पवन के पंखों पर उड़ती-उड़ती यह खबर सारी नगरी में फैल गई और सारी नगरी में एक उत्सव का-सा वातावरण बन गया। लोग स्थान-स्थान पर एकत्र होकर आनन्द-गोष्ठियाँ करने लगे और जनपथ सम्राट् श्रेणिक और रानी धारिणी के जयघोष से गुंजायमान होने लगे।

रानी का गर्भ धीर-धीरे बढ़ने लगा। कुछ समय बाद उसे दोहद हुआ कि वर्षा की फुहारें आकाश से झर रही हों, बादल उमड़-घुमड़ रहे हों, मयूर केकारव करते हों, तथा ऐसे सावनी सुहावने मौसम में वह अपने पति के साथ हाथी पर बैठकर वन-विहार करे।

किन्तु उस समय तो प्रचंड ग्रीष्म धरती पर छाया हुआ था। सूर्य विकराल वेग से तप रहा था और आसमान जल रहा था। धरती सूखी पड़ी थी। पवन निस्पन्द था। सारे आकाश में दूर-दूर तक मेघ का एक टुकड़ा भी कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता था–ऐसे मौसम में वर्षा कहाँ से आए? वर्षाकाल आने में अभी तो बहुत विलम्ब था।

रानी अपनी इस इच्छा को मन में दबाए बैठी थी, क्योंकि जिस बात की संभावना नहीं, उसे व्यक्त करने से लाभ ही क्या? किन्तु अपनी इस दोहदेच्छा की पूर्ति न हो सकने के कारण वह दिन-दिन दुर्बल, क्षीण होने लगी। यह देखकर राजा ने कारण पूछा तो उसने अपने दोहद की बात कह दी। लेकिन साथ ही यह भी कहा–

"स्वामी ! दोहद पर मेरा वश नहीं। मेरी ऐसी ही इच्छा इस गर्भ के समय हुई है, किन्तु किया जा सकता है? आप चिन्ता न कीजिए। जो बात किसी के वश की नहीं, उसकी चिन्ता करने से भी क्या लाभ? जो होना होगा, वह होगा।"

राजा श्रेणिक भी विचार में पड़ गए। चिन्ताग्रस्त होना स्वाभाविक था, सो चिन्ता भी उन्हें सताने लगी। सोचने लगे कि रानी की यह इच्छा कैसे पूरी हो? वर्षा कहाँ से आए? कैसे हो?

अभयकुमार को भी अपनी माता रानी धारिणी के इस दोहद की बात मालूम हुई। विलक्षण बुद्धि के स्वामी और अडिग संकल्प के धनी उस नरश्रेष्ठ ने राजा से कहा–

"पिताजी ! माता की इच्छा पूर्ति के लिए कुछ न कुछ तो करना ही होगा....."।"

"किन्तु क्या? अभय ! इस विषय में किया क्या जा सकता है? प्रकृति पर किसका वश है? एक बार तो समुद्र को भी हम राजगृह तक लाने का प्रयत्न कर सकते हैं, किन्तु बिना वर्षाकाल के बादल कहाँ से आएँ? वर्षा कैसे हो?" –श्रेणिक ने निराशा से कहा।

"यही सोच रहा हूँ, पिताजी ! कुछ न कुछ तो करना ही होगा।"

यह कुछ न कुछ करने की धुन में अभयकुमार जाने क्या-क्या करने लगा। विचित्र-विचित्र कुछ वस्तुएँ एकत्र करके वह राजगृह के बाहर एक गुफा में जा बैठा। उसने आदेश दे दिया था–"कोई मुझसे सम्पर्क न करे। मेरे कार्य और विचार में कोई व्यवधान, किसी प्रकार की बाधा न डाली जाय। मुझे जब लौटना होगा, तब स्वयं चला आऊँगा।"

राजा, रानी और समस्त प्रजा हैरान थी–यह इसे हुआ क्या है? क्या करना चाहता है यह? इस व्यक्ति की तो माया ही विचित्र है !

सात दिन तक अभयकुमार उस गुफा से बाहर निकला ही नहीं। सभी को चिन्ता होने लगी। बार-बार सम्राट् श्रेणिक की इच्छा होती कि वे स्वयं जाकर अथवा किसी को भेजकर कुछ पता लगाएँ; किन्तु फिर उन्हें अभयकुमार का आदेश याद आता और वे मन मारकर चुपचाप बैठ जाते। आठवें दिन तो श्रेणिक बेचैन हो गए। अन्य मंत्रियों को बुलाकर उन्होंने परामर्श किया–

"अब मेरे लिए धैर्य रखना संभव नहीं। मुझे अभय की बड़ी चिन्ता हो रही है। मैं उसे देखने जाना चाहता हूँ।"

रानी धारिणी, चेलना तथा अभयकुमार की माता नन्दा, सभी उपस्थित थे। धारिणी ने कहा–

"स्वामी ! अवश्य जाइये। मेरे दोहद की चिन्ता में ही अभय लगा हुआ है। मामूली-सी बात के लिए उसे इतना चिन्तित नहीं होना चाहिए, कोई खतरा मोल नहीं लेना चाहिए। यदि उसे कुछ हो गया तो सर्वनाश हो जाएगा। शीघ्रता कीजिए। आप अवश्य उसका पता करें स्वामी !"

सभी चिन्तित थे। सभी की यही राय हो रही थी कि अभयकुमार की कुशल-क्षेम जाननी ही चाहिए। केवल वे वृद्ध मंत्री मौन थे जिन्होंने अभयकुमार

के बुद्धि-वैभव की झलक सर्वप्रथम उस खाली कुएँ में से अँगूठी निकालते समय देखी थी। राजा ने पूछा–

"मंत्रिवर ! हम सब तो अभयकुमार का पता करना चाहते हैं, किन्तु आप मौन हैं। आपका क्या विचार है?"

वृद्ध मंत्री ने कहा–

"राजन् ! अभयकुमार जैसे नर-रत्न की कुशल-क्षेम की चिन्ता किसे न होगी? वे हम मागधों की मुकुटमणि हैं। किन्तु मैं सोचता हूँ कि उनका कोई कुछ बिगाड़ नहीं सकता। काल भी एक बार तो उनके सामने आने पर काँप जायेगा ···· ।"

वृद्ध मंत्री की बात पूरी न हो सकी। सहसा एक भयानक गर्जन हुआ और उससे राजप्रासाद की दीवारें काँप उठीं। सब चौंक पड़े। सहज ही प्रत्येक व्यक्ति की दृष्टि, चकित भाव से, पहले अपने चारों ओर, और फिर आकाश की ओर उठ गई ·····

कजरारे, सघन, पर्वताकार बादल क्षितिज पर उमड़ आए थे और उनका गर्जन-तर्जन सृष्टि को कंपायमान कर रहा था।

यह दृश्य देखकर सम्राट् श्रेणिक आनन्द के अतिरेक में दौड़कर राजमहल की छत पर जा चढ़े।

मंत्रीगण और रानियाँ भी आनन्द के आँसू बहाते हुए पीछे-पीछे भागीं। राजमहल में दास-दासियाँ, सैनिक-अनुचर सब के सब हर्षातिरेक में पागलों की भाँति इधर-उधर दौड़ने लगे और चिल्लाने लगे–" 'अभयकुमार मंत्रीश्वर की जय', 'महामंत्रीश्वर अभयकुमार की जय', 'राजकुमार अभयकुमार की जय'।"

किसी को कोई होश ही न रहा हो जैसे। जिसके जो जी में आया, बोले चला जा रहा था। लोग एक-दूसरे को गले लगाकर उछल रह थे। कोई अनजान व्यक्ति यदि उस समय इस दृश्य को देखता तो सोचता–अरे, मैं किन पागलों की दुनियाँ में आ गया !

सारा आकाश मेघाच्छन्न हो गया। बिजली कड़कने लगी। वर्षा की फुहारें पड़ने लगीं। धीरे-धीरे मूसलाधार पानी बरसने लगा। ग्रीष्म के विकट ताप से तपती हुई प्राणियों की आत्माओं में शीतलता व्याप्त हुई।

अभयकुमार हँसता हुआ आया और रानी धारिणी से बोला–

"माता ! मेरी साधना सफल हुई। परमात्मा को कोटिशः धन्यवाद है। अब आप अपनी इच्छा की पूर्ति करें।"

"यह तो ठीक है, बेटा अभय ! किन्तु हम सबके तो प्राणों पर बन आई थी। तुझे कुछ हो जाता तो?"–रानी धारिणी ने अपनी चिन्ता व्यक्त करते हुए प्रेमपूर्वक अभयकुमार का मस्तक आशीर्वाद स्वरूप में चूम लिया।

स्वर्ण की अम्बारी में हाथी पर बैठकर राजा-रानी निकले। राजगृह की हर्ष-बावली, आनन्दमत्त प्रजा को यह दृश्य स्वर्गीय प्रतीत हुआ। लोग परस्पर कहने-सुनने लगे–

"अहा ! इन्दु और शची भी क्या ऐसे शोभित होते होंगे?"

"अरे भैया, हमारे मंत्रीश्वर अभयकुमार तो बस अलौकिक पुरुष हैं। कौन-सा ऐसा कार्य है जिसे वे अपनी बुद्धि से पूर्ण न कर डालें?"

"धन्य है ऐसे पुरुषश्रेष्ठ को। धन्य है।"

"जादू है भाई, जादू। और क्या?"

कोई कहता–"मंत्रीश्वर सिद्धपुरुष हैं। सात दिन तक अपने आसन से हिले ही नहीं। जमकर बैठ गए कि वर्षा होनी ही चाहिए। न हुई तो प्राण दे दूँगा, पर अपने आसन से नहीं हिलूँगा।"

कोई कहता–"मंत्रीश्वर ने इन्द्र देवता का आह्वान किया था। इन्द्र को झख मारकर वर्षा करनी पड़ी। उनका आसन हिल गया।"

और कोई कहता–"पता नहीं मंत्रीश्वर ने उस गुफा में बैठकर क्या-क्या गुनताड़ा किया? कैसी-कैसी अजीब वस्तुएँ वे अपने साथ ले गए थे। यह कोई देवी-देवताओं की बात नहीं है। यह तो मंत्रीश्वर के मस्तिष्क का ही अद्‌भुत आविष्कार है।"

जितने मुँह, उतनी बातें।

किन्तु सौ बातों की एक बात यह कि रानी धारिणी का लगभग असंभव दोहद अभयकुमार ने पूर्ण कराया।

बेमौसम बरसात हुई, और जमकर हुई।

× × ×

रानी धारिणी ने जिस बालक को जन्म दिया वह फूल-सा कोमल और चाँद-सा सुन्दर था। जो भी उसे देखता–देखता ही रह जाता। अग-जग के सारे

विषाद वह भूल जाता। ऐसा था उस नवजात बालक का प्रभाव। राजा-रानी के हर्ष का तो कहना ही क्या?

नाम उसका रखा गया–मेघकुमार। क्योंकि रानी धारिणी को दोहद हुआ था कि मेघ घिरें, वर्षा हो, और वह राजा के साथ झरती फुहारों में वन-विहार करे।

बालक मेघकुमार कुछ विचित्र स्वभाव का था। अन्य बालक तो खेलते-कूदते हैं, लोगों को परेशान करते हैं, किन्तु मेघकुमार जैसे-जैसे बड़ा होता गया, उसकी गंभीरता भी वैसे-वैसे ही बढ़ती गई। राजा-रानी प्रसन्न थे, किन्तु मेघकुमार की इस बालपन में भी अस्वाभाविक लगने वाली गंभीरता को देखकर उन्हें एक चिन्ता भी भीतर ही भीतर होने लगी कि कहीं यह बालक सचमुच ही विरागी ही न हो जाए। इसे चक्रवर्ती राजा होना चाहिए। कहीं यह संसार के माया-मोह को त्यागकर चल ही पड़ा तो हम क्या करेंगे?

माता-पिता का ममतामय हृदय ही तो है। वे अपने पुत्र को चक्रवर्ती राजा, राज-राजेश्वर सम्राट् बना हुआ ही देखना चाहते थे। उन्हें क्या पता था कि वह दिव्य बालक तो मात्र भरतखंड का क्षुल्लक सम्राट् क्या–समस्त त्रिभुवन का ही स्वामी बनने वाला था!

धीरे-धीरे मेघकुमार बड़ा होने लगा। अब वह एक ऐसा किशोर हो चुका था जिसे सृष्टि की समस्त विद्याएँ और कलाएँ स्वयं ही आकर वरण कर लेती थीं। गुरुओं के पास शिक्षा-प्राप्ति हेतु उसे भेजा अवश्य गया था, किन्तु गुरुजन कहते थे कि इसे हम क्या सिखाएँ, समस्त ज्ञान तो इसकी आत्मा में से स्वयं ही प्रकट हो जाता है, जैसे कस्तूरी में से सुरभि प्रगट होती है।

उन्हीं दिनों भगवान महावीर विहार करते हुए पुनः राजगृह पधारे। सारी प्रजा उनके दर्शन के लिए उमड़ पड़ी। राजगृह में मानो भगवान के वचनों की अमृत-वर्षा होने लगी।

श्रेणिक भी अपनी रानियों के साथ नगर के बाहर उद्यान की ओर हाथी पर बैठकर जाने लगे। चुपचाप। मेघकुमार को उन्होंने बताया नहीं। वे नहीं चाहते थे कि कोई भी ऐसा संयोग बने, जिससे कि बालक का मन विराग की ओर मुड़ जाए।

किन्तु राजा का हाथी अभी रवाना नहीं हो पाया था कि मेघकुमार दौड़ता हुआ आया और अपने पिता के पास जा बैठा। श्रेणिक ने एकाध बार उसे महल में ही खेलने-कूदने के लिए कहा, किन्तु वह माना नहीं।

"भगवान के दर्शन करने तो मैं अवश्य चलूँगा ही, पिताजी !"–मेघकुमार ने कहा और वह जमकर बैठ गया।

विवश राजा ने हाथी हँकवा दिया।

पानी जब बरसता है तो सारी सृष्टि पर बरसता है, किन्तु मोती उत्पन्न करने वाली सीप जल के उस एक बिन्दु को ग्रहण कर लेती है जो एक दिन मोती बनकर प्रगट होता है।

भगवान का उपदेश सभी ने सुना और अपनी-अपनी स्थिति एवं पात्रता के अनुसार सभी ने उसे ग्रहण किया, शान्ति प्राप्त की। किन्तु मेघकुमार के मन में तो प्रभु की वाणी कुछ ऐसी बसी कि वह तो मानो अमृतमय ही हो गया। विचारों एवं चिन्तन के अतल सागर में डूबा हुआ वह राजमहल लौटा और अपनी माता से बोला–

"माँ ! मैं भिक्षु बनूँगा।"

एक महान् यात्रा के आरम्भ का क्षण आ पहुँचा था। रानी धारिणी के हृदय को जो शंका प्रत्येक पल घेरे रहती थी वह अब साक्षात् भय और वेदना बनकर सामने आ गई। कुछ क्षण तो वह एकटक अपने प्यारे बेटे को देखती रह गई और फिर किसी प्रकार साहस बटोरकर उसने कहा–

"बेटा ! तू क्या कह रहा है? तू तो अभी बालक ही है। भिक्षु-जीवन कोई बालकों का खेल है क्या? वह तो अंगारों की राह है। पागलपन की बातें नहीं किया करते। जा, खेल।"

कहने को तो धारिणी ने कहा, पर उसका हृदय भीतर ही भीतर काँप रहा था। व्यस्तता का दिखावा करती और अपनी भावनाओं को छिपाने का प्रयत्न करती हुई वह उठकर जाने लगी, किन्तु मेघकुमार ने उसका आँचल कसकर पकड़ लिया। कहा–

"माँ ! तेरा बेटा जितना कोमल दिखाई देता है, उतना ही कठोर भी हो सकता है। मेरी बात सुन, मैं साधु ही बनूँगा, श्रमण-दीक्षा ही लूँगा। तूने भगवान के वचन सुने नहीं क्या? यह संसार असार है। यह मोह वृथा और विनाशकारी है। यह जीवन घास की नोंक पर पड़ी ओस की बूँद से अधिक कुछ नहीं है···।"

रानी धारिणी की आँखों से टपाटप आँसू गिरने लगे। उसने अपने पुत्र को छाती से लगा लिया और रोती चली गई····· रोती ही चली गई·····

× × ×

मेघकुमार को कोई नहीं रोक सका। उसका निश्चय अटल था। सभी ने उसे समझाने का प्रयत्न किया, साधु-जीवन के भयानक कष्टों का वर्णन किया, लोभ दिया, सपने दिखाए–सभी संभव प्रयत्न किए, किन्तु वह नहीं माना। सम्पूर्ण सिद्धि का अमृतलोक उसे पुकार रहा था।

थक-हारकर राजा-रानी ने उसे दीक्षित होने की अनुमति प्रदान कर दी।

मेघकुमार ने भगवान के चरणों में शरण ली। अब मेघकुमार, राजकुमार मेघकुमार, मेघ मुनि थे। सभी मुनियों में वे सबसे छोटे, अर्थात् अल्पायु थे।

रात्रि में मुनि-जीवन की मर्यादा के अनुसार उन्हें सोने के लिए अन्य सभी मुनियों के बाद, द्वार के समीप स्थान मिला। रात्रि में आवश्यक कार्य से उठकर बाहर आने-जाने वाले मुनियों के कारण उसकी निद्रा में बाधा आई। बार-बार अन्धकार में आते-जाते मुनियों के पैरों की ठोकर उन्हें लगती रही। इससे उन्हें पीड़ा हुई और वे विचार करने लगे–कहीं मुझसे भूल तो नहीं हो गई? मैं, सम्राट् श्रेणिक का पुत्र, एक राजकुमार, यहाँ पड़ा-पड़ा इन मुनियों के पैरों की ठोकर खा रहा हूँ। मुझे किस वस्तु की कमी थी? फूलों की तरह कोमलता से पाला-पोसा गया हूँ। रेशमी बिछौनों और मखमली कालीनों से नीचे मैंने कभी पैर नहीं रखा, और अब इस कठोर, नग्न भूमि पर पड़ा जाने किस-किसकी लातें खा रहा हूँ..... ?

मेघ मुनि के हृदय में इसी प्रकार के भाव उठते-गिरते रहे। उनके मस्तिष्क में विचारों का ऐसा ही अन्धड़ चल पड़ा। किसी प्रकार प्रातःकाल हुआ।

प्रतिदिन के नियमानुसार भगवान महावीर ने उपस्थित जन-समुदाय को उपदेश दिया और फिर एकान्त रह जाने पर कुछ मुनियों के समक्ष उन्होंने मेघ मुनि से कहा–

"एक ही रात के तनिक से कष्ट से तुम विचलित होने लगे? तुम यदि अपने पूर्व-भव की कथा जानते तो ऐसा नहीं होता।"

दिन और रात में बहुत अन्तर था। मेघ मुनि के हृदय में पश्चाताप जागने लगा था, किन्तु वे पूर्ण रूप से स्थिर नहीं हो पाए थे। सर्वज्ञानी भगवान के वचन सुनकर उन्होंने कहा–

"भगवन् ! मैं अपने पूर्व-भव की कथा सुनना चाहता हूँ।"

भगवान महावीर ने वह कथा आरम्भ की–

उस समय तुम वैभारगिरि पर्वत की तलहटी में छाए हुए वन में एक हाथी के रूप में जीवन व्यतीत कर रहे थे। उस जंगल के हाथियों के तुम नेता थे। हजारों हाथी तुम्हारी आज्ञा मानते थे। यूथपति थे तुम।

एक बार उस वन में भीषण दावाग्नि फैल गई। वन के छोटे-बड़े अनगिनत प्राणी अपने-अपने प्राण बचाने के लिए इधर-उधर भागने लगे। किसी को कुछ ध्यान नहीं था। केवल प्राणों की रक्षा ही उनका एकमात्र लक्ष्य बन गया था। उस भगदड़ में तुम अकेले रह गए। भटकते-भटकते तुम एक नदी के किनारे पहुँचे। भयंकर ग्रीष्म ऋतु थी। वन सुलग रहा था। भागते-भागते तुम प्यास से व्याकुल हो गए थे। नदी के शीतल जल को देखकर तुम उसमें उतर गए और पानी पीकर अपनी प्यास बुझाने लगे।

उसी समय उस स्थान पर एक अन्य हाथी भी आ पहुँचा। उस हाथी को तुमने कुछ समय पूर्व किसी अपराध पर अपने यूथ से बाहर निकाल दिया था। अतः वह तुमसे द्वेष रखता था। तुम्हें अकेला और पानी पीने में व्यस्त देखकर उसने तुम पर पीछे से आक्रमण कर दिया और अपने पैने दाँतों से तुम्हें गंभीर रूप से घायल कर दिया। थोड़े समय बाद उन घावों में से बहुत रक्त बह जाने के कारण तुम अत्यन्त दुर्बल होकर मृत्यु को प्राप्त हुए।

मृत्यु के बाद तुम विन्ध्याटवी में फिर से हाथी के रूप में ही उत्पन्न हुए। बहुत समय तक तुम सुखपूर्वक अनेक हथिनियों और हाथियों के साथ उनके नेता बनकर उस अटवी में विहार करते रहे।

एक बार उस जंगल में एक स्थान पर आग लगी हुई देखकर तुम्हें पूर्व-भव में देखी हुई दावाग्नि का स्मरण हो आया। तब तुमने भविष्य में कभी उस वन में दावाग्नि फैल जाने पर अपने यूथ के हाथियों तथा वन के अन्य जीवों की रक्षा की दृष्टि से उस वन के बीचोंबीच बहुत सारी भूमि सभी प्रकार के वृक्षों तथा झाड़-झंखाड़ों से रहित करके साफ और सुरक्षित करवा ली। एक लम्बा-चौड़ा साफ और समतल मैदान वहाँ बन गया। तुम्हारा जीवन सुखपूर्वक व्यतीत हो रहा था।

संयोगवशात् एक बार ग्रीष्म ऋतु में बाँसों की आपस में रगड़ के कारण उस वन में सचमुच ही अग्नि भड़क उठी। सूखी घास और सूखे वृक्ष देखते-देखते ही भरभराकर जल उठे। आग चारों ओर फैलने लगी। वह अग्नि इतनी भयंकर थी कि उसके प्रचण्ड ताप से उस वन के गीले वृक्ष भी एक-एक कर

जलने लगे। अग्नि की आकाश छूती हुई लपटों से सभी कुछ भस्म होने लगा। विकराल दृश्य था।

उस समस्त विशाल वन में भयानक चीख-पुकार मच गई। तुम अपने यूथ के सभी हाथियों के साथ उस मैदान में आ गए। इसी प्रकार वन के अन्य प्राणी भी दावाग्नि से अपने प्राणों की रक्षा करने के लिए उस मैदान में आकर शरण लेने लगे। हिंसक जीव अपनी हिंसा की भावना को भूल गए। निर्बल और भोलेभाले जीव अपना भय भूल गए। भय अब उन्हें केवल भयानक अग्नि से था।

देखते ही देखते वह सारा विशाल मैदान नाना प्रकार के पशुओं और अन्य जीव-जन्तुओं से भर गया। कहीं भी एक तिल रखने जितना भी स्थान शेष नहीं बचा। उसी समय तुम्हारे शरीर में खुजली चलने के कारण तुमने अपना एक पैर ऊपर उठाकर अपने शरीर को खुजाया। जब तुमने शरीर खुजाने के लिए अपना पैर ऊपर उठा रखा था, तब उसी समय एक नन्हा-सा खरगोश शरण-स्थल खोजता हुआ वहाँ आया और तुम्हारे उठे हुए पैर के कारण रिक्त हुए स्थान पर बैठ गया।

जब तुमने अपने शरीर को खुजाकर पैर वापस भूमि पर टिकाना चाहा तो तुम्हें उस स्थान पर किसी कोमल वस्तु का आभास हुआ। तुमने उस भोलेभाले खरगोश को देखा और यह भी देखा कि उस बेचारे निर्बल जीव के लिए उस मैदान में अन्यत्र कहीं कोई स्थान शेष नहीं है।

आयुष्मान् ! यदि तुम चाहते तो उस समय अपने पैर को भूमि पर टिका सकते थे। अर्थात् उस खरगोश के जीवन की चिन्ता न करके तुम स्वयं को कष्ट देने से बच सकते थे। किन्तु तुम्हारे हृदय में उस शरणागत के लिए बड़ी दया उपजी और तुमने अपना एक पैर ऊपर ही उठाए रखा। तुम केवल अपने तीन पैरों से ही खड़े रहे·····

और वह प्रचण्ड दावाग्नि पूरे सात दिन तक प्रज्वलित होती रही। उन सात दिनों तक अपने हृदय में उस खरगोश के प्रति प्रेम और दया की भावना लिए तुम तीन पैरों पर ही खड़े रहे और अपने कष्ट की तुमने तनिक भी चिन्ता नहीं की।

सात दिन बाद जब अग्नि शान्त हुई तब सभी प्राणी इधर-उधर चले गए। वह खरगोश भी कहीं चला गया। तब तुमने अपना पैर भूमि पर टिकाया।

किन्तु सात दिन तक निर्जल और निराहार रहने के कारण तुम भी बहुत अशक्त हो गए थे और तुम्हारा वह पैर निरन्तर आकाश में एक ही स्थिति में

रहने के कारण शून्यता को प्राप्त हो चुका था। अतः वह भूमि पर टिक नहीं सका और तुम लड़खड़ाकर वहीं भूमि पर गिर गए। तुम्हारा प्राणान्त हो गया।

हे मेघ ! अपनी इस अपूर्व, असीम करुणा के कारण तुम अगले जन्म में मनुष्य योनि में जन्मे और पूरे एक शत वर्षों का आयुष्य सुखपूर्वक भोगकर अब राजा श्रेणिक के पुत्र के रूप में उत्पन्न हुए हो। अपने हाथी के भव में ही तुमने एक खरगोश के लिए इतना कष्ट सह लिया, और अब मनुष्य होकर, मुनि होकर भी तनिक से कष्ट मे कैसे विचलित होने लगे? विचार करो। जिस प्रकार अमृत की प्राप्ति सभी को नहीं होती, उसी प्रकार पवित्र मुनियों के चरणों का स्पर्श भी भाग्यवानों को ही प्राप्त होता है।

मेघ मुनि साँस रोके हुए, एकटक, भगवान की सौम्य, प्रदीप्त मुखमुद्रा को देख रहे थे और उनके वचनों को सुन रहे थे। यह कथा सुनकर उनके अन्तर्नेत्र भी खुल गए। चुपचाप उठकर उन्होंने भगवान की प्रदक्षिणा की और उनके चरणों में अपना शीश झुका दिया। वे बोले–

"भगवन् ! मैं भूल गया था। आपने मुझे उबार लिया। भविष्य में अब ऐसी असावधानी नहीं होगी। आज से मेरा तन और मन तथा सम्पूर्ण जीवन ही सभी प्राणियों की सेवा के लिए अर्पित है।"

उसके बाद मेघ मुनि ने जो विकट तप किया और प्राणीसेवा का जो अभूतपूर्व उदाहरण प्रस्तुत किया, उसका वर्णन किया जा सकना शक्य नहीं है।

जीवन के अन्त में भगवान की आज्ञा से उन्होंने विपुलगिरि पर्वत के शृंग पर एक शिलापट्ट पर निराहार ध्यानावस्थित होकर अपनी देह के साथ ही जन्म-मरण के इस दुःखदायी चक्र को भी सदा-सदा के लिए त्याग दिया।

● ●

सर्दी का मौसम था। दिन छोटे और रातें लम्बी हो गई थीं। उत्तर दिशा से बहकर आने वाली हिमवात प्राणियों के शरीरों को ठिठुरा रहा था। भयंकर शीत के कारण हड्डियाँ तक काँप-काँप उठती थीं। नदियों और सरोवरों का जल बर्फ बना हुआ था। कमल और कमलिनियाँ मुरझा गये थे। वृक्ष अवसन्न खड़े थे।

ऐसे मौसम में एक बार राजा श्रेणिक और रानी चेलना किसी यात्रा से राजगृह की ओर लौट रहे थे। नगर के बाहर एक वृक्ष के नीचे एक मुनि को उन्होंने ध्यानावस्थित मुद्रा में देखा। मुनि के शरीर पर एक नन्हा-सा जीर्ण-शीर्ण वस्त्र का टुकड़ा था।

राजा और रानी ने श्रद्धाभाव से अपने रथ से उतरकर मुनि को वन्दन किया और यह सोचते हुए अपने आवास की ओर चले आये कि ऐसे भयानक शीत में भी ये मुनिगण इतने अल्प वस्त्र रखकर तप की आराधना कर पाते हैं? केवल नाममात्र को लोक-परम्परा के निर्वाह हेतु एक या दो श्वेत, हल्के, उपरिवस्त्र अथवा अधोवस्त्र धारण करते हैं, किन्तु क्या इतने से वस्त्र-परिधान से शीत से रक्षा हो पाती है?

रात्रि आई और राजा तथा रानी अपने विशाल पर्यंक पर गरम वस्त्रों को ओढ़कर सो गये।

रात में नींद में ही इधर-उधर करवट लेते हुए रानी का एक हाथ रजाई से बाहर हो गया। कुछ ही क्षणों में तेज सर्दी के कारण वह कोमल हाथ जमकर मानो बर्फ हो गया।

रानी की नींद खुल गई और उसके मुख से निकल पड़ा–"हाय ! ऐसे विकट शीत में उनका क्या हाल होगा?"

रानी को उस समय दिन में यात्रा से लौटते समय देखे हुए मुनि का स्मरण हो आया था और यह वाक्य उसने उन्हीं के विषय में कहा था। राजा की नींद भी उसी समय खुल गई थी और उन्होंने रानी के मुख से निकला हुआ यह वाक्य सुन लिया था। यह वाक्य सुनकर श्रेणिक सम्राट् के मन में सन्देह के सर्प

ने फन उठा लिया। वे सोचने लगे–मेरी यह रानी किसका चिन्तन कर रही है? अवश्य ही इसके मन में किसी अन्य पुरुष का निवास है। यह कुलटा है। हाय, मैं इसे कितनी पति-परायणा समझता था? किन्तु यह तो किसी अन्य पुरुष में अनुरक्त है। नीतिशास्त्र में ठीक ही कहा गया है कि स्त्री का विश्वास कभी नहीं करना चाहिए।

श्रेणिक इन्हीं विचारों में डूब गये। सारी रात वे करवटें बदलते रहे और रानी के प्रति अपने इन शंकायुक्त विचारों को पुष्ट करते रहे। उनकी नींद हराम हो गई।

निश्छल, निर्द्वन्द्व रानी मीठी नींद लेती रही। उसे क्या पता कि उस समय श्रेणिक जाग रहे थे और जल रहे थे।

प्रातःकाल होते ही सम्राट् उठे, अनमने-से, खोये-खोये से, और शीघ्रता से दैनिक कार्यों को निबटाकर उन्होंने अभयकुमार को अपने पास बुलाया। अभयकुमार ने तुरन्त उपस्थित होकर पूछा–

"आपने मुझे याद किया, पिताजी !"

"हाँ, अभय ! मैं थोड़ी देर के लिए बाहर जा रहा हूँ। इस बीच तुम्हें एक काम करना है।"

"आज्ञा दीजिये।"

"इस अन्तःपुर में आग लगा दो।"

सुनकर अभयकुमार जैसे आकाश से गिर पड़ा। उसे अपने कानों पर विश्वास ही नहीं हुआ। उसने विस्मित नेत्रों से अपने पिता मगधेश्वर सम्राट् बिम्बसार श्रेणिक की ओर देखा और सोचने लगा–यह मैं क्या सुन रहा हूँ? क्या आज पिताजी अस्वस्थ हैं, या मेरा ही मस्तिष्क घूम रहा है?

उसे कुछ भी समझ में नहीं आया। बात ही ऐसी थी। उसके मुख से शब्द निकले–

"आपने क्या कहा पिताजी?"

"सुना नहीं तुमने? मैंने कहा है कि इस अन्तःपुर में आग लगा दो। श्रेणिक मूर्ख था जो अब तक यह समझता रहा कि स्त्री भी विश्वासपात्र हो सकती है। अब वह जान गया है कि यह उसका भ्रम था। अभयकुमार, मेरे आदेश का पालन हो।"

यह कहकर श्रेणिक उठ खड़े हुए और तेज कदमों से द्वार की ओर चल पड़े।

उनसे भी अधिक तेज कदमों से चलकर अभयकुमार ने अपने पिता का मार्ग रोक लिया और बोला–

"पिताजी ! पिताजी ! आप नहीं जानते कि आप क्या कह रहे हैं? तनिक ठहरिये, सुनिये तो''''।"

बिम्बसार श्रेणिक शेर की भाँति गरज उठे–

"अभयकुमार ! श्रेणिक एक ही बार आज्ञा देता है और उसकी आज्ञा का उल्लंघन देवता भी नहीं करते। सुना तुमने?"

और बलपूर्वक एक हाथ से अभयकुमार को अपने मार्ग से हटाकर वे आगे बढ़ गये। अश्वशाला में जाकर स्वयं अपने हाथों से उन्होंने अपने अश्व को तैयार किया और छलाँग मारकर उस पर सवार होकर वे तीर की तरह महल से बारह निकल गये।

अभयकुमार अवाक्, जड़ित रह गया। दास-दासियाँ, अश्वशाला के रक्षक, द्वारपाल–सभी लोग भौंचक्के-से एक-दूसरे की ओर देखते हुए किसी भयानक अनिष्ट की आशंका से थरथर काँपने लगे।

वे दिन ही और थे।

अब कहाँ रहे वे दिन जब पिता की आज्ञा मानकर पुत्र आग में कूद जाने के लिए भी तत्पर रहते थे !

अभयकुमार भयानक मानसिक द्वन्द्व में घिर गया। पिता की आज्ञा का पालन करना अनिवार्य था। और उस आज्ञा का पालन करना पागलपन की पराकाष्ठा।

वह सोचने लगा। सोचता रहा–कुछ नहीं सूझा।

रानी चेलना से जाकर उसने पूछा–

"माता ! आप जानती हैं कुछ?"

"नहीं बेटा अभय, मैं तो कुछ भी नहीं जानती। रात्रि में सुखपूर्वक प्रतिदिन के अनुसार वे सोये थे। प्रातःकाल आज मुझसे भी पहले उठ गये''''।"

"रात्रि में आप या पिताजी जागे थे?"

चेलना सोचने लगी''''।

"ठीक से याद कीजिये, माताजी ! क्या आप दोनों में से कोई भी जरा देर के लिए भी नहीं जागा?"

"अरे हाँ, बेटा ! तुमने पूछा तो अब याद आया कि क्षण-दो क्षण के लिए मेरी नींद खुली थी। सर्दी भयानक थी। मेरा हाथ रजाई से बाहर निकल गया था तो उस समय मेरी नींद टूट गई थी....।"

"हाँ हाँ, फिर?"

"फिर क्या अभय, उस समय उस भयानक शीत का अनुभव करके मुझे दिन में देखे हुए उन मुनि का स्मरण हो आया जो एक वृक्ष के नीचे कड़कड़ाती सर्दी में शान्त मुद्रा में ध्यान कर रहे थे। और तब मेरे मुख से निकल गया था कि 'हाय, ऐसे भयानक शीत में उनका क्या हाल होगा?' "

अभयकुमार को सूत्र हाथ लग गया।

कुछ और विचार करके उसने पूछा–

"उस समय पिताजी जाग रहे थे क्या?"

रानी ने याद किया और कहा–

"करवट तो उन्होंने ली थी उस समय, किन्तु वे जाग रहे थे अथवा नहीं यह मैं नहीं कह सकती, विश्वासपूर्वक। मैं तो सर्दी के मारे कुड़मुड़ाकर तुरन्त फिर से सो गई। किन्तु बेटा अभय ! तू यह सब क्यों पूछ रहा है?"

"अब मैं समझ गया, माँ ! आप चिन्ता न करें। आपके मुख से निकला वह करुणामय वाक्य तथा पिताजी की करवट ही इस सारे रोग का मूल है। अच्छा, मैं जाता हूँ। आप निश्चिन्त रहें।"

अभयकुमार ने अनुचरों को आदेश दिया–

"अन्तःपुर की दक्षिण दिशा में जो पुराने, रिक्त आवास हैं, उनमें आग लगा दो। अग्नि की लपटें आकाश तक उठने दो। लेकिन ध्यान रखना, अग्नि फैलते-फैलते मूल अन्तःपुर तक नहीं पहुँचनी चाहिए। मैं शीघ्र ही लौटकर आऊँगा। तब तक यदि एक भी व्यक्ति की प्राण-हानि हुई तो तुम्हारी खाल खिंचवा लूँगा। समझ गये?"

"जो आज्ञा, मंत्रीश्वर !"

अभयकुमार ने अपना अश्व लिया और उस दिशा में तेजी से चल पड़ा जिधर राजा श्रेणिक गये थे।

× × ×

सम्राट् श्रेणिक बहुत बेचैन थे।

अपनी रानियों से उन्हें बहुत प्रेम था। उनका हृदय कोमल था। वे विवेकवान नरेश थे। किन्तु आज जो सन्देह उनके हृदय में घर कर गया था उसने उनके विवेक को मूर्च्छित कर दिया था और हृदय को अशान्त। भीषण क्रोध उनके रोम-रोम में फूटा पड़ रहा था। क्षणभर के लिए उन्हें विचार भी आता था कि कहीं उन्होंने भूल तो नहीं कर दी, लेकिन सन्देह का काला नाग फिर से फुफकार उठता था।

ऐसी ही उद्भ्रान्त अवस्था में भटकते-भटकते वे उसी दिशा में जा निकले जहाँ वे मुनि ध्यान में लीन थे। अपनी स्वाभाविक, मूल धर्मरुचि के कारण मुनिवर को देखकर श्रेणिक अपने अश्व से नीचे उतर गये। अश्व को उन्होंने चरने के लिए खुला छोड़ दिया और स्वयं ध्यानमग्न मुनि के समक्ष चुपचाप बैठ गये।

काफी समय व्यतीत हो गया।

अन्ततः मुनिवर का ध्यान पूर्ण हुआ। उन्होंने अपने प्रशान्त, करुणापूर्ण नेत्र खोले, राजा को सामने बैठा देखा और उनके मुखमण्डल पर एक मधुर स्मिति खिल उठी।

श्रेणिक को ऐसा प्रतीत हुआ मानो उसके जलते हुए हृदय पर मुनिवर के नेत्रों ने अमृत-वर्षा कर दी हो !

उन्होंने मुनि को वन्दन किया। मुनि ने आशीर्वाद प्रदान करते हुए कहा–

"आज बड़े सवेरे और अकेले ही निकल पड़े, राजन् !"

"हाँ, मुनिवर ! आज मन कुछ अशान्त है।"

"वह तो मैं देख रहा हूँ। कारण ?"

"कारण ? कैसे कहूँ, मुनिवर ! कुछ सूझ नहीं पड़ता।"

"शंका है ?"

मुनि के इस छोटे-से प्रश्न से सम्राट् श्रेणिक चौंक पड़े–क्या मुनिवर मेरे मन की बात जानते हैं ? कैसे पूछ बैठे कि शंका है ? है तो शंका ही, सन्देह ही। धीरे-धीरे उन्होंने कहा–

"आपका अनुमान, आपका ज्ञान, ठीक है, मुनिवर ! शंका ही है····।"

"और केवल शंका के आधार पर ही, बिना प्रमाण के आधार पर, बिना

विचार किये ही, इतना बड़ा अनर्थ कर बैठे, राजन् ! श्रेणिक से ऐसी आशा तो सम्पूर्ण भरतखण्ड भी नहीं करता।"

राजा फिर विस्मित हुए। एकटक मुनि की ओर देखने लगे। मुनि ने कहा–

"मेरी ओर नहीं, उधर अपने पीछे देखो श्रेणिक ! अग्नि की लपटें आकाश छूने लगी हैं।"

घबराकर श्रेणिक ने पीछे मुड़कर देखा–मुनि का कथन सत्य था। राजमहल जल रहा था। क्षणभर के लिए उनकी सारी काया काँप उठी। फिर उन्होंने बलपूर्वक स्वयं को सम्हाला और भर्राये-से स्वर में कहा–

"मुनिवर ! आप ज्ञानी हैं, सब जानते हैं। किन्तु मैं और क्या कर सकता था? मगधेश्वर बिम्बसार श्रेणिक की रानियाँ किसी पर-पुरुष का चिन्तन करें तो बेचारा मगधेश्वर क्या करे''''?"

"ऐसे वचन बोलना भी पाप है, राजन् ! शंकाशील आत्मा अपना विनाश कर बैठती है। जाओ, समय रहते अपनी भूल का सुधार कर लो, अपने पाप का प्रायश्चित्त कर लो और इस अनर्थ को रोको। तुम्हारी रानी चेलना परम सती नारी है।"

क्षणभर हतप्रभ रहकर श्रेणिक एक झटके के साथ उठे, उन्होंने मुनि को वन्दन किया और उनके वचन को प्रमाण मानकर अपने अश्व पर सवार होकर वे तेजी से राजधानी की ओर दौड़ पड़े।

उनके तप्त मस्तिष्क में विचार-चक्र तीव्र वेग से घूम रहा था–हाय ! मैं यह क्या कर बैठा? यदि मैं समय पर न पहुँच सका और किसी को कुछ हो गया तो मेरे इस पाप का क्या प्रायश्चित्त हो सकेगा?'''' सर्वनाश हो गया, श्रेणिक !

अश्व सरपट भागा चला जा रहा था। अपने स्वामी के हृदय की बात जैसे वह मूक पशु भी जानता था। राजा के लिए एक-एक पल मानो एक-एक युग के समान बीत रहा था।

इसी स्थिति में सम्राट् श्रेणिक को अभयकुमार मिल गया। उसे देखते ही श्रेणिक उबल पड़े–

"अरे मूर्ख, तूने यह क्या कर डाला? तूने सचमुच अन्तःपुर में आग लगवा दी? अरे अभय ! मैं तो तुझे बुद्धिमान् समझता था। यदि मेरी मति भ्रष्ट हो गई थी तो तुझे क्या हो गया था?"

"पिताजी ! आपकी आज्ञा''''।"

"भाड़ में गई। मूर्ख, जल्दी कर, इस अग्नि को शान्त करा। दौड़-दौड़–मेरा मुँह क्या देखता है?"

अभयकुमार मुस्करा रहा था। उसने सोचा था वही हुआ। राजा का मस्तिष्क ठिकाने आ गया था। वह कहने लगा–

"पिताजी ! आप चिन्ता न करें····।"

आग अन्तःपुर में लगी थी। चिनगारियाँ श्रेणिक की आँखों में से फूट रही थीं। वे गरजे–

"मुझे शान्ति का उपदेश दे रहा है? तेरा दिमाग ठिकाने है। अपनी माताओं को अग्नि में झोंककर तू यहाँ खड़ा-खड़ा मुझे शान्ति का पाठ पढ़ाना चाहता है?"

राजा ने फिर से अपने अश्व को एड़ लगाई। वह दौड़ने को हुआ कि अभयकुमार ने उसकी वल्गा अपने हाथ में थाम ली और बोला–

"पिताजी ! अन्तःपुर सुरक्षित है। मेरी आज्ञा से। आप शान्त हों। आग केवल दक्षिण की ओर के पुराने और निर्जन आवासों में ही लगी है। अन्तःपुर तक पहुँचने में उसे समय लगेगा, और वह समय कभी न आये इसका समुचित प्रबन्ध करके ही मैं आपको ढूँढ़ने आया हूँ। चलिये, निश्चिन्त होकर चलिये। अपने बेटे और मंत्रीश्वर पर इतना विश्वास तो कीजिये।"

अब सम्राट् श्रेणिक समझ गये। आर्यावर्त्त के सबसे अधिक बुद्धिमान् व्यक्ति का उन्हें स्मरण हुआ और उन्होंने उछलकर अपने अश्व से नीचे उतरकर अभयकुमार को अपने गले से लगा लिया।

भूल, सन्देह, शंका, आशंका, पश्चात्ताप और चिन्ता के बादल छँट गये।

श्रेणिक अपनी प्रिय रानी चेलना से मिलकर क्षमायाचना करने हेतु तेजी से उसके महल की ओर चल पड़े।

जब राजा और रानी मिले, तब रानी ने कितनी देर तक झूठा या सच्चा मान किया यह तो हमें ज्ञात नहीं, किन्तु वह सती, विदुषी नारी अन्त में प्रसन्न हो गई।

एक बहुत बड़ी त्रासदी होते-होते बच गई।

अनर्थ नहीं हो पाया।

अभयकुमार की चतुराई और विवेक के कारण।

● ●

रानी चेलना को प्रसन्न करने के लिए श्रेणिक ने उसके लिए एक नया, अत्यन्त भव्य और सुन्दर महल बनवाया। एक ही स्तम्भ पर आधारित वह प्रासाद वास्तुशिल्प का अद्‌भुत नमूना था। अभयकुमार की तीक्ष्ण दृष्टि उसके निर्माण के समय प्रत्येक घड़ी उस पर लगी रही, अतः वह प्रासाद अपनी शोभा में निराला ही रहा। उसके चारों ओर जो उद्यान बनवाया गया वह भी अनुपमेय था। भारत और आसपास के देशों में पाये जाने वाले सभी प्रकार के उत्तम, सुन्दर फूलों और फलों के वृक्ष, पौधे और लताएँ उसमें लगवाई गईं। छोटे-छोटे किन्तु अत्यन्त सुन्दर, शीतल और स्वच्छ जल से भरे हुए सरोवर भी बनवाये गये, जिनमें अनेक रंगों के कमल-पुष्प खिल उठे थे। हंस और चक्रवाक जब उन सरोवरों के नील-जल में तैरते तब उनकी शोभा अद्‌भुत हो उठती थी।

उस समय राजगृह में मातंग नाम का एक चोर रहता था। था तो वह बड़ा चतुर, किन्तु अभयकुमार के भय से वह कोई बड़ी चोरी नहीं कर पाता था। उसका साहस ही नहीं होता था। केवल जब-तब इधर-उधर कोई छोटा-मोटा हाथ मारकर किसी प्रकार अपना गुजर चला लिया करता था।

उसका वश चलता तो वह कोई अन्य व्यवसाय अपना लेता, किन्तु कोई अन्य व्यवसाय उसे आता नहीं था। अतः उसके दिन बड़ी कठिनाई में ही बीत रहे थे।

आर्थिक संकट के उन्हीं दिनों में मातंग की पत्नी गर्भवती हुई और उसे आम खाने की इच्छा हुई। उस मौसम में आम कहीं फले नहीं थे। केवल रानी चेलना के उद्यान में ही एक ऐसा आम्र-वृक्ष था जिसमें आम लगे हुए थे।

किन्तु रानी के उद्यान में से आम लाना कोई हँसी-खेल तो था नहीं।

मातंग की पत्नी बहुत उदास थी। अपनी आम खाने की इच्छा उससे रोकी नहीं जा रही थी। वह अपने पति से बोली–

"अरे, तुम इतने चतुर बनते हो, मेरे लिए आम भी नहीं ला सकते?"

मातंग ने उत्तर दिया–

"भागवान ! भला हो कि तू आम खाने की इच्छा ही त्याग दे। वरना आम तो मैं ला दूँगा, किन्तु गुठली के दाम कौन देगा?"

मातंग-पत्नी को इस बात पर हँसी आ गई। वह बोली–

"देखो जी, आम मुझे कोई तुमसे अधिक प्यारे नहीं हैं। लेकिन यह मेरे गर्भ का समय है। यदि मेरी इच्छा पूरी न हुई तो गर्भ के बालक के स्वास्थ्य पर भी बुरा प्रभाव पड़ सकता है। इसलिए····।"

"इसलिए तुम सूली पर चढ़ जाओ और मेरे लिए आम लाओ। यही कहना चाहती हो न?"

"हे भगवान ! ऐसे असगुनी शब्द क्यों बोलते हो? मैं तो जरा-से आम ला देने की बात कर रही हूँ। इतने गुणी हो। क्या बागवान को नचाकर, उसे चकमा देकर आम नहीं ला सकते?"

"एक नहीं, एक हजार बागवानों की नजर में धूल झोंक सकता हूँ। और आम ही नहीं, आम का पेड़ भी उखाड़कर ला सकता हूँ। लेकिन भागवान, तेरे और मेरे बाप उस धूर्त्त अभयकुमार की नजर को देवता भी नहीं चुका सकते। उसका क्या होगा?"

"तो फिर जाने दो। जो होना होगा सो होगा। तुम रहने ही दो।"

"लेकिन कैसे रहने दूँ? जो होना होगा, वही होगा। पर तेरे लिए आम तो मैं लाऊँगा ही।"

मातंग-पत्नी मन ही मन अपनी इच्छा-पूर्ति की आशा से प्रसन्न हो गई, किन्तु फिर भी चिन्ता प्रगट करती हुई बोली–

"लेकिन देखो जी, सावधानी बरतना, किसी को तनिक भी पता न चले। आम खाकर मैं गुठलियाँ पछीते गाड़ दूँगी।"

"हाँ, हाँ, गुठलियाँ पछीते गाड़ देना, जिससे बरसात में पेड़ उग आयें और अभयकुमार मुझे सूली पर चढ़ा दे। तू यही चाहती है न?"

"हे भगवान ! फिर ऐसे असगुनी शब्द बोले? ऐसा करूँगी फिर कि मैं आम खाकर गुठलियों की सब्जी तुम्हें खिला दूँगी।"

"मुझे नहीं खानी तेरी गुठलियों की सब्जी। गर्भ तुझे रहा है, मुझे नहीं।"

"तो फिर गुठलियों का क्या करेंगे?"

"गुठलियाँ लेकर अभयकुमार के पास जाऊँगा। कहूँगा–अन्नदाता ! जो करना हो सो करो। मेरी चहेती को आम खाने की इच्छा हुई थी सो खिला दिए। आगे अब आप मालिक हैं। सूली दो चाहे फाँसी लटकाओ।"

"हाय राम, ऐसे''''।"

"अब रहने दे अपनी हाय राम। तुझे तो आम से काम। मैं चला।"

× × ×

रात्रि के अन्धकार में और सन्नाटे में मातंग चुपचाप, निःशब्द द्वारपालों–पहरेदारों की दृष्टि बचाकर छाया की भाँति रानी चेलना के उद्यान में प्रविष्ट हुआ और प्रेत की भाँति इधर-उधर सोये हुए रक्षकों से बचते-बचाते हुए उस आम्र-वृक्ष के नीचे जा पहुँचा जो फलाभार से झुका हुआ था।

उस वृक्ष के नीचे भी एक रक्षक सोया हुआ था। पेड़ पर चढ़ना और फल तोड़कर फिर चुपचाप नीचे उतर आना खतरे से खाली नहीं था। अतः मातंग ने अपनी अवनामिनी विद्या के प्रयोग से वृक्ष की डालियों को नीचे झुकाकर आम तोड़े और उन्नामिनी विद्या से शाखाओं को फिर से यथावत् कर दिया।

उसके बाद वह जैसे आया था वैसे ही निकल गया–भूत की तरह।

प्रातःकाल जब उस वृक्ष के रक्षकों ने वृक्ष को फलविहीन देखा तो उनके हाथों के तोते उड़ गये। रानी चेलना को वह वृक्ष और उसके फल विशेष रूप से प्रिय थे और वह वृक्ष अब आभूषणविहीन विधवा की तरह शून्य दिखाई दे रहा था।

भगवान पर ही भरोसा करके और कड़े से कड़े दण्ड के लिए स्वयं को तैयार करके उन्होंने साहस करके रानी तक सूचना पहुँचाई कि आम चोरी हो गये हैं। वृक्ष सूना पड़ा है।

रानी दयावान थी। रक्षकों को तो उसने क्षमा कर दिया किन्तु अभयकुमार को बुलाकर उसने कहा–

"ऐसे चोर को पकड़ना आवश्यक है जो इतने द्वारपालों और रक्षकों के बीच से चोरी करके चला गया। आम तो कोई विशेष महत्त्व नहीं रखते, किन्तु एक चोर यदि प्रोत्साहन पाकर प्रजा के घरों में भी घुसने लगा तो प्रजा कष्ट पायेगी।"

"आप ठीक कहती हैं, माताजी ! चोर पकड़ा जायेगा।"–अभयकुमार ने आश्वासन दिया।

दिन के समय अभयकुमार मटरगश्ती करने निकला। सारे दिन वह राजधानी के बाजारों और गलियों में मस्ती से घूमता रहा। परिचितों से हँसी-मजाक करता रहा और अन्य लोगों से इधर-उधर की हाँकता रहा। जैसे कि आज उसकी छुट्टी का दिन हो और करने के लिए कुछ न हो। कोई काम शेष न हो।

सन्ध्या होते-होते वह एक मन्दिर में जा पहुँचा। मन्दिर के बाहर एक विशाल चौगान था। वहाँ आज एक संगीत की महफिल जुड़ने वाली थी। भजन-कीर्तन का मेला था। सैकड़ों लोग शाम पड़े ही वहाँ आ गये थे और गप्पें हाँक रहे थे।

अभयकुमार भी उन्हीं में शामिल हो गया और हाँकने लगा। हाँकते-हाँकते बोला–

"भाइयो ! संगीतज्ञ लोग तो अभी आये नहीं। कोई बढ़िया कथा ही सुनाओ तब तक।"

अभकुमार जैसे मंत्रीश्वर के सामने मुँह खोलने में लोगों की काया काँपती थी। कौन कथा सुनाये? ऊखल में अपना सिर कौन दे? या कौन कहे कि आ बैल, मुझे मार? जाने मुख से क्या निकल जाय? लेने के देने पड़ जायें। सब डरते थे।

अस्तु कोई भी कथा सुनाने को राजी नहीं हुआ। एक ने कहा–

"मंत्रीश्वर ! युवराज ! आप तो इतने ज्ञानी हैं। आज आप ही कोई कथा क्यों न सुनायें?"

"अच्छा, अच्छा, सुनो। एक कथा सुनाता हूँ। लेकिन एक शर्त है–कथा सुनने के बाद जो प्रश्न कथा के विषय में पूछूँ उसके उत्तर आप लोगों को जैसे भी ठीक समझें, देने पड़ेंगे। मानें तो सुनाऊँ?"

लोग उत्सुक हो गये। कहने लगे–

"आपके दर्शन ही कब होते हैं, कुमार ! आज आपके मुख से कथा सुनकर हमारे भाग जाग जायेंगे। आप सुनाइये। हमसे जैसा बन पड़ेगा सो उत्तर देंगे।"

अभयकुमार ने कथा आरम्भ की–

वसन्तपुर नाम का एक नगर था। उसमें जीर्ण सेठ नाम का एक व्यापारी रहता था। व्यापार में घाटा लग जाने से वह निर्धन हो गया था और बड़ी मुसीबत से अपने दिन गुजार रहा था। उसके एक पुत्री थी, जो अभी कुमारी थी।

रूपवती वह बहुत थी। जो भी युवक उसे देखता वह ललचा उठता। किन्तु कुछ युवक उसके पिता की निर्धनता के कारण अपने माता-पिता को उस कुमारी से विवाह करने के लिए तैयार न कर पाते और कुछ युवकों से कुमारी का पिता ही उसका विवाह करने के लिए राजी न होता। इसी प्रकार समय व्यतीत होता चला जा रहा था।

उस कुमारी को फूलों का बहुत शौक था। वह फूलों से अपने केश सजाया करती थी और देवपूजा भी किया करती थी। किन्तु अब निर्धनता के कारण फूल खरीदने के लिए उसके पास पैसे नहीं होते थे। अतः वह प्रायः एक समीप के उद्यान में जाकर चुपचाप फूल चुरा लाया करती थी।

एक दिन उस उद्यान के माली ने पक्का इरादा कर लिया वह अपनी मेहनत से उगाये हुए फूलों को चुराने वाले को अवश्य ही पकड़ेगा। यह सोचकर वह एक दिन वृक्षों तथा लताओं के झुरमुट में छिपकर बैठ गया।

बहुत देर तक वह उसी प्रकार छिपा बैठा रहा। बैठा-बैठा थक गया। ऊबकर वह उठना ही चाहता था कि कुमारी वहाँ फूल चुराने के लिए आ गई। उसे देखकर वह माली चकित रह गया। इतनी सुन्दर बाला उसने कभी देखी ही नहीं थी। वह झपटकर अपने छिपने के स्थान से बाहर आया और कुमारी का रास्ता रोककर बोला–

"आज तू पकड़ी गई। अब मैं तुझे छोड़ूँगा नहीं। इतने दिन तक तूने मेरे फूल चुराये हैं। यह समझ ले कि उन फूलों के मूल्य से मैंने तुझे खरीद लिया है। अब मैं तेरे यौवनरूपी पुष्प का उपभोग करूँगा।"

कुमारी ने शान्ति से उत्तर दिया–

"अरे भाई माली, मैंने तेरे फूल चुराये हैं, यह तो सच है; किन्तु मैं अभी कुमारी हूँ, अतः भला तेरी इच्छा की पूर्ति कैसे कर सकती हूँ? तू ही सोच, तू अपनी पत्नी के अतिरिक्त प्रत्येक स्त्री को अपनी बहन या बेटी मानता है कि नहीं?"

"मानता हूँ। तू ठीक ही कहती है। तू विदुषी मालूम होती है। लेकिन मैं तुझे एक ही शर्त पर छोड़ सकता हूँ, दूसरी पर नहीं।"

"और वह शर्त क्या है?"

"यही कि जब भी तेरा विवाह हो तब तू अपने पति के समीप जाने से पूर्व पहले मेरे पास आना। यदि यह वचन देती है तो छोड़ता हूँ।"

कुमारी ने विचार किया और कहा–

"अच्छा बाबा ! यदि तू केवल इसी शर्त पर मुझे आज छोड़ सकता है तो मैं तेरी शर्त स्वीकार करती हूँ।"

माली ने कुमारी का मार्ग छोड़ दिया।

कुछ समय पश्चात् किसी श्रेष्ठी-पुत्र से कुमारी का विवाह हो गया। धूमधाम से बारात आई और गई। रात्रि भी हुई। पति-पत्नी का शयन-कक्ष सजा दिया गया। पतिदेव प्रतीक्षा में थे कि कब उनकी नवोढ़ा पत्नी अपनी सखी-सहेलियों और नाते-रिश्तेदारनियों से छूटकर उनके पास आये और कब वे उससे प्रेम-भरी बातें करें।

अन्ततः उनकी नवोढ़ा पत्नी पायल की झंकार सहित शयन-कक्ष में आई। उसने पतिदेव के चरणों का स्पर्श किया। पतिदेव उसे प्रेम से अपने अंक में भर लेना चाहते थे कि वह बोली–

"पतिदेव ! मेरी आपसे एक विनती है।"

"विनती? अरे, हम तो कब से तुम्हारे बिना खरीदे हुए दास हैं। तुम्हारे इस रूप ने तो हमें दीवाना बना रखा है। कहो, क्या आज्ञा है?"

"ऐसा न कहिए। दासी तो मैं हूँ आपकी। आपने मुझ निर्धन को अपनाकर मुझ पर उपकार किया है। किन्तु स्वामी ! एक बार की बात है कि मैं समीप वाले उद्यान में फूल चुराने गई थी। माली ने मुझे पकड़ लिया। वह किसी भी प्रकार मुझे छोड़ने को राजी नहीं था। मेरे शील और पवित्रता का प्रसंग आ खड़ा हुआ। तब मैं बड़ी कठिनाई से उससे बचकर आ तो गई, किन्तु एक शर्त पर।"

"शर्त पर? कैसी शर्त पर?"

"स्वामी क्रोध न करें। उस माली ने मुझसे वचन लिया कि विवाह होने पर मैं अपने पतिदेव के पास जाने से पूर्व पहले एक बार उसके पास अवश्य जाऊँ। नाथ ! मुझ पर विश्वास कीजिये। मैं किसी न किसी प्रकार उस माली को अवश्य समझा दूँगी और अपनी पवित्रता नष्ट नहीं होने दूँगी, किन्तु आप मुझे अपने वचन का पालन करने की आज्ञा दीजिये। मनुष्य यदि अपने वचन का ही पालन न करे तो फिर वह मनुष्य ही क्या?"

यह बात सुनकर एक बार तो श्रेष्ठी-पुत्र चौंक गया। उसने सोचा और चाहा कि वह अपनी पत्नी को ऐसी अनुमति न दे, और उस माली को समुचित शिक्षा

देने की कार्यवाही दूसरे दिन प्रातःकाल करे, किन्तु वे दिन कुछ दूसरे ही थे। अपना वचन पालन करने के लिए लोग हँसते-हँसते अपने प्राणों की भी बलि चढ़ा देते थे। अतः कुछ क्षण मौन रहने के बाद श्रेष्ठी-पुत्र ने अपनी नवोढ़ा पत्नी को उत्तर दिया–

"प्रिये ! तुम धन्य हो कि सारी वस्तुस्थिति तुमने मुझे सच-सच बता दी और अपने वचन के पालन का तुम्हें इतना विचार है। तुम विदुषी हो, शीलवान हो। मुझे विश्वास होता है कि तुम अपनी पवित्रता को प्रत्येक विषम परिस्थिति में भी अखण्ड रह सकोगी। जाओ, मैं तुम्हें अनुमति प्रदान करता हूँ। विवेकपूर्वक अपने शील की रक्षा करना और शीघ्र लौटकर आना।"

पति की अनुमति पाकर नवोढ़ा चली। अन्धकार सघन था। किन्तु वह निर्भय थी। उसकी पवित्र आत्मा में एक मंगल अभय-दीप जल रहा था। उसी के प्रकाश में वह निर्द्वन्द्व आगे बढ़ती गई।

घर से कुछ ही दूर वह पहुँची थी कि मार्ग में उसे कुछ चोर मिल गये। वह आभूषणों से लदी हुई थी। चोरों ने उसे देखा और अपने भाग्य को सराहा। आपस में वे बोले–

"आज तो हम अच्छे शकुनों से निकले हैं। लक्ष्मी स्वयमेव ही हमारे सामने चली आई।"

चोरों ने जब उसे रोककर लूटना चाहा तब वह बोली–

"भाइयो ! तुम्हें आभूषण ही चाहिए न? तनिक ठहरो। मुझे अपने किसी वचन का पालन करने के लिए उस उद्यान तक जाना है। शीघ्र ही लौट आऊँगी। वचन देती हूँ। तब तुम ये आभूषण ले लेना।"

चोर थे तो चोर ही, किन्तु उनकी भी आत्मा थी। और जिन दिनों की यह कथा है, वे दिन ही कुछ और थे। आदमी आदमी का भरोसा करता था। आदमी आदमी से प्यार भी करता था। अतः चोरों ने उस पर भरोसा कर लिया और उसे जाने दिया।

थोड़ी दूर ही आगे जाने पर उस नवोढ़ा को रक्ष जाति का एक भयानक आदमी मिला। घनघोर जंगलों का नरमाँसभक्षी वह मनुष्य कई दिन का भूखा था और अपने भोजन की तलाश में उधर आ निकला था। उसकी भूखी आँखें अंगारों की तरह जल रही थीं। अन्धकार में उसका काला, दैत्याकार शरीर ठीक से दिखाई भी नहीं देता था, केवल वे दो जलती हुई आँखें ही दिखाई देती थीं।

उस भयानक 'राक्षस' को देखकर एक बार तो वह कोमलांगी नवोढ़ा सिहर गई, किन्तु फिर साहस करके आगे बढ़ी। वह 'राक्षस' बोला–

"तुझे खाऊँगा। बहुत दिन से भूखा हूँ।"

नवोढ़ा ने साहस और विश्वास के साथ शान्तभाव से उत्तर दिया–

"ठीक है, खा लेना। किन्तु इतने दिन भूखे रह लिये हो तो घड़ीभर और रुक जाओ। मैं अभी लौटकर आती हूँ। विश्वास रखो।"

"मूर्ख बनाना चाहती है?"

"नहीं। वचन देती हूँ।"

"अच्छा, अच्छा, वचन देती है तो जा। लेकिन आना जल्दी।"

इस प्रकार वह राक्षस भी प्रतीक्षा करने लगा। नवोढ़ा आगे बढ़ी।

उद्यान में पहुँचकर वह माली के सामने जाकर खड़ी हो गई। माली तो उसे देखकर भौंचक्का-सा हो गया। उसे लगा कि जैसे साक्षात् पुण्य और पवित्रता की कोई दीपशिखा ही उसके सामने आकर स्थिर हो गई हो। उसने कभी कल्पना भी नहीं की थी कि वह कुमारी अपने वचन का पालन करने के लिए इस प्रकार अँधेरी रात में, अकेली, सचमुच ही उसके पास आ जायेगी। वह मूक विस्मय से उसे देखता ही रह गया।

"लो, माली, मैं आ गई।"

माली की आँखों में आँसू आ गये। वह उठा और उस नवोढ़ा के सिर पर प्रेम से हाथ फेरता हुआ बोला–

"अरे बेटी ! तू तो पगली है। एक जरा-सी किन्हीं बहके हुए क्षणों की बात को तूने इस प्रकार अपने मन में रख लिया ! ऐसी अँधेरी रात में तू सचमुच यहाँ तक चली आई ! हे प्रभु, क्या तू मुझे नरक में भेजेगी? चल, चल, मैं तुझे तेरे घर तक छोड़ आता हूँ।"

क्या दिन थे वे भी जब अधम से अधम और पापी से पापी मनुष्य के हृदय में भी एक देवता निवास करता था ! आज तो जिधर भी दृष्टि जाती है पाप ही पाप दिखाई देता है।

सारे देवता मानो कहीं कूच कर गये हैं।

माली ने अपना डण्डा उठाया और चलने के लिए उद्यत हुआ। किन्तु उसे रोकते हुए नवोढ़ा ने कहा–

"तुम रहने दो भाई माली। मैं अकेली चली आई हूँ तो अकेली ही चली भी जाऊँगी। चिन्ता न करो। कभी हमारे घर अवश्य आना। जीवित रही तो अवश्य ही मिलेंगे।"

इतना कहकर वह लौट पड़ी। माली देखता रहा और न जाने क्या-क्या सोचता रहा।

मार्ग में राक्षस मिला। भूख के मारे उसका हाल बेहाल था। वह बोला–

"अरे, तू सचमुच शीघ्र आ गई। अच्छा किया। बड़ा भूखा हूँ। किन्तु तू गई कहाँ थी? क्यों गई थी? तुझे खाकर अपनी भूख मिटाऊँ उससे पहले इतना जानने की इच्छा है।"

नवोढ़ा ने सारी बात सच-सच बता दी।

सुनकर राक्षस मुँह फाड़े देखता रह गया ! उसे 'राक्षस' कहा जाता था, पर उसके हृदय में भी कहीं एक मनुष्य छिपा बैठा था। एक बार वह क्रोध अथवा आत्म-ग्लानि, जाने किस कारण से गुर्राया और बोला–

"तू मुझे समझती क्या है? भूखा हूँ तो क्या उस लम्पट माली से भी गया बीता हूँ? अरे जा, भाग यहाँ से वरना अभी कच्चा चबा जाऊँगा। चल भाग।" –कहकर और एक गुर्राती हुई हँसी हँसता हुआ वह अन्धकार में खो गया।

नवोढ़ा सोचती चली–कैसे-कैसे विचित्र आदमी होते हैं?

चोरों को भी आश्चर्य हुआ कि यह तो सचमुच ही लौट आई; लेकिन आ गई यह अच्छा हुआ। उन्हें तो केवल उसके आभूषणों से काम है।

नवोढ़ा जब एक-एक कर अपने आभूषण उतार-उतारकर उनके सामने रखने लगी तब एक चोर ने उससे कहा–

"तू बड़ी भली लड़की है। लेकिन वह माली बड़ा दुष्ट है। पापी है। हम उसे पूरी शिक्षा देंगे। तू चिन्ता न करना।"

तब नवोढ़ा ने कहा–

"भाई चोरो, तुम ऐसा कुछ न करना। वह माली तो देवता पुरुष है। उसने मेरी कोई हानि नहीं की। वह तो मुझे सुरक्षित एवं अक्षत रूप से मेरे घर तक पहुँचाने के लिए मेरे साथ आना चाहता था, किन्तु मैंने तुम्हें और उस राक्षस को वचन दिया था, इसलिए उसे अपने साथ आने नहीं दिया।"

"राक्षस? कैसा राक्षस?"–चोरों ने आश्चर्य से पूछा।

तब नवोढ़ा ने जो कुछ बीता था वह सब कुछ उन्हें बताया। सुनकर सब चोर जड़ित-से रह गये। फिर उनके नायक ने गरजकर उससे कहा–

"अपने आभूषण वापस पहन ले और चुपचाप अपने घर जा। हम चोर हैं। चोरी हमारा पेशा है। हमारी दाल-रोटी का सहारा है। लेकिन क्या हम उस माली और राक्षस से भी गये बीते हैं? वह नालायक माली और दुष्ट राक्षस तुझे छोड़ सकते हैं तो क्या हम ही जानवर हैं? आदमी नहीं हैं?–क्यों भाइयो, क्या कहते हो?"

"कहने को है ही क्या? क्या हम आदमी नहीं हैं?"–एक स्वर से सारी चोर-मण्डली बोली।

आभूषण यथास्थान आ गये। चोर-मण्डली ने नवोढ़ा को सुरक्षित उसके घर तक पहुँचा दिया।

"अब कहो भाइयो,"–अभयकुमार ने यह कथा सुनाकर एक तीखी दृष्टि डालते और मुस्कराते हुए पूछा–"माली, राक्षस, चोर और पतिदेव–इन चारों में से सबसे बड़ा त्याग किसने किया?"

प्रत्येक मनुष्य का अपना-अपना स्वभाव होता है। उसकी वाणी और व्यवहार में से उसके स्वभाव में झाँका जा सकता है। उपस्थित समुदाय में से एक ने उत्तर दिया–

"मंत्रीश्वर ! हम तो अल्प-बुद्धि वाले लोग हैं। किन्तु हमारी समझ से तो पतिदेव ने ही सबसे बड़ा त्याग किया। क्योंकि शील ही एक नारी की शोभा है, उसका सर्वस्व है। सतीत्व ही उसका नारीत्व है। यही न हो तो वह फिर नारी ही क्या? क्यों भाइयो?"–कहकर उसने इधर-उधर अपनी बात के समर्थन की इच्छा से देखा। कुछ धर्म-परायण लोगों ने अपने-अपने सिर हिलाते हुए उसकी बात का समर्थन किया।

किन्तु उस समुदाय में कुछ लम्पट स्वभाव के युवक भी थे। उनमें से एक ने कहा–

"मंत्रीश्वर ! हमारी समझ में तो सबसे बड़ा त्याग उस माली ने किया। ऐसी अक्षत सुन्दरी उसे अनायास ही प्राप्त हुई और उसने उसे छोड़ दिया। इससे बड़ी बात, इससे बड़ा त्याग और क्या हो सकता है?"

रात-दिन अनाज के एक-एक दाने के लिए अपनी हड्डियों को गलाने वाले,

अपना खून-पसीना बहाने वाले कुछ निर्धन व्यक्ति भी वहाँ उपस्थित थे। भूख क्या होती है, इसे वे ही जानते थे। उनमें से एक ने कहा–

"मंत्रीश्वर ! हम तो गरीब आदमी हैं। कभी एक जून खाते हैं तो कभी भूखा भी रह जाना पड़ता है। हम तो कहेंगे कि उस राक्षस ने ही सबसे बड़ा त्याग किया। अब वह राक्षस हो कि देवता। हम तो भूख की बात जानते हैं।"

उस समुदाय में मातंग भी था। उससे रहा न गया। वह बोला–

"मंत्रीश्वर ! लक्ष्मी प्राप्त करने के लिए आदमी क्या-क्या नहीं करता? पहाड़ खोद देता है। समुद्र लाँघ जाता है। भूखा भी रह जाता है। करणीय-अकरणीय सभी कुछ करता है। अतः मैं तो कहूँगा कि सबसे बड़ा त्याग उन चोरों ने ही किया।"

मगध का महाबली मंत्रीश्वर फिर मुस्कराया। बोला–

"अरे भाइयो ! मुझे गपशप में बहुत देर हो गई। अब चलूँगा। अच्छा, राम-राम ! अरे भाई मातंग ! जरा सुनो तो, तुमसे मुझे कुछ काम है।"

मातंग बोलने को तो बोल पड़ा था, पर अब उसके प्राण काँप उठे। वह चुपचाप डरते-डरते अभयकुमार के पीछे-पीछे चल पड़ा। उसने सोच लिया था और वह जान गया था–डूबे काली धार !

× × ×

मातंग अभयकुमार के पीछे-पीछे चल तो रहा था किन्तु उसके प्राण कण्ठ में आ चुके थे। वह स्वयं से कह रहा था–मूर्ख, तुझे बोलने की क्या जरूरत थी? क्या तू जानता नहीं था कि सामने अभयकुमार है, जो उड़ती चिड़िया को पहचानता ही नहीं, उसे बेध भी सकता है? अरे अभागे, वह तेरा नाम ही नहीं, अब तो काम भी जान गया। और खिला आम रानी जी के बाग के अपनी पत्नी को–भुगत अब अपने किये का फल।

एकान्त में अभयकुमार ने मातंग से कहा–

"मातंग ! और सब तो ठीक, लेकिन यह तो बताओ कि इतने द्वारपालों और रक्षकों की दृष्टि बचाकर, उनकी आँखों में धूल झोंककर तुम उस आम के वृक्ष के नीचे भी पहुँच गये; किन्तु उस वृक्ष के नीचे सोये हुए रक्षक से भी बचकर तुम इतने ऊँचे वृक्ष पर चढ़े कैसे, आम कैसे तोड़े और उतरे कैसे?"

मातंग अपने प्राणों की 'हा-हा' खाता हुआ, दया की भीख माँगता हुआ अभयकुमार के पैरों पर गिर पड़ा और गिड़गिड़ाता हुआ बोला–

"दयानिधान मंत्रीश्वर ! यह तो मैं जानता ही था। जब से मेरी घरवाली ने आम खाने की इच्छा की, तभी से मैंने जान लिया था कि हे मातंग ! अब तू मारा गया। घरवाली मानेगी नहीं, तू घरवाली के लिए आम लाये बिना मानेगा नहीं, और मंत्रीश्वर तुझे छोड़ेंगे नहीं। मैं जानता था, प्रभु ! अब भाड़ में जाये घरवाली का दोहद, रखे वह अपने होने वाले लड़के को सँभालकर–मातंग तो मारा गया !"

"अच्छा ! तो तुम्हारी घरवाली को आम खाने का दोहद हुआ था क्या?"

"मेरी मौत का परवाना आया था, मंत्रीश्वर ! इसे दोहद कहते हैं क्या?"

"अरे भाई मातंग, डरो नहीं। मेरे प्रश्न का उत्तर दो। तुम उस पेड़ पर चढ़े कैसे''''?"

"मैं पेड़ पर चढ़ा ही नहीं, मंत्रीश्वर ! वह तो संभव ही नहीं था।"

"तब आम कैसे तोड़े–बिना आवाज किये?"

"मंत्रीश्वर ! मुझे अवनामिनी और उन्नामिनी विद्याएँ सिद्ध हैं। इन विद्याओं से मैं पेड़ की डालियों को नीचे झुका सकता हूँ और फिर वापस ऊपर उठा सकता हूँ। किन्तु मंत्रीश्वर ! अब ये विद्याएँ मातंग के साथ ही गईं–मातंग तो मारा गया।"

"अरे, डरो नहीं मातंग, तुम चोर हो, लेकिन भले हो। भोले हो। कोई आवश्यक नहीं कि तुम हमेशा चोरी ही करते रहो। क्यों?"

"कैसे करूँगा मंत्रीश्वर ! वहाँ अब नरक में मुझे कौन चोरी करने देगा?"

अभयकुमार हँस पड़ा। कहा उसने–

"अरे मातंग, नरक नहीं, मैं इसी राजगृह की बात कर रहा हूँ। तुम्हें यहाँ कोई दूसरा अच्छा काम मिले तो नहीं करोगे क्या?"

अब मातंग को कुछ आशा की किरण दिखाई दी। अब तक तो वह सोच रहा था कि बिल्ली चूहे से खेल रही है। अभयकुमार की महानता से वह पानी-पानी हो गया। बोला–

"मंत्रीश्वर ! आप मनुष्य नहीं, देवता हैं। यदि एक बार मुझे क्षमा कर दें तो फिर चाहे भूखा ही क्यों न मर जाऊँ, चोरी कभी नहीं करूँगा।"

"तब चलो मेरे साथ। न तुम चोरी करोगे न भूखे मरोगे। मगधेश्वर सम्राट् श्रेणिक की छत्रछाया के राजगृह में कोई भूखा नहीं मरता। आओ, तुम्हें सम्राट् के पास लिए चलता हूँ।"

"मंत्रीश्वर ! मंत्रीश्वर ! दया कीजिये," मातंग काँप उठा–"सम्राट् मुझे जीवित नहीं छोड़ेंगे।"

"चलो चुपचाप अब। कह दिया–डरो नहीं।"

अभयकुमार ने मातंग को सम्राट् श्रेणिक के समक्ष उपस्थित किया। रानी चेलना भी वहीं थी। उसने कहा–

"माताजी के उद्यान में से आम चुराने वाला चोर मातंग उपस्थित है।"

श्रेणिक ने पूछा–"तुम्हारा नाम मातंग है? आम तुमने चुराये हैं?"

"हाँ, सम्राट ! घरवाली को''''।"

"इसे सूली पर चढ़ा दो, अभय ! यह खतरनाक चोर है।"–सम्राट् ने आज्ञा दी।

किन्तु अभयकुमार ने कहा–

"जो आज्ञा, पिताजी ! किन्तु इसे अवनामिनी तथा उन्नामिनी विद्याएँ सिद्ध हैं। वे इसके साथ ही चली जायेंगी। अच्छा हो कि आप इससे पहले वे गुप्त विद्याएँ सीख लें।"

"हाँ, हाँ–यह तो ठीक है। मातंग ! तुम हमें वे अपनी विद्याएँ सिखा दो।" –श्रेणिक ने आज्ञा दी।

अभयकुमार ने मातंग को अपने नेत्रों के संकेत से निर्भय और आश्वस्त किया। थरथर काँपता हुआ मातंग किसी प्रकार शान्त रहा।

राजा श्रेणिक अपने सिंहासन पर विराजे रहे और सामने एक आसन पर मातंग बैठा। अपनी विद्याओं का मंत्र उसने राजा को बताया।

राजा ने उस मंत्र को याद करने का बहुत प्रयत्न किया। बार-बार पूछा और दुहराया। किन्तु किसी भी प्रकार से उन्हें वह मंत्र याद होता ही नहीं था। अन्ततः उन्होंने अभयकुमार से झुँझलाकर कहा–

"अभय ! यह मंत्र तो मुझे याद होता ही नहीं। अलग हटाओ। मुझसे नहीं होगा।"

तब अभयकुमार ने विनीत भाव से सम्राट् श्रेणिक से कहा–

"पिताजी ! गुरू का आसन सदैव शिष्य के आसन से ऊपर होता है।"

श्रेणिक को तत्काल अपनी भूल का ध्यान आ गया। वे सिंहासन से उतरकर नीचे आ बैठे और मातंग को ऊँचे आसन पर बिठाकर उन्होंने उस मंत्र को फिर से याद किया....

अब बुद्धिमान् सम्राट् श्रेणिक को वह मंत्र एक ही बार में कंठस्थ हो गया।

उन्हें अवनामिनी तथा उन्नामिनी विद्याएँ आ गईं।

जब इन विद्याओं को मातंग से ग्रहण करके श्रेणिक उठे तब अभयकुमार ने हाथ जोड़कर उनसे विनय की–

"पिताजी ! इस विद्या का दान करने के बाद यह मातंग अब हमारा गुरु हो गया। गुरु को दण्ड देना हमारे लिए उचित नहीं है।"

अभयकुमार की यह बात सुनकर बुद्धिमान् मगधेश्वर हँस पड़े। उन्होंने कहा–

"तू बड़ा चतुर है, अभय ! पहले से ही इसे अभय का दान दे आया मालूम पड़ता है। अच्छा, ठीक किया। अब अपने इन गुरुदेव को भविष्य में चोरी न करनी पड़े तथा कोई कष्ट भी न हो इसका ध्यान रखना।"

श्रेणिक रानी सहित अन्तःपुर में चले गये।

मातंग दौड़-दौड़ा अपने घर पहुँचा और अपनी पत्नी से बोला–

"भागवान ! आम की गुठलियाँ यदि फेंकी न हों तो मुझे उनकी सब्जी बनाकर खिला दे–जरा मसालेदार।"

●●

श्रेणिक के राज्य की सुव्यवस्था तथा उसकी कलाप्रियता की ख्याति दूर-दूर तक फैली हुई थी। अनेक देशों के व्यापारी और कलाकार प्रतिदिन राजगृह में आते और जाते रहते थे। अपने-अपने देश की दुर्लभ और बहुमूल्य वस्तुएँ वे अपने साथ लाते, उनका विक्रय करते और लाभ तथा यश भी प्राप्त करके लौट जाते थे। उनके मन में राजगृह तथा सम्पूर्ण मगध देश का सौंदर्य बस जाता था। उनके हृदय में इस देश के नागरिकों के उत्तम जीवन = व्यापार की छवि अंकित हो जाती थी। साथ ही यह लालसा भी सदैव उनके मन में रह जाती थी कि अब कब उन्हें पुनः यहाँ आने का अवसर प्राप्त होगा?

ऐसा ही एक कलाकार एक बार श्रेणिक की राज्यसभा में आ पहुँचा। उसने राजा की सेवा में एक अत्यन्त सुन्दर और बहुमूल्य स्वर्णहार भेंट किया। रत्न-जटित वह स्वर्णहार इतना सुन्दर और कलापूर्ण था कि उसकी शोभा देखते ही बनती थी। ऐसा प्रतीत होता था मानो वह स्वर्णहार किसी मनुष्य के हाथों से बनाया हुआ न होकर देवताओं के द्वारा ही बनाया गया हो।

श्रेणिक उस स्वर्णहार को पाकर बहुत प्रसन्न हुए। कलाकार को उन्होंने भरपूर पारितोषिक देकर प्रसन्न किया। कलाकार ने जाते-जाते राजा को दो सामान्य-सी दिखाई देने वाली गेंदें भी भेंट कीं। राजा ने उनका कोई विशेष महत्त्व न समझते हुए भी उन्हें स्वीकार किया।

वह स्वर्णहार राजा ने अपनी प्रिय रानी चेलना को दिया। देव-दुर्लभ उस हार को पाकर रानी फूली न समाई। बहुत प्रसन्न हुई। अपने गले में उसे पहनकर वह शची के समान सुन्दर दिखाई दे रही थी।

सामान्य-से दिखाई देने वाले वे दोनों कन्दुक राजा ने रानी नन्दा को दिए। नन्दा उन्हें देखकर राजा पर बरस पड़ी–

"मुझे बच्ची समझ रखा है जो ये कन्दुक मुझे दे रहे हैं? क्या मैं इनके साथ खेलूँ? आपको तो चेलना ही प्रिय है। वह सुन्दर हार आपने उसे दिया और मुझे दे रहे हैं बच्चों के ये खिलौने?"

इतना कहकर नन्दा ने क्रोध और खीझपूर्वक वे दोनों कन्दुक सामने दीवार पर दे मारे। कन्दुक फूट गए और उनमें से जो वस्तुएँ निकलकर भूमि पर बिखर गईं उन्हें देखकर राजा-रानी विस्मित रह गए····

सूर्य और चन्द्र के तेज को भी फीका कर देने वाली अद्‌भुत आभा से युक्त दो कुण्डल थे। उनमें जड़े हुए रत्नों के प्रकाश से सारा कक्ष जगर-मगर हो उठा था। उन कुण्डलों के अतिरिक्त एक ऐसा वस्त्र भी था जिसे कला की पराकाष्ठा ही कहा जा सकता है।

रानी नन्दा ने दौड़कर वे कुण्डल उठा लिये। उसकी सुन्दर हथेलियों में वे दोनों कुण्डल ऐसे शोभित हो उठे मानो सूरज और चाँद कमल-कमलिनियों के अंक में आकर सिमट गए हों।

राजा श्रेणिक मन्द-मन्द मुस्करा रहे थे। रानी नन्दा उन कुण्डलों को अपने कानों में पहनकर मतवाली-सी झूम रही थी। बार-बार दर्पण में वह अपनी छवि निहारती और स्वयं को यह विश्वास दिलाने का प्रयत्न करती कि वह नन्दा ही है, कोई देवांगना नहीं, अथवा कि वह जाग रही है, कोई स्वप्न नहीं देख रही।

राजा श्रेणिक ने सोचा–चलो छुट्टी हुई। दोनों रानियाँ प्रसन्न। वरना अभी बखेड़ा खड़ा हो जाता।

किन्तु स्त्री के चरित्र को तो देवता भी नहीं जानते, बेचारा मनुष्य क्या जानेगा?

रानी चेलना ने जब नन्दा के कानों में वे कुण्डल देखे तो उसके तनबदन में आग लग गई। ईर्ष्या ने उसके हृदय को फूँक डाला और जब तक उसे एकान्त में राजा न मिले तब तक वह सुलगती ही रही।

राजा के मिलने पर ज्वालामुखी फूटा–

"आप जितने सीधे दिखाई देते हैं उतने हैं नहीं। छल करना कोई आपसे सीखे। मुझे यह सड़ा-सा हार देकर बहला दिया और नन्दा को दिए वे कुण्डल जो देवताओं को भी दुर्लभ हैं। आपकी प्रियतमा तो वही है। मैं आपकी कौन होती हूँ···· ?"

"अरे रानी, क्यों इतना क्रोध करती हो? मुझे क्या मालूम था कि वे कन्दुक ऐसे रहस्यमय हैं? मैंने यह सुन्दर हार तो तुम्हीं को दिया था। अब यह तो अपना-अपना भाग्य है····।"

"भाड़ में गया भाग्य और चूल्हे में जाय यह हार। मुझे वे कुण्डल लाकर दीजिए और कुछ मैं नहीं जानती।"

यह कहते हुए रानी चेलना ने वह हार अपने गले से निकाल दिया और राजा की गोद में उसे फेंककर बड़बड़ाती हुई चल दी। राजा ने उसे रोकते हुए कहा–

"रानी, जरा शान्ति से काम लो, थोड़ा सोच-विचार करो। इतनी मामूली-सी बात पर इस तरह रूठना और जिद करना तुम्हें शोभा नहीं देता। आखिर तुम सम्राट् श्रेणिक की रानी हो। तुम्हें किस वस्तु की कमी है?"

"कमी हो या न हो, मुझे वे कुण्डल चाहिए। आप नन्दा से लेकर वे मुझे दीजिए। मैं कह चुकी।"

"यह तो उचित नहीं है। एक बार मैं एक वस्तु किसी को दे चुका तो वह दे चुका। वह लौटाई नहीं जा सकती। श्रेणिक का वचन पलटा नहीं करता, चेलना !"

"तो चेलना का व्रचन भी नहीं पलटेगा। यदि आपने वे कुण्डल मुझे नहीं दिए तो मैं आग में जलकर मर जाऊँगी। कान खोलकर आप सुन लीजिएगा। कल प्रातःकाल तक वे कुण्डल मुझे मिलने चाहिए, वरना चेलना अग्नि-स्नान करेगी।"

रानी किसी प्रकार नहीं मानी। रूठकर वह अपने महल के कोपभवन में जा बैठी। परम सत्तावान पराक्रमी मगध-सम्राट् बिम्बसार श्रेणिक महाराज यहाँ आकर परास्त हो गए।

अपने जीवन में सम्राट् श्रेणिक ने अनेक विकट प्रसंगों को झेला था, अनेक संकटमय क्षणों को भोगा और जिया था, अनेक गुत्थियाँ सुलझाई थीं। किन्तु इस स्त्री-हठ के आगे उनकी एक न चली। उन्हें कोई मार्ग न सूझा। कोई समाधान उन्हें खोजे न मिला। एक बार दी हुई वस्तु वे किसी से वापस ले नहीं सकते थे, और इतनी-सी बात के लिए वे अपनी रानी को मरने भी नहीं दे सकते थे।

किन्तु उपाय क्या था?

सोचते-सोचते श्रेणिक का सिर चकराने लगा। अन्ततः उन्होंने अभयकुमार को बुलाकर कहा–

"बेटा अभय ! यह तो होम करते हाथ जल गया। वह पगली चेलना तो हठ ठाने बैठी है। और ज़िद्दी वह जैसी है सो तुम जानते ही हो। यदि वह मानी नहीं

तो गज़ब हो जायेगा। मैं किसे मुँह दिखाऊँगा? तुम ही कुछ प्रयत्न कर देखो। मुझे तो कुछ सूझता नहीं और मेरी वह कुछ सुनती भी नहीं।"

परिस्थिति की विकटता ने अभयकुमार को भी चिन्ता में डाल दिया। किन्तु कैसी भी विकट समस्या हो, हल तो खोजना ही होगा। उसने कहा–

"पिताजी ! आप चिन्ता न करें। मैं माता को समझाने का प्रयत्न करता हूँ। उन्हें समझना चाहिए।"

"समझना तो चाहिए, किन्तु ऐसे प्रसंगों पर इन स्त्रियों की बुद्धि जाने कहाँ चली जाती है? जाओ, प्रयत्न करो। कोई रास्ता निकालो।"

श्रेणिक के पास से आकर अभयकुमार सीधा रानी चेलना के आवास पर पहुँचा। दासी को उसने आज्ञा दी–

"कहो माताजी से कि अभयकुमार मिलना चाहता है।"

दासी घबराई हुई रानी के पास पहुँची और जब उसने सूचना दी तो रानी ने उसे फटकराते हुए कहा–

"मुझे किसी से नहीं मिलना है। पूछो अभयकुमार से कि क्या वह कुण्डल लाया है?"

दासी सिटपिटाई हुई लौटी और हाथ जोड़कर मंत्रीश्वर से बोली–

"महारानी बहुत रुष्ट हैं, मंत्रीश्वर ! वे पूछती हैं कि क्या आप कुण्डल लेकर आए हैं? नहीं तो वे किसी से नहीं मिलना चाहतीं।"

दासी के कथन ने अभयकुमार को और भी अधिक चिन्तित कर दिया। सीधी अँगुली से यह घी नहीं निकलने वाला है यह उसे समझ में आ गया। वह लौटकर अपने आवास में आया और देर तक विचारों में खोया रहा।

शाम ढलने लगी थी। राजगृह की भव्य अट्टालिकाओं में एक-एक कर दीपक जलने लगे थे। मगध-साम्राज्य का महामंत्री एक ऐसी गुत्थी को सुलझाने में डूबा हुआ था जिसका कोई ओर-छोर उसे मिल नहीं रहा था।

बहुत देर तक उलझे रहने के बाद अभयकुमार ने मानो कोई निश्चय कर लिया हो इस प्रकार अपने सिर को एक झटका देकर वह उठा और एक सेवक को बुलाकर आज्ञा दी–

"हस्तिशाला के नायक को शीघ्र मेरे पास भेजो।"

रानी चेलना के आवास के गवाक्ष हस्तिशाला की ओर खुलते थे। उधर होने वाली कोई भी हलचल उन गवाक्षों से दिखाई पड़ती थी और यदि ध्यान देकर सुना जाय तो वहाँ किसी भी व्यक्ति द्वारा की जाने वाली कोई भी बात सरलता से सुनी जा सकती थी। रानी के आवास की इसी स्थिति को ध्यान में लाकर अभयकुमार ने अपनी कोई योजना गढ़ी थी।

राज्य का हस्तिपालक जब हाथ जोड़कर विनम्रतापूर्वक अभयकुमार के सामने आकर खड़ा हो गया तब अभयकुमार ने अपनी योजना उस हस्तिपालक को समझाई और सावधान करते हुए कहा–

"पूरा नाटक बहुत होशियारी से करना। सारी बात बिलकुल स्वाभाविक प्रतीत होनी चाहिए।"

× × ×

आधी रात बीत चुकी थी। सारे दिन उद्यम करके थके हुए नर-नारी और पशु-पक्षी नींद की गोद,में विश्राम कर रहे थे।

किन्तु रानी चेलना की आँखों में नींद नहीं उतर रही थी। उसके जागते नेत्रों के समक्ष तो वे दैवी आभा से युक्त कुण्डल ही झिलमिला रहे थे। कभी-कभी उन कुण्डलों की झलक विलुप्त भी हो जाती थी और तब रानी की आँखों के सामने सुलग उठती थीं भीषण अग्नि से लपलपाती ज्वालाएँ। इस कल्पना चित्र के समक्ष होते ही उसके शरीर में एक सिहरन कौंध जाती थी और वह घबराकर अपनी शय्या छोड़कर कक्ष में इधर से उधर चक्कर काटने लगती थी।

आने वाला प्रातःकाल उसके लिए क्या लेकर आयेगा यह सोच-सोचकर रानी बेचैन थी।

अनिश्चय और बेचैनी की उसी स्थिति में रानी के कानों में कुछ शब्द आ पड़े। वह चौंक गई। इस आधी रात को ये शब्द कहाँ से आ रहे हैं? सारा संसार जब सोया हुआ है, तब राजमहल में यह वार्तालाप कौन कर रहा है? क्या बात चल रही है?

रानी की उत्सुकता बढ़ी और वह खुले हुए गवाक्ष के सामने जाकर खड़ी हो गई। बाहर झाँककर उसने देखा कि हस्तिशाला में प्रकाश है और एक पुरुष और एक नारी आपस में कुछ बातचीत कर रहे हैं। रानी कान लगाकर उनकी बातचीत सुनने लगी–

पुरुष था राज्य का हस्तिपालक और स्त्री थी उसकी प्रियतमा–महसेना।

महसेना आग्रह कर रही थी–"देखो जी, कल त्यौहार है। मेरी सब सहेलियाँ अच्छे-अच्छे वस्त्रों से सज-सँवरकर और आभूषण पहनकर आएँगी। मेरे पास कोई आभूषण नहीं है। तुम मुझे राजा के हाथी के गले में जो मोतियों का हार है वह एक दिन के लिए दे दो। मैं उसे ही पहन लूँगी।"

हस्तिपालक का उत्तर था–"बावली हुई है क्या? राजा के हाथी के गले का हार निकालकर तुझे दे दूँगा तो समझ ले कि मेरे गले में फाँसी का फन्दा पड़ गया।"

"झूठे बहाने बनाते हो। एक दिन के लिए हार दे दोगे तो राजा का क्या बिगड़ने वाला है? राजा क्या प्रतिदिन तुम्हारे हाथियों की चौकीदारी करता है?"

"चौकीदारी करे कि न करे, मैं वह हार तुझे नहीं दे सकता। मुझे अपनी जान नहीं गँवानी है।"

"बस ऐसा ही प्यार करते हो तुम मुझे? मैं समझ गई, तुम झूठे हो। तुम्हारी चिकनी-चुपड़ी बातें सब झूठी हैं। ठीक है, यदि तुम मुझे यह हार नहीं दोगे तो समझ लो कि तुम मेरा मुँह यह आज अन्तिम बार देख रहे हो। कल मैं अपनी जान दे दूँगी।"

"कल देती हो सो आज दे दे। मैं ऐसा मूर्ख नहीं हूँ कि इतनी-सी बात के लिए अपनी जान जोखिम में डाल लूँ।"

वार्त्तालाप यहाँ तक पहुँचा था कि उसी समय उस हस्तिपालक का एक मित्र महावत वहाँ आ पहुँचा। उसने महसेना के अन्तिम शब्द सुन लिए थे। वह समीप आकर बोला–

"अरे भाई, यह आधी रात को क्या मरने-जीने की बातें हो रही हैं? कुछ हमें भी तो खबर लगे।"

हस्तिपालक ने सारी बात अपने मित्र को बताई। सुनकर उसका मित्र बोला–

"अरे भाई, मित्र ! तुम्हारी बात ही ठीक है। तुम्हें राजा के हाथी के गले का हार किसी को नहीं देना चाहिए। ये नखरेबाज स्त्रियाँ तो ऐसी ही गीदड़ भभकियाँ देती रहती हैं। इन्हें जितना पुचकारो, उतना ही सिर पर चढ़ती हैं। जितनी ढील दो, उतना ही अकड़ती हैं। ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती भी ऐसी ही भूल करते-करते सम्हल गए थे। तुम भी वह भूल न करो तो ही ठीक है।"

अपने प्रेमी के मित्र की बात सुनकर महसेना जल-भुनकर कुछ कहने जा ही रही थी कि हस्तिपालक ने उसे बोलने से रोकते हुए कहा–

"मित्र ! यह ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती की क्या बात तुमने कही? जरा ठीक से सारी कहानी सुनाओ न?"

महावत ने कहा–"अवश्य सुनाऊँगा। किन्तु पहले इनसे कहो कि मुझे ये लाल-लाल आँखें और तिरछी त्यौरियाँ न दिखाएँ। मैं इनसे डरने वाला नहीं हूँ।"

हस्तिपालक ने महसेना का हाथ पकड़कर उसे भूमि पर बैठा दिया और बोला–

"अरी जरा शान्ति से सुन, बैठ। पीछे तुझे जो करना है सो करती रहना। ज्ञान की बात जितनी कान में पड़े सो अच्छा है। हाँ, मित्र ! अब कहो।"

रानी चेलना सब देख रही थी और सुन रही थी। ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती की कथा सुनने के लिए वह भी उत्सुक हो गई थी। महावत कहने लगा–

पांचाल देश का राजा ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती था। उसकी राजधानी थी कांपिल्यपुर। राजा बड़ा विद्वान् था और उसके राज्य में सब सुखी थे। उसकी राजधानी की शोभा का तो कहना ही क्या? बस ऐसा समझ लो कि हमारी इस राजगृह नगरी जैसी ही सुन्दर वह नगरी भी थी। कुछ उन्नीस-बीस का फरक हो तो हो।

खैर, एक दिन राजा ब्रह्मदत्त अपने घोड़े पर सवार होकर बहुत से अन्य राजाओं के साथ वन-विहार को निकला। उसका घोड़ा पवन के वेग को भी परास्त करने वाला था। तो हुआ यह कि राजा ब्रह्मदत्त आगे निकल गया और उसके साथ के दूसरे लोग पीछे रह गए। होते-होते राजा भयानक जंगल में अकेला भटक गया। कहीं रास्ता नहीं दिखाई देता था। प्यास के मारे उसका बुरा हाल हो रहा था और पानी कहीं मिला नहीं।

राजा भटकता रहा। प्यास उसके प्राण लेने पर उतारू हो गई। इतने में ही सघन वृक्षों के बीच में राजा को एक सुन्दर, स्वच्छ झील दिखाई दी। राजा की जान में जान आई। घोड़े से उतरकर उसने उस झील का अमृत के समान मीठा और ठण्डा पानी जी भरकर पिया। थोड़ी देर विश्राम करने के बाद जब राजा अपने घोड़े पर सवार होकर अपनी राजधानी की ओर लौटने लगा तो उसकी दृष्टि पास के झुरमुटों में से निकलती हुए एक अत्यन्त रूपवती रमणी पर पड़ी। इतनी सुन्दर स्त्री राजा ने इस पृथ्वी पर पहले कभी देखी नहीं थी। वह आश्चर्य में डूबा उसे देखता ही रह गया।

वह नागकन्या थी। इसीलिए इतनी सुन्दर थी। उसने राजा को नहीं देखा था। राजा ही चुपचाप उसे देखता चला जा रहा था। अब ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती ने क्या देखा कि कहीं से एक नाग निकलकर आया। वह उस नागकन्या के बिलकुल समीप ही आ गया। राजा को भय हुआ कि यह नाग इस बेचारी सुन्दरी युवती को डस लेगा। यह सोचकर उसने अपनी तलवार निकाली और ज्यों ही वह आगे बढ़कर उस नाग को मौत के घाट उतार देने का विचार कर ही रहा था कि क्या देखता है कि वह सुन्दरी भी क्षणभर में नागिन बन गई और मस्ती से उस नाग के साथ प्रेम-क्रीड़ा करने लगी।

यह देखकर राजा को पहले तो बड़ा आश्चर्य हुआ और फिर उसे क्रोध भी चढ़ा। क्रोध इसलिए आया कि उसके राज्य में इस प्रकार किसी भी प्राणी का अपने पति या पत्नी के अतिरिक्त दूसरे के पति या पत्नी के साथ प्रेमाचरण करना अच्छा नहीं लगा। अतः क्रोध में भरकर राजा ने अपने चाबुक से उन दोनों नाग और नागिन को बुरी तरह पीटा। चाबुक की मार खाते ही वे नाग और नागिन अदृश्य हो गए।

इस घटना पर विचार करता-करता राजा अपने अश्व पर सवार होकर शाम ढलते-ढलते, मार्ग खोजते-खोजते अपनी राजधानी में लौट आया।

इतनी कहानी सुनकर हस्तिपालक ने एक उपेक्षाभरी दृष्टि महसेना की ओर डाली और बोला–

"मित्र ! राजा ब्रह्मदत्त ने बिलकुल ठीक किया। ऐसे लोगों को यही सजा मिलनी चाहिए''''।"

"और तुम कौन-से दूध के धुले हो?"–महसेना चिढ़कर बोली–"घर में वह चुड़ैल बैठी है और प्रेम जताते हो महसेना से?"

"अरे भाई, तुम दोनों आपस में न झगड़ो,"–महावत ने उन्हें रोका और कहा–"अभी असली बात तो बाकी ही है। इस तिरिया-चरित्तर का हाल आगे सुनो।"

"हाँ हाँ, सुनाओ, आगे सुनाओ।" हस्तिपालक ने पालथी जमकर माल ली।

महावत कहने लगा–

अब होता क्या है कि वह नागकन्या गई अपने पाताललोक और जाकर अपने पतिदेव से भुनभुनाती हुई बोली–

"अभी जाकर पांचाल देश के राजा ब्रह्मदत्त को मारकर आओ।"

"क्यों भई, ऐसी क्या बात हो गई? वह राजा तो बड़ा न्यायी और विद्वान् है। आज तुम उस पर इतनी रुष्ट कैसे हो?"–नागदेव ने पूछा।

"उसने मेरा अपमान किया है। मैं एक झील में स्नान करके बाहर निकली थी कि उस मुए ने मुझे देख लिया और मुझसे प्रेम की भीख माँगने लगा। मैंने उसे दुत्कार दिया तो उसने अपनी चाबुक से मुझे पीटा।"–कहकर नागकन्या ने अपनी पीठ पर पड़ा चाबुक का निशान नागदेव को दिखाया। यह देखकर नागदेव को भी क्रोध चढ़ा। वह अपनी पत्नी की मनगढ़न्त बात में आ गया और उसी क्षण राजा ब्रह्मदत्त को मारने चल पड़ा।

"हाय राम, यह तो बड़ा जुल्म हुआ। बेचारा राजा व्यर्थ ही मारा गया···।" हस्तिपालक के मुख से शब्द निकले।

"अरे, सुनो तो सही, काँटे की बात तो आगे है।"–कहकर महावत ने कथा आगे बढ़ाई–

इधर तो वह नागदेव पांचाल देश को चला और उधर राजा ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती गए अपने रनिवास में। सोने से पहले रानी ने राजा से पूछा–

"आज आप वन-विहार को गए थे। यदि आपने वहाँ कोई विचित्र बात देखी हो तो हमें भी सुनाइये।"

"हाँ, रानी ! आज हमने एक विचित्र बात अवश्य देखी। तुम्हें वह सुनाते हैं।"–कहकर राजा ने उस वन में झील के किनारे घटी हुई सारी घटना अपनी रानी को सुना दी।

"कैसे-कैसे लोग होते हैं? शील और चरित्र तो जैसे कहीं शेष ही न रहा हो।"–कहकर रानी ने अपनी अलसाई आँखें बन्द कर लीं। वह मीठी नींद में सो गई।

राजा को अभी नींद आई नहीं थी कि वह नागदेव वहाँ प्रगट हुआ। उसने राजा ब्रह्मदत्त द्वारा अपनी रानी को सुनाई हुई सारी सच्ची कथा सुन ली थी। उसकी आँखें खुल गई थीं। उसने राजा से कहा–

"राजन् ! आप धन्य हैं ! आपके मुख से मैंने सच्ची बात सुन ली है, अन्यथा अपनी पत्नी के कथन पर विश्वास करके मैं तो अभी बड़ी भूल कर बैठता। मैं तो आपको मारने के लिए आया था, किन्तु अब सही बात को जान

गया हूँ। मैं आप पर प्रसन्न हूँ। आप मुझसे कुछ वरदान माँगिए। क्योंकि देव-दर्शन कभी निष्फल नहीं जाता।"

राजा ने शान्तभाव से मुस्कराते हुए उत्तर दिया–

"नागदेव ! मुझे तो किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं, फिर भी आप कहते हैं तो यह वरदान दीजिए कि मेरी प्रजा सदा सुखी रहे और चरित्रवान बनी रहे।"

"ऐसा ही होगा, राजन् ! किन्तु आप अपने लिए भी कोई न कोई वरदान अवश्य माँगिए।"

राजा ने कुछ क्षण विचार किया और कहा–

"अच्छा, आप मुझे वर देना चाहते हैं तो यह वर दीजिए कि मैं पशु-पक्षियों की भाषा समझ सकूँ।"

"तथास्तु ! ऐसा ही होगा। किन्तु राजन् ! इस वरदान के साथ एक शर्त भी है कि यदि आप इस प्रकार सुनी हुई बात किसी अन्य को बताएँगे तो तत्काल आपकी मृत्यु हो जायेगी।"

यह वरदान देकर नागदेव अदृश्य हो गए।

अब पशु-पक्षियों की भाषा समझने की शक्ति आ जाने से ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को बड़ा आनन्द आने लगा। बड़ी-बड़ी विचित्र और विस्मयकारी बातें उसे सुनने और जानने को मिलने लगीं।

एक बार राजा के लिए कस्तूरी-चन्दन का लेप तैयार किया गया। उसे देखकर राजा की पालतू गृह-कोकिला के मन में उस लेप को अपने अंगों पर लगाने की इच्छा जाग्रत हुई। उसने बड़े प्यार भरे, मीठे शब्दों में अपने प्रिय कोकिल से कहा–

"ए जी, राजा का यह लेप कितना सुगन्धिपूर्ण है ! थोड़ा मेरे लिए भी ला दो। मैं अपने शरीर पर इसे लगाऊँगी।"

प्रियतमा की बात सुनकर कोकिल ने उत्तर दिया–

"अरी बावली, अपने को ऐसे लेप का क्या करना? यदि मैं उसे लेने जाऊँगा तो राजसेवक मेरा गला घोंट देंगे।"

किन्तु वह गृह-कोकिला नहीं मानी और हठ करती रही। राजा ने उन कोकिल-कोकिला की बात सुन ली। उनकी इस मीठी और भोली बातों पर उसे

हँसी आ गई। रानी ने राजा को इस प्रकार विना किसी वात के हँसता देखा तो पूछ वैठी–

"क्यों महाराज ! हँस कैसे रहे हैं?"

"कुछ नहीं, कुछ नहीं। यूँ ही हँसी आ गई।"

किन्तु राजा के उत्तर से रानी सन्तुष्ट नहीं हुई। वह ज़िद करने लगी–

"बताना ही पड़ेगा। भला बेबात के भी कोई हँसता है? क्यों मुझसे छिपाना चाहते हो? बताओ न, क्यों हँसे आप?"

"अरी रानी, कह तो दिया कि कोई बात नहीं। हँसी ही तो है, आ गई बस।"

"नहीं, मैं मानने वाली नहीं। बताओ, और इसी क्षण बताओ, वरना कहे देती हूँ कि ठीक नहीं होगा।"

इस प्रकार रानी हठ पर अड़ गई और राजा बड़े चक्कर में पड़ गया। बताए तो कैसे बताए, और न बताए तो रानी मानने वाली नहीं। वह बात बताने का अर्थ था अपने प्राणों से हाथ धो बैठना। देवता का वरदान झूठा या वृथा तो हो नहीं सकता।

आखिर जब रानी किसी प्रकार न मानी तो राजा ने कहा–

"देखो रानी, अब भी तुम अपनी हठ छोड़ दो। वरना यदि मैं तुम्हें वह बात बताऊँगा तो मेरी मृत्यु हो जायेगी।"

किन्तु रानी को इस बात पर भी विश्वास नहीं हुआ। उसने सोचा कि राजा मुझे टालने के लिए ही ऐसी बात कर रहे हैं। वह अड़ी ही रही। उसने कहा– "यदि बताओगे नहीं तो मैं प्राण दे दूँगी।"

तब राजा ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती ने कहा–

"ठीक है, यदि तुम किसी भी प्रकार से अपनी ज़िद छोड़ने के लिए तैयार नहीं हो और प्राण देने की बात कहती हो तो कल प्रातःकाल मैं तुम्हें वह बात बताऊँगा।"

दूसरे दिन प्रातःकाल एक विशाल मैदान में चन्दन की एक चिता तैयार की गई और राजा प्रभु का स्मरण करते हुए रानी को लेकर उस चिता के समीप गए।

– ब्रह्मदत्त की राजधानी के निवासी उस मैदान में उलटे पड़ रहे थे। चारों ओर गहन, चिन्तापूर्ण शून्यता छाई हुई थी। क्या होगा यह सोच-सोचकर सभी हैरान थे।

राजा ने चिता के पास जाकर रानी से एक बार फिर पूछा–

"क्या अब भी तुम अपनी हठ पर अड़ी हो? क्या मैं तुम्हें वह बात बताऊँ और मृत्यु का आलिंगन करूँ?"

"आपको मुझे अपनी हँसी का कारण बताना ही पड़ेगा, चाहे कुछ भी हो।"

रानी का यह उत्तर सुनकर राजा ने एक लम्बी साँस लेकर कहा–"अच्छा, तो सुनो''''।"

राजा आगे कहना ही चाहते थे कि उसी समय उस मैदान में किसी खाली जगह पर चरते हुए एक बकरा-बकरी आपस में बात करने लगे। बकरी ने बकरे से कहा–

"इस राजा के घोड़े बड़े भाग्यशाली हैं। प्रतिदिन बढ़िया-बढ़िया दाना खाते हैं और मोटे होते जाते हैं। मेरी बड़ी इच्छा वह दाना खाने की हो रही है।"

बकरी की बात सुनकर बकरे ने कहा–

"जो कुछ मिलता है वह चुपचाप चरे जा। राजा के घोड़ों का दाना लाने जाकर मैं अपनी मौत नहीं बुलाना चाहता।"

बकरी ज़िद करती रही और अन्त में उसने धमकी दी–"मुझे वह दाना लाकर नहीं दोगे तो मैं मर जाऊँगी, कहे देती हूँ।"

"कल मरती हो तो आज मर। मुझे तेरे जैसी पचासों बकरियाँ मिल जायेंगी। मैं इस राजा ब्रह्मदत्त जैसा मूर्ख नहीं हूँ कि एक रानी की मूर्खतापूर्ण ज़िद पर अपनी प्रजा को अनाथ करके इस तरह मरने के लिए तैयार हो जाऊँगा। इस मूर्ख राजा ने तो अपनी एक मूर्ख रानी के मोह में अपनी अक्ल को ताक पर रख दिया है और मरने चला है। तू भी जा उसी के साथ मर जा।"

बकरा-बकरी की यह बात राजा ने सुनी और उसका विवेक लौट आया। उसने अपने गले की एक सोने की माला निकालकर उस बकरे के गले में डाल दी और उसे गुरु मानकर नमस्कार करके अपने महल में लौट गया।

इस प्रकार उस ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को ज्ञान उपजा और उसकी जान बची। प्रजा अनाथ होने से बच गई और किस्सा हुआ खत्म। अब भाई हस्तिपालक, तुम जानो और तुम्हारा काम। जैसा ठीक लगे वैसा करो। मैं तो यही कहूँगा कि मूर्ख मत बनना और बेवजह अपनी जान जोखिम में नहीं डालना।

यह कहकर महावत वहाँ से चल दिया। हस्तिपालक ने महसेना से कहा–

"सुनी तूने उसकी बात? नहीं सुनी हो तो कान खोलकर सुन ले, मैं तुझे माला देने वाला नहीं। चाहे तू जी, चाहे मर। मुझे तेरे जैसी छप्पन मिल जायेंगी।"

"मुझे भी तेरे जैसे मुए कितने ही मिल जायेंगे। तेरे जैसे के लिए जान देने वाली मैं भी नहीं हूँ।"–कहकर छमछमाती और भुनभुनाती हुई महसेना वहाँ से चल दी।

गवाक्ष में बैठी महाराज श्रेणिक की महारानी चेलना ने यह सारी घटना देखी और कथा सुनी। सुनकर उसका हृदय पीड़ा से भर उठा। वह सोचने लगी–हाय, मैं भी कैसी पागल हूँ, मेरी कैसी तुच्छ मनोवृत्ति हो गई, कि एक छोटी-सी, तुच्छ वस्तु के लिए इतनी बड़ी हठ कर बैठी। मेरे पास आभूषणों की कोई कमी नहीं। फिर भी मैंने अपनी बहन जैसी नन्दा के कुण्डल लेने चाहे और महाराज श्रेणिक जैसे उदार अपने पति के हृदय को कष्ट पहुँचे ऐसा व्यवहार किया।

हाय ! मुझसे बड़ी भूल हुई····!

मुझसे तो ये बिना पढ़े-लिखे सामान्य दास-दासी, नौकर-चाकर ही अच्छे कि जिन्होंने अपनी बातचीत से मेरी आँखें खोल दीं····।

प्रातःकाल होते ही अपनी भूल का पश्चात्ताप करके अपने पति महाराज से क्षमायाचना करेगी, यह निश्चय अपने मन में करके रानी चेलना अब स्वस्थ मस्तिष्क और हलका हृदय लेकर सो गई।

सब कुछ ठीक हो गया।

पाठक तनिक विचार अवश्य करें–संसार की ये नश्वर, तुच्छ वस्तुएँ और उनका लोभ कहीं हमारे जीवन के सच्चे सुख को नष्ट तो नहीं कर रहा?

कहीं हम अपने लक्ष्य से भटक तो नहीं रहे?

●●

एक दिन अभयकुमार अपने अश्व पर सवार होकर कहीं घूम-फिर आने के लिए प्रस्तुत हुआ ही था कि एक राजसेवक दौड़ता हुआ आकर बोला–

"प्रभु ! तनिक ठहरें। आपको महाराज इसी क्षण बुलाते हैं।"

सन्देश सुनकर अभयकुमार अपने अश्व से नीचे उतरा और तुरन्त श्रेणिक महाराज के आवास की ओर चल पड़ा। सेवक की घबराई हुई मुद्रा देखकर वह जान गया था कि अवश्य कोई अगत्य का कार्य आ पड़ा है। अन्यथा महाराज उसके कार्यक्रम में विघ्न डालकर उसे इतनी शीघ्रता से नहीं बुलाते।

अभयकुमार को देखते ही श्रेणिक कुछ कदम आगे बढ़ आए और बोले–

"अभय ! बेटा ! तूफान घिर आया है। चण्डप्रद्योत बड़े वेग से अपने विशाल सैन्य सहित राजगृही की ओर बढ़ रहा है।"

यह समाचार सुनकर क्षणभर के लिए अभयकुमार भी मानो किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर रह गया। चण्डप्रद्योत मालव-भूमि का शासक था और अपने नाम के अनुरूप ही प्रचण्ड था। उसकी सेना विशाल थी। उसकी गजसेना तो इतनी शक्तिशाली थी कि जिधर भी वह बढ़ जाती सर्वनाश ही कर डालती थी। उसकी सैनिक-शक्ति के सामने राजगृही की सैन्य-शक्ति नहीं के बराबर ही थी।

विस्मय और चिन्ता के प्रथम, क्षणिक आघात के पश्चात् स्थिर और शान्त होकर अभयकुमार ने सामने खड़े गुप्तचर की ओर देखकर प्रश्न किया–

"यह समाचार तुम लाए हो? मालवराज इस समय राजगृह से कितनी दूर हैं?"

"अधिक दूर नहीं हैं, मंत्रीश्वर ! एक या दो दिन में वे यहाँ तक आ पहुँचेंगे। उनकी सेना आँधी के वेग से आगे बढ़ रही है।"

"एक या दो दिन? केवल एक या दो दिन? अच्छा, कितनी सेना होगी उनके साथ?"

"अनुमान ही लगाया जा सकता है, मंत्रीश्वर ! उनके साथ अन्य पन्द्रह राजा भी हैं, ससैन्य। कुल मिलाकर एक लक्ष से अधिक ही सैनिक होंगे। गजसेना, रथी, अश्वारोही, पैदल .... सभी कुछ तो है ....।"

"अच्छा, ठीक है, तुम अभी जाकर विश्राम करो।"

आदेश पाकर पवनवेग से दौड़कर आया हुआ थका-माँदा दूत प्रणाम करके चला गया। एकान्त होते ही श्रेणिक बोले–

"अब क्या होगा अभय ! यह चण्डप्रद्योत तो बड़ा भीषण है। प्रचण्ड प्रवृत्ति का है। हमारा सैन्य उसके सामने कैसे ठहर पाएगा?"

"समस्या तो विकट ही है पिताजी महाराज ! किन्तु हिम्मत हारने से तो कुछ बनेगा नहीं। आप चिन्तित न हों। मुझे विचार और व्यवस्था करने दीजिए। हमारी सेना मालवराज के सैन्य के समक्ष नगण्य है, यह ठीक है, किन्तु गरुड़ यदि देवराज इन्द्र से युद्ध कर सकता है तो हम भी चण्डप्रद्योत से लड़ेंगे।"

राजा को आश्वस्त करके अभयकुमार अपने आवास में आया और शत्रुओं से घिरे हुए सिंह की भाँति बड़ी बेचैनी से इधर-उधर चक्कर काटता हुआ विचार करने लगा। उसने सोचा–शत्रु प्रबल है। उससे युद्ध तो किया जा सकता है– किन्तु ··· किन्तु युद्ध का परिणाम तो स्पष्ट दिखाई देता है ····

सहस्रों, लाखों, निरपराध सैनिक मारे जायेंगे, लाखों लोग–बच्चे, स्त्रियाँ– अनाथ हो जायेंगे, आर्यावर्त्त में विनाश की लीला होगी ····

तब क्या कोई अन्य उपाय नहीं हो सकता? साँप भी मर जाय और लाठी भी न टूटे? चण्डप्रद्योत किसी उपाय से लौट जाय और राजगृही का, मगध का सम्मान अखण्डित रह सके? विनाश की, सर्वनाश की–हिंसा की स्थिति से बचा जा सके?

बहुत समय तक अभयकुमार का विचार चलता रहा। उसने सोचा–साम, दाम, दण्ड और भेद–ये नीतियाँ शत्रु से निबटने के लिए शास्त्रों में कही गई हैं, राजनीति का सिद्धान्त हैं।

तो जहाँ तक साम का प्रश्न है, यह चण्डप्रद्योत अभिमानी है। विवेक उसके पास है नहीं। समझदारी से वह कोसों दूर है। नीति और न्याय की बात वह सुनने वाला नहीं है। अतः साम से काम नहीं चलेगा।

दाम से काम कैसे निकाला जाय? मालव-नरेश के पास सम्पत्ति की कोई कमी नहीं है। जितना भी धन दिया जाय, वह उसके लिए तुच्छ होगा और वह उसे स्वीकार नहीं करेगा। अतः यह युक्ति भी काम नहीं देगी।

दण्ड?

प्रचण्ड मालवराज को दण्ड देने की सामर्थ्य क्या राजगृही में है?

नहीं।

यही तो रोना है। यदि उतनी शक्ति होती तो समस्या ही नहीं होती। और प्रचण्ड होकर भी चण्डप्रद्योत मगध पर आक्रमण करने का साहस न करता।

अतः दण्ड का विचार या आधार भी निरर्थक है।

तब तो शेष रह गया केवल–भेद। हाँ, यहीं कुछ आशा हो सकती है। इस भेदनीति का आश्रय लेकर अनेक कमजोर पक्षों ने बड़े से बड़े, प्रबल से प्रबल अपने शत्रुओं को छठी का दूध याद कराया है।

ठीक है। अभयकुमार ने निश्चय किया–इस समय राजगृही के पास भेदनीति के अतिरिक्त अन्य कोई माध्यम इस विकट प्रसंग में से सुरक्षित निकल जाने का नहीं है।

× × ×

उज्जयिनी से राजगृही तक का आकाश थरथरा रहा था। धरती डोल रही थी। दिशाएँ हाहाकार कर रही थीं। प्रचण्ड चण्डप्रद्योत की विकट रणवाहिनी बड़े वेग से आगे बढ़ रही थी।

इस विशाल सैन्य का अश्वदल मानो अपने भयंकर खुरों से भूमि की घास-फूस और कंटक-समूहों को खोदकर फेंके दे रहा था। सैकड़ों रथों के निरन्तर वेग से घूमते चक्रों की तीक्ष्ण धार मानो उस साफ की गई भूमि में हल चला रही थी। बैलों के द्वारा खींचे जा रहे शकटों में से अनाज के दाने उस हल चलाई हुई भूमि में बिखर रहे थे। मानो एक विशाल स्तर पर अन्न बोया जा रहा हो।

और मालव-नरेश की विशाल, मदभरी गजसेना के हाथियों के गण्डस्थलों से मद झर-झरकर मानो उस भूमि को वर्षा-जल से अभिसिंचित कर रहा था।

कोई कवि यह कल्पना कर सकता था कि मानो यह कोई रण-अभियान नहीं बल्कि एक विशाल, सामूहिक स्तर पर खेती का ही अभियान था।

यह बात दूसरी है कि इस खेती में से फसल क्या उगने वाली थी–धान्य, या कि सहस्रों, लाखों ..... रक्तरंजित नरमुण्ड !

× × ×

अभयकुमार ने अपनी निश्चित की हुई योजना को क्रियान्वित करने में विलम्ब नहीं किया। राजगृही के बाहर चारों ओर मैदान में उसने स्थान-स्थान पर

स्वर्ण-मुद्राओं से भरे कलश गड़वा दिए और उस भूमि को फिर से पूर्ववत् करवा दिया।

कवियों को कल्पना करते क्या देर लगती है? कोई कवि यह कल्पना भी कर सकता था कि इस प्रकार मानो अभयकुमार ने समस्त राजगृही की ओर से अपनी प्यारी धरती माता की पूजा करके उससे यह विनय की है कि हे धरती माता ! तू हमारी है, हम तेरी पूजा करते हैं, तू हमारी ही रहना, शत्रु के अधिकार में न जाना।

यह तो हुई कवि की कल्पना !

पर, आँधी को आना था, वह आई।

चण्डप्रद्योत के विशाल सैन्य ने राजगृही को चारों ओर से घेरकर घेरा डाल दिया। राजगृही की नगर-प्राचीर के सब द्वार बन्द थे। रात्रि घिर आई थी। सैकड़ों योजन दूर से दौड़ती चली आई सेना को रातभर विश्राम मिल जाय तब प्रातःकाल सूर्य की साक्षी में राजगृही पर आक्रमण करके उसे ध्वस्त कर दिया जाय यह निश्चय करके चण्डप्रद्योत स्वयं विश्राम की स्थिति में आकर मदिरा के चषक एक के बाद एक खाली करने लगा।

चींटी को मसलने में हाथी को क्या देर लगती है? प्रचंड प्रभंजन के लिए रुई के ढेर को एक ही झपाटे में उड़ा देने में क्या कठिनाई है? अहिंसा के पुजारी श्रेणिक को ठिकाने लगाने में हत्यारे चण्डप्रद्योत को क्या देर लगेगी?

यही सब विचार करता चण्डप्रद्योत चषक पर चषक चढ़ाए चला जा रहा था। बीच-बीच में बड़बड़ा भी उठता था–राजगृही मेरी है···· राजगृही मेरी है····

हाँ, चण्डप्रद्योत ! तू शक्तिशाली है। तेरे पास अखूट पाशविक शक्ति है। तू प्रचण्ड है। किन्तु तेरे पास जो एक वस्तु नहीं है, वह श्रेणिक के पास है–

अभयकुमार की बुद्धि !

× × ×

चण्डप्रद्योत की रानी शिवादेवी श्रेणिक की रानी चेलना की बहन थी। इस नाते वे परस्पर सम्बन्धी थे। और मालव-नरेश अभयकुमार के मौसिया होते थे।

जब मालव-नरेश चण्डप्रद्योत मदिरा के नशे में झूम रहे थे और राजगृही-विजय के अपने स्वप्नलोक में घूम रहे थे, तब अभयकुमार का एक सन्देशवाहक उनके पास पहुँचा। एक संक्षिप्त लेख उसने अभयकुमार की ओर से मालवराज

की सेवा में प्रस्तुत किया। वह लेख अपने अस्थिर हाथों में लेते हुए मदान्ध मालवराज ने अट्टहास करते हुए कहा–

"अभयकुमार ने सन्देश भेजा है? जानता था .... मैं जानता था .... यह पिद्दी का बच्चा मुझसे दया की भीख माँगेगा .... कहेगा–रक्षा करो, रक्षा करो, मालवराज ! राजगृही पर दया करो। अरे, कहाँ गई तेरी .... तेरे मंत्रीश्वर की बुद्धि? सुनते थे बड़ा चतुर है। अच्छे-अच्छों को पानी पिलाने वाला है। तो अब क्या हुआ? साहस है, बुद्धि है, कुछ भी है .... तो आए अब अपने सारे बुद्धि-चातुर्य को लेकर चण्डप्रद्योत के सामने ! जानता नहीं चण्डप्रद्योत की तलवार की धार देखकर बड़े-बड़ों की अक्ल भोंथरा जाती है? हा .... हा .... हा .... अभयकुमार ने सन्देशा भेजा है ....।"

किसी प्रकार अपनी बहकती दृष्टि को स्थिर करके मालवराज ने सन्देश पढ़ना आरम्भ किया–

"राजन् ! आप युद्ध माँगते हैं तो युद्ध ही मिलेगा। किन्तु आप मेरे मौसिया हैं। माता चेतना और मौसी शिवादेवी सगी बहनें हैं। अतः इस नाते मैं आपको एक बार सावधान कर देना चाहता हूँ। आप महान् संकट में हैं। आपके साथ भीषण विश्वासघात किया जा रहा है। जिन राजाओं के भरोसे आप राजगृही पर आक्रमण करने आए हैं, वे सब विश्वासघाती हैं। उन्होंने महाराज श्रेणिक के साथ षड्यन्त्र रचा है। महाराज श्रेणिक से उत्कोच के रूप में उन्होंने बहुत-सा धन प्राप्त किया है और उसके बदले में वे कल प्रातःकाल आपको महाराज श्रेणिक का बन्दी बनाकर अपना-अपना रास्ता नापेंगे। विश्वास न हो तो इन राजाओं के खेमों (शिविरों) में भूमि खुदवाकर जो कुछ देखना हो, अपनी आँखों से स्वयं ही देख लें। समय रहते आप अपनी रक्षा कर लेंगे इस आशा के साथ–

अभयकुमार।"

लेख पढ़कर चण्डप्रद्योत का नशा हिरण हो गया। वह सिर से पैरों तक भयानक क्रोध, विस्मय, आशंका और निराशा की मिली-जुली मूर्ति बना-सा अपनी शय्या से लड़खड़ाता हुआ उठ खड़ा हुआ। कुछ क्षण तक वह पागलों की तरह अपने सामने खड़े सन्देशवाहक को सूनी-सूनी दृष्टि से देखता रहा और फिर गरजते–गुर्राते हुए स्वरों में चीखा–

"वीरभद्र !.... वीरभद्र !.... वीरभद्र !"

मालवपति चण्डप्रद्योत का अत्यन्त विश्वस्त, अनुचर और सखा वीरभद्र जब अपने स्वामी और सखा की इस प्रचण्ड पुकार को सुनकर दौड़ता हुआ आया तो उसने देखा कि चण्डप्रद्योत नंगी तलवार अपने हाथ में लिए हुए भीषण क्रोध से काँप रहे हैं····

वह कुछ समझ नहीं सका कि अचानक यह क्या हो गया? मौन, मूर्तिवत्, वह द्वार में जड़ा रह गया। मालवराज उसे देखते ही फिर गरजे–

"वीरभद्र ! क्या तू अन्धा हो गया है? मेरे शिविर में, मालव-नरेश चण्डप्रद्योत के शिविर में कहाँ, क्या हो रहा है उसकी तुझे खबर है? अरे मूर्ख, शीघ्रता कर····।"–कहते-कहते उनका ध्यान चुपचाप खड़े अभयकुमार के दूत पर गया। ठीक नहीं लगा कि उसके सामने वे अपनी कमजोरी व असावधानी इस प्रकार प्रकट करें। अतः उसे छुट्टी देते हुए वे बोले–"तुम जा सकते हो।"

प्रणाम करके दूत चला गया। तब वीरभद्र ने साहस करके पूछा–

"स्वामी ! महाराज ! बात क्या है? आप अचानक इतने क्रोधित तथा चिन्तित क्यों हैं?"

मालव-नरेश अब कुछ स्थिर हुए और बोले–

"वीरभद्र ! शीघ्रता कर। ये हरामखोर, मेरे टुकड़ों पर पलने वाले दो कौड़ी के जमींदार आज मुझसे ही विश्वासघात कर रहे हैं। अभयकुमार ने सन्देश भेजा है कि इन राजा कहलाने वाले जमींदारों ने, टुकड़खोरों ने, श्रेणिक से उत्कोच (रिश्वत) ग्रहण किया है। ये मुझे ही बन्दी बनाकर श्रेणिक के सामने प्रस्तुत करने के लिए····।"

"महाराज ! यह आप क्या कह रहे हैं? क्या ऐसा भी कभी सम्भव है? किसका साहस····?"

"इस बेईमान दुनियाँ में क्या असंभव है–वीरभद्र? जल्दी कर। जाकर देख कि क्या यह बात सच है? यदि सच है तो मेरा अश्व तैयार रख। थोड़े-से चुने हुए, कसे हुए, विश्वासपात्र सैनिकों को चुपचाप तैयार कर और शीघ्र लौटकर आ। किसी को कानोकान खबर न हो। मैं अभी उज्जयिनी के लिए प्रस्थान करूँगा।"

बात को ठीक से समझकर वीरभद्र तुरन्त चल पड़ा। बड़ी सावधानी से उसने मदिरा के प्रभाव से गहरी नींद में डूबे एक-दो राजाओं के शिविरों की खोज की और अभयकुमार की बात को सत्य पाकर वह उल्टे पैरों मालव-नरेश के शिविर में भागता आया और बोला–

"महाराज ! अन्नदाता ! स्वामी ! गज़ब हो गया। अभयकुमार की बात सत्य है। आइये, क्षणभर भी अब इन विश्वासघाती लोगों के बीच में रहना खतरनाक सिद्ध हो सकता है। जाने किस घड़ी ये लोग क्या कर बैठें? आइये प्रभु ! आपका अश्व समरविजय तैयार है।"

मालव-नरेश चण्डप्रद्योत अब तक पूरे होश में आ चुके थे। अपने विश्वासपात्र अनुचर का कथन सुनकर वे तुरन्त बाहर निकल आए। चलते-चलते ही बोले–

"इन कुत्तों को ऐसा पाठ पढ़ाऊँगा वीरभद्र कि ये जीवनभर याद रखेंगे। मैंने इन्हें राजा बनाया है और ये ही आज मुझे शत्रु का बन्दी बनाने के लिए प्रस्तुत हो गए? इन्हें दर-दर का भिखारी बना दूँगा। एक-एक को सूली पर चढ़ाऊँगा। इनकी खाल खिंचवाकर उसमें भूसा भरवा दूँगा। इनके''''।"

"शान्त रहें महाराज ! यह समय क्रोध करने का नहीं है। उचित समय पर इन लोगों को समुचित दण्ड दिया जायेगा। आप शक्तिवान हैं। आइये, इस ओर से निकल चलिए।"

रात के अँधेरे में वीरभद्र द्वारा दिखाई गई दिशा में मालवा का प्रचण्ड सामर्थ्यवान अधिपति चुपचाप चल पड़ा और उसने सीधा उज्जयिनी पहुँचकर ही दम लिया।

× × ×

दूसरे दिन मालव-नरेश के शिविर में बड़ा तमाशा हुआ। सब राजा एक-दूसरे से पूछ रहे थे कि उनके सम्राट् कहाँ गए? किसी को कुछ पता नहीं था। सभी भौंचक्के-से, बौखलाए-से घूम रहे थे और चिन्ता के बादल उनके चेहरों पर घिरे थे।

धीरे-धीरे उन्हें वस्तुस्थिति का ज्ञान हुआ। पता चला कि मालव-नरेश भाग खड़े हुए हैं–उज्जयिनी चले गए हैं। यह भी मालूम हुआ कि इस प्रकार उनका राजगृही का घेरा छोड़कर अचानक, त्वरित गति से, चुपचाप चले जाने का कारण क्या हुआ। उन राजाओं को यह बात ज्ञात हो जाय, इसका प्रबन्ध भी अभयकुमार ने बड़ी चतुराई से कर दिया था।

और तब तो वहाँ भगदड़ मच गई। जब चण्डप्रद्योत जैसा विकट लड़ाका ही मैदान छोड़कर भाग गया तब अन्य किसमें इतना साहस था कि आगे आता? सारी सेना शीघ्रता से अपने डेरे-तम्बू उखाड़कर भाग खड़ी हुई।

उस भागती हुई सेना की राजगृही के सैनिकों ने जमकर पिटाई की। ढेर सारी युद्ध सामग्री राजगृही के हाथ लगी और घिरा हुआ संकट दूर हो गया।

मालव-नरेश के साथी राजा लोग राजगृही से तो बचकर निकल आए, किन्तु अब चण्डप्रद्योत के क्रोध से बचकर कहाँ जायें? किसी को कुछ सूझ नहीं रहा था। चण्डप्रद्योत का उन पर अविश्वास हो गया था और वह उन्हें अब आसानी से छोड़ेगा नहीं यह सभी जानते थे।

किन्तु आखिर वे भी राजा थे। योद्धा थे। अपने आत्म-सम्मान की रक्षा के लिए वे अपना जीवन भी होम सकते थे। सोचते-सोचते उन सभी ने साहस करके मालव-नरेश को सच्चाई से अवगत कराने का निश्चय किया–फिर जो होना हो सो हो जाय।

उज्जयिनी पहुँचकर वे सब चण्डप्रद्योत के सामने हाथ जोड़कर खड़े हो गए। उनके नेता ने निवेदन किया–

"महाराज ! हम आपके सेवक हैं। जीवन और मरण में हम आपके अनुगामी हैं। आपके एक संकेत मात्र पर हम अपना शीश उतारकर दे सकते हैं। यह शीश प्रस्तुत है, उतरवा लीजिए। किन्तु आपको भ्रम हुआ है। हम विश्वासघाती नहीं हैं। यह सब छल उस पापी अभयकुमार का रचा हुआ है। महाराज ! लोग सत्य ही कहते हैं कि वह अकेला आदमी अपने बुद्धिबल से सम्पूर्ण आर्यावर्त्त की सम्मिलित सेनाओं को परास्त कर सकता है। उसके पास विचित्र, लोकोत्तर बुद्धि है–राजन् ! हम उसी अभयकुमार की अद्‌भुत बुद्धि और चातुर्य के समक्ष परास्त हुए हैं। हमें क्षमा कीजिए। हम पर अविश्वास मत कीजिए।"

"आप लोग अपने-अपने आसनों पर विराजिए।"–कहकर मालव-नरेश चण्डप्रद्योत एकदम गुमसुम होकर गहन विचारों में खो गए।

राजा लोग चुपचाप बैठ गए। बहुत देर तक कोई कुछ नहीं बोला। मालव-नरेश विचारमग्न थे।

अन्त में उन्होंने अपना मौन तोड़ा और कहा–

"आप लोग ठीक कहते हैं। उस छोकरे ने हमें उल्लू बनाया है। उसे सबक सिखाना पड़ेगा। उसे जीवित पकड़कर उज्जयिनी लाना होगा। कहिए, आप लोगों में से कौन इस बात का बीड़ा उठाता है?"

सन्नाटा खिंच गया।

प्रचण्ड और प्रबल मालव-नरेश के सभाभवन में एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं था जो इस दुष्कर कार्य को स्वीकार कर सकता। वनराज केसरी को भी जीवित पकड़कर लाने की बात होती तो अनेक पराक्रमी वीर अपने प्राणों की बाज़ी लगाकर यह कार्य करने का साहस कर सकते थे।

किन्तु अभयकुमार को पकड़कर लाना?

कोई नहीं बोला। सभी राजा और सभी शूर-सामन्त सिर झुकाए अपनी-अपनी मूँछें चबाते रहे।

तब चण्डप्रद्योत को फिर से क्रोध का उबाल आ गया। वे बोले–

"देख लिया आप लोगों का साहस। देख ली आप लोगों की भक्ति। एक जरा-से कल के छोकरे से आप लोग इतना भयभीत हैं? ठीक है, आप लोग आराम फरमाइये। चण्डप्रद्योत अकेला जायेगा''''।"

"महाराज ! महाराज ! ऐसा दुस्साहस न कीजिए। कुछ समय सोचने-विचारने के लिए दीजिए। इतनी जल्दी करने में खतरा है। कोई न कोई उपाय किया जायेगा''''।"

मालवा के मंत्री का यह कथन पूरा नहीं हो पाया। उस समय उस सभाभवन में उपस्थित एक गणिका हाथ जोड़कर कुछ कदम आगे आई और बोली–

"अन्नदाता ! राजराजेश्वर ! एक प्रार्थना मैं भी करना चाहती हूँ। राजगृही के उस अभिमानी अभयकुमार को जीवित पकड़कर लाने का बीड़ा मैं उठाती हूँ। आपकी कृपा से मैंने घाट-घाट का पानी पिया है। बल से वह वश में आने वाला नहीं है। उसे किसी न किसी प्रकार छल से ही परास्त करना होगा। और महाराज ! इस कला में आपकी कृपा से मालवा की, विशेष रूप से उज्जयिनी की गणिकाएँ जगत् प्रसिद्ध हैं। आप मुझे आज्ञा और आशीर्वाद दीजिए।"

सभाभवन में उपस्थित सभी लोगों ने उस गणिका के कथन की उपयुक्तता को समझा और सभी ने उसकी बात का समर्थन किया।

"मधुमालती ! यदि तुमने यह कार्य कर दिया तो चण्डप्रद्योत तुम्हें हीरे-मोतियों से तोल देगा।"

● ●

श्रेणिक को जैनधर्म के गुणों तथा श्रेष्ठ सिद्धान्तों को ठीक से समझ लेने के पश्चात् इस धर्म में गहरी आस्था हो चुकी थी। वे भगवान महावीर के अनुयायी हो चुके थे। उपासक बन गए थे। उनकी अधिकांश प्रजा भी अहिंसा, प्रेम और दया को अपना मूलाधार बनाकर चलने वाले इस उत्तम, कल्याणकारी धर्म का ही अनुसरण करने लगी थी। इसके परिणामस्वरूप उनके राज्य में सर्वत्र शान्ति व्याप्त रहती थी और अनैतिक कार्य कोई नहीं करता था।

धर्म मूलतः भावना की, एक विशिष्ट प्रकार के जीवन-व्यवहार की बात है। अतः महाराज श्रेणिक के राज्य में सभी धर्मों को मानने वाले लोग सुख-शान्तिपूर्वक रहते थे। कोई किसी की भावना को ठेस नहीं पहुँचाता था। कोई किसी की उपासना को हेय दृष्टि से नहीं देखता था। कोई किसी का बाधक नहीं बनता था।

एक विशिष्ट धर्म-निरपेक्षता का, सहिष्णुता का, उदारता का वातावरण राजगृही में सदैव बना रहता था।

अभयकुमार भी अपने पिता के समान ही परम धार्मिक व्यक्ति था। नियमित रूप से धर्म-ध्यान करना तथा पूज्य एवं विद्वान् तथा त्यागी मुनिवरों के दर्शन करने और उनके सदुपदेश सुनने जाना उसका नित्य का नियम था। राजकार्य की व्यस्तता में से भी इस पुनीत कार्य के लिए वह समय निकाल ही लिया करता था।

जैन धर्मानुयायी नागरिक-प्रजा अनेक उद्यानों तथा स्थानकों में विराजित पूज्य मुनिवरों के दर्शनार्थ नित्य उमड़ती रहती थी। उनके सदुपदेश लोगों के हृदयों को निर्मल एवं पावन बनाया करते थे।

ऐसे अनेक सुन्दर, स्वच्छ, सादगी के प्रतिरूप स्थानक राजगृही में थे। किन्तु नए-नए स्थानक भी बनते रहते थे। उनमें सादगी तो प्रमुख रूप से रहती ही थी, किन्तु साथ ही उस नैसर्गिक सादगी में भी प्राचीन वास्तुकला को मूर्तरूप प्रदान किया जाता था। वह कला ऐसी दिव्य होती थी कि देखने वाले ठगे-से रह जाते थे। उन्हें लगता था कि जैसे यह कला अभी-अभी स्वतः ही बोल पड़ेगी। ये पाषाण स्वतः ही वीतराग भगवन्तों का गुणगान करने लगेंगे।

ऐसा ही एक अद्‌भुत जैन स्थानक अभी-अभी बनकर तैयार हुआ था। उसकी विशालता और भव्यता देखते ही बनती थी और उसकी ख्याति दूर-दूर के देशों तक जा पहुँची थी। दूर-दूर देशों के धार्मिक व्यक्ति तथा कला-प्रेमी लोग उस स्थानक को देखने तथा वहाँ विराजित मुनिवरों के सदुपदेशों का अमृतपान करने राजगृही आने लगे थे। उन सभी यात्रियों के आवास तथा भोजनादि की व्यवस्था अत्यन्त उत्तम थी। कोई भी व्यक्ति जितने दिन भी चाहे, राजगृही में आकर रह सकता था। उसे आवास अथवा भोजनादि के खर्च की चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। स्वयं अभयकुमार उन परदेशी यात्रियों की प्रत्येक सुख-सुविधा पर विशेष दृष्टि रखता था।

जो भी आता वह वीतराग भगवन्तों तथा अभयकुमार की भी जय-जयकार करता ही लौटता।

कुछ दिन से राजगृही में जैन धर्मानुयायी एक विदुषी श्राविका अपनी दो पुत्रवधुओं सहित आकर ठहरी हुई थी। उसकी धर्मभावना प्रबल थी। वह तथा उसकी दोनों पुत्रवधुएँ बेचारी विधवा थीं। क्रूर काल ने असमय ही उनके पतियों को उनसे छीन लिया था। पूर्वकृत कर्मों का अनिवार्य परिणाम मानकर वे बेचारी अपने मन को समझाकर अब अपना सारा जीवन धर्म को अर्पित कर चुकी थीं। उनका सारा ध्यान धर्म की उपासना और संयम का पालन करने में ही लगा रहता था।

श्राविका प्रौढ़ा थी, किन्तु उसकी मुखछवि अब भी सुन्दर और आकर्षक थी। उस आकर्षक मुखछवि पर शान्त, उपासनामय जीवन-आचरण ने और भी प्रगाढ़ गांभीर्य ला दिया था, जो किसी भी व्यक्ति को सहज ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेने में समर्थ था।

युवती पुत्रवधुएँ भी अत्यन्त सुन्दर और कोमल थीं। प्रतिदिन तपस्या और उपासना में लगी रहने के कारण यद्यपि उनकी देह कुछ कृश हो चली थी, फिर भी तेज और लावण्य की तरंगें उनके आसपास उठती रहती थीं।

अभयकुमार का ध्यान इन अनाथ विधवाओं की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुआ था और उनकी सुख-सुविधा का वह बराबर ध्यान रखता था।

एक दिन उसने शिष्टता तथा सहानुभूति से प्रेरित होकर श्राविका से कहा–

"आप किसी प्रकार का संकोच न करें। कर्मों के फल से तो कोई भी प्राणी आज तक बच नहीं सका। किन्तु जो हुआ, सो हुआ। मनुष्य धैर्य और साहस का आश्रय लेकर अपना आगे का मार्ग निष्कंटक कर सकता है।"

"हाँ, मंत्रीश्वर ! आप ठीक कहते हैं। मैं भी ऐसा ही सोचती हूँ। मुझे अपनी तो कोई विशेष चिन्ता नहीं है, किन्तु कभी-कभी इन बेचारियों के भाग्य का विचार करती हूँ तो हृदय में पीड़ा होने लगती है। जीवन में इन्होंने अभी देखा ही क्या है?"

इतना कहते-कहते श्राविका के नयन भीग आए। अपने श्वेत आँचल से उसने आँखें पोंछ लीं।

अभयकुमार ने कहा–

"बहन ! आपको साहस रखना चाहिए। आप तो विदुषी हैं। आप राजगृही को अपना ही घर समझें और मुझे अपना भाई मानें।"

"यह आपकी बड़ी कृपा है, मंत्रीश्वर ! आपके विषय में जैसा सुना था, वैसा ही आपको देख रही हूँ। आपके जैसे भाई को पाकर कौन नारी निहाल नहीं हो जायेगी? किन्तु भाई, हम लोगों ने निश्चय कर लिया है कि आगामी जन्मों को सुधार लेने के लिए हम तीनों शीघ्र ही साध्वी-जीवन गृहण कर लेंगी। अब इस नश्वर जगत् में मन नहीं रमता है।"

श्राविका के इस निश्चय की बात सुनकर अभयकुमार कुछ क्षण मौन रह गया। फिर उसने कहा–

"बहन ! आपका निश्चय तो शुभ ही है। किन्तु ये कोमल बालिकाएँ क्या अभी से साध्वी-जीवन के कष्टों को सहन कर सकेंगी?"

"मंत्रीश्वर ! भाई ! अब तो यही होना है। इस जीवन में शेष रह ही क्या गया है? इस आयु में वैधव्य से बढ़कर अब और क्या कष्ट होगा? दैव के पास इन्हें देने के लिए '''' ।"

आँखें फिर भर आईं। झर-झर आँसू बहने लगे। अभयकुमार सहानुभूति में डूबा उदास देखता रहा। गहन शोक के उन क्षणों में कुछ भी बोलना उसे एक अपराध-सा ही प्रतीत हुआ।

× × ×

इस घटना के दो-चार दिन बाद ही प्रातःकाल मुनिदर्शन के पश्चात् वह श्राविका और उसकी पुत्रवधुएँ अपना नाममात्र का सामान बटोरकर यात्रा की तैयारी करने लगीं। कुछ धार्मिक पुस्तकें और दो-दो, चार-चार श्वेत वस्त्र ही कुल मिलाकर उनका सामान था। उसी समय अभयकुमार वहाँ आ पहुँचा। उसने पूछा–

"यह क्या हो रहा है बहन ! कैसी तैयारी है ?"

"आगे चलने की तैयारी है भाई ! भगवान महावीर इस समय कुछ ही भोजन की दूरी पर विहार कर रहे हैं। वहीं तक जाना है। उनकी ही शरण में यह जीवन अब सौंप देना है।"

"क्या कहती हैं आप ? इतनी जल्दी ? क्या भाई के घर आपको कोई कष्ट है ?"

"फिर वही कष्ट की बात ? इस प्रश्न को जाने ही दो अभय भाई ! हम लोग निश्चय कर चुके हैं।"

अभयकुमार ने देखा कि निश्चय अटल है। दृढ़ता अडिग है। वह एक लम्बी साँस लेकर रह गया फिर धीरे-से बोला–

"ठीक है। धर्म के पुण्य-पथ पर बढ़ते आपके कदमों को मैं रोकूँगा नहीं। किन्तु एक आग्रह तो आपको इस बन्धु का स्वीकार करना ही होगा। आज नहीं, कल जाइये और आज मेरा आतिथ्य स्वीकार कीजिए।"

"इतने दिन यह और किसका आतिथ्य स्वीकार किया है अभयकुमार ? सब कुछ तुम्हारा ही तो है। अब तो रोको नहीं''''।"

"ऐसा नहीं होगा। आज आपको मेरे घर चलना ही होगा बहन !"

अभयकुमार के आग्रह की दृढ़ता तथा विशुद्ध स्नेह को देखकर क्षण-दो क्षण ठहरकर श्राविका ने उत्तर दिया–

"अच्छा, तुम्हारे आग्रह और आदेश को मैं कैसे टाल सकती हूँ ? तुमने मुझे भाई का स्नेह दिया है। किन्तु फिर तो हमें एक नहीं, दो दिन और ठहरना होगा। आज तुम्हारे घर चलेंगे और फिर कल तुम्हें मेरे हाथ की रूखी-सूखी ग्रहण करनी होगी।"

"इसकी क्या आवश्यकता है''''?"

"प्रत्येक कार्य आवश्यकता से प्रेरित होकर ही नहीं करना चाहिए। जीवन में विविधता बनाए रखने के लिए कभी-कभी कोई अनावश्यक कार्य भी कर लेना चाहिए मगध के मंत्रीश्वर !"–कहते-कहते वह श्राविका अपने सारे गांभीर्य को एकबारगी ही तिलांजलि देकर मुक्त रूप से, कुछ रहस्यपूर्ण ढंग से हँसने लगी।

अभयकुमार उस हँसी को देखता रहा। उस विचित्र हँसी का कोई ओर-छोर उसे मिला नहीं।

× × ×

अभयकुमार की धर्म-बहन अपनी पुत्रवधुओं के साथ उसके प्रासाद में भोजन करने गई। विदा करते समय अभयकुमार ने उसे कुछ बहुमूल्य वस्त्र और मणि-माणिक्य भेंट में देने चाहे तो उसी रहस्यमय हँसी के साथ उत्तर आया–

"मंत्रीश्वर ! भाई ! इन वस्तुओं का हम क्या करेंगे? हमारे पास अब धन-संपत्ति की कोई कमी नहीं है। अपना सब कुछ लुटाकर हमने संयम और संतोष की वह अखूट सम्पत्ति प्राप्त कर ली है जिसे पाने के बाद संसार की अन्य सभी वस्तुएँ तुच्छ हो जाती हैं।"

बात गलत नहीं। संतोष-धन के प्राप्त हो जाने के बाद अन्य सब धन धूलि के समान हो जाता है। इस तथ्य को अभयकुमार जैसा ज्ञानी व्यक्ति बहुत अच्छी तरह जानता था। और फिर उसकी धर्म-बहन ने भगवान महावीर की शरण में जाकर दीक्षा ग्रहण करने का अपना इरादा भी उसे बता दिया था, अतः उसने फिर कोई विशेष आग्रह नहीं किया।

प्रेमपूर्वक विदा लेते हुए श्राविका ने कहा–

"भूलना नहीं, भाई ! कल प्रातःकाल अपनी इस भूली-भटकी बहन के हाथ की रूखी-सूखी ग्रहण करने अवश्य आना।"

"अवश्य। भला यह भी कोई भूलने की बात है? मैं आऊँगा–अवश्य आऊँगा।"

अतिथियों के चले जाने के बाद अभयकुमार कुछ देर तक गंभीर विचारों में डूबा रहा। श्राविका की वह विचित्र और रहस्यभरी-सी हँसी उसके मन को कुछ अशान्त किए हुए थी। उस हँसी के मर्म को वह जानना चाहता था। सन्देह उसे कुछ हो रहा था, अब वह निश्चय कर लेना चाहता था।

अपने एक विश्वस्त गुप्तचर को बुलाकर उसने कहा–

"वह जो श्राविका स्थानक के समीप ठहरी हुई है, उसकी प्रत्येक गतिविधि पर ध्यान रखो। और सायंकाल तक आकर मुझे सारी सूचनाएँ दो। देखो, बहुत सावधानी से, चतुराई से सब कुछ देखना और पता लगाना।"

सायंकाल गुप्तचर ने आकर जो सूचनाएँ अभयकुमार को दीं वह सुनकर और जानकर अभयकुमार एक बार मुस्कराया और बोला–

"ठीक है, तुम जा सकते हो।"

गुप्तचर प्रणाम करके विदा हुआ।

दूसरे दिन प्रातःकाल अभयकुमार ने अपने पिता मगधपति सम्राट् बिम्बसार श्रेणिक से बहुत देर तक बातचीत की और अन्त में उन्हें सूचित किया–

"पिताजी ! मैं कुछ दिन के लिए उज्जयिनी जा रहा हूँ। यह मधुमालती श्राविका बनकर मुझे लेने आई है। असावधानी से, अथवा सहज उदारतावश मैंने उसे एक बार बहन कह दिया है जो अब उसका आग्रह भी रखे ही लेता हूँ। कुछ दिन के लिए मुझे अवकाश ही मिल जायेगा और थोड़ा घूमना-फिरना हो जायेगा। मैं जानता था कि चण्डप्रद्योत मौसाजी शान्त बैठने वाले जीव नहीं हैं। अब वे कौन-सी चाल चलेंगे, यही मैं विचार कर रहा था। उनकी चाल मेरी पकड़ में आ गई है। आप चिन्ता न करें।"

"लेकिन, बेटा अभय ! तुम यह कर क्या रहे हो? क्यों जान-बूझकर शत्रु के हाथों में पड़ रहे हो? शेर की माँद में सिर क्यों डाल रहे हो?"–श्रेणिक ने चिन्ता व्यक्त की।

"पिताजी ! चण्डप्रद्योत यदि शेर हैं, आप कह रहे हैं तो माने लेता हूँ, शेर ही होंगे। किन्तु मेरी बुद्धि उन्हें सियार भी बना सकती है। और फिर वे मेरे मौसिया हैं। शिवारानी मेरी मौसी हैं। कुछ दिन के लिए अपनी मौसी के घर पहुनाई ही कर आता हूँ, आप ऐसा ही समझें। उज्जयिनी की बड़ी प्रशंसा सुनी है। देख भी आता हूँ।"

अभयकुमार ने हँसते-हँसते यह बात कही, किन्तु श्रेणिक की चिन्ता दूर नहीं हुई। उन्होंने मन की बात कही–

"मेरे बेटे अभय ! मुझे तुम्हारी बुद्धि और बल पर भी, पूरा भरोसा है। किन्तु फिर भी मेरा मन नहीं मानता। चण्डप्रद्योत बड़ा विकट व्यक्ति है। जाने उसे क्या सूझे और वह क्या कर बैठे?"

"पिताजी ! चण्डप्रद्योत विकट है, इसीलिए तो मैं एक बार वहाँ हो आना ठीक ही समझता हूँ। यदि मैं अभी वहाँ न गया तो निश्चय मानिए कि वह स्वयं फिर से यहाँ आएगा और फिर व्यर्थ ही हजारों-लाखों लोगों का रक्त बह जायेगा। हिंसा का ताण्डव-नृत्य हो जायेगा। इस हिंसा-कांड को रोकने के लिए ही मुझे वहाँ जाना ही चाहिए। आप मुझ पर भरोसा रखिए। मुझे कुछ नहीं होगा और मैं शीघ्र ही सकुशल लौटकर आऊँगा।"

पिता का मन तो नहीं मान रहा था।

किन्तु राजा के कर्त्तव्य ने विजय पाई।

श्रेणिक ने कहा–

"अच्छा, तो बेटा, जैसी तुम्हारी इच्छा। भगवान तुम्हारी रक्षा करें। खूब सावधान रहना, बेटा ! यदि तुम्हें कुछ हो गया तो मेरा बुढ़ापा बिगड़ जायेगा।"

सम्राट् श्रेणिक अन्त तक चिन्ता ही व्यक्त करते रहे। आखिर वे पिता थे– और वह भी अभयकुमार जैसे पुत्र के। उनकी चिन्ता स्वाभाविक थी। किन्तु अभयकुमार ने उन्हें आश्वस्त करके मना लिया और हँसते-हँसते सुदूर मालवा से आई अपनी 'बहन' का आतिथ्य स्वीकार करने चल पड़ा।

अभयकुमार को सचमुच आया देखकर वह श्राविका बनी गणिका मधुमालती प्रसन्न हो गई।

बड़ी चतुर गणिका थी वह।

इसीलिए तो उसने चण्डप्रद्योत की राजसभा में अभयकुमार को जीवित पकड़कर उज्जयिनी ले आने का बीड़ा उठाया था।

किन्तु फिर भी उसे शंका बनी हुई थी कि कहीं अभयकुमार को दाल में कुछ काला नजर न आ जाय और उसका सारा परिश्रम व्यर्थ हो जाय–योजना या षड्यन्त्र–विफल न हो जाय।

किन्तु अभयकुमार आ गया था।

वह चतुर गणिका मन ही मन अपनी विजय के स्वप्न देखने लगी।

अभयकुमार को स्वच्छ आसन पर बिठाती हुई वह बोली–

"भाई ! तुम आ गए, बड़ा आनन्द आया। मैं सोचती थी कि मगध जैसे राज्य का महामंत्री, और वह भी जिसका नाम हो–अभयकुमार–कहीं मुझ जैसी दीन-हीन बहन की उपेक्षा न कर दे। कितने कार्य हैं उसके पास? कहाँ से समय निकाल पायेगा वह?"

"अरे वाह ! ऐसा भी कभी हो सकता है? मैंने कहा था न कि मैं आऊँगा, और अवश्य आऊँगा। तब फिर चिन्ता की क्या बात रह जाती थी–बहन? अभयकुमार अपना कोई वचन, कभी भंग नहीं करता।"

"हाँ, ऐसा सुना तो है। और आज देख भी रही हूँ।"–उसी रहस्यमय मुस्कान के साथ उस श्राविका बनी गणिका ने कहा।

भोजन की तैयारी हुई। बड़ा स्वादिष्ट भोजन बड़े यत्न से तैयार किया गया था। अभयकुमार ने छककर भोजन किया।

उसी बीच सुगन्धित जल में अपने विचार से अभयकुमार की दृष्टि बचाकर मधुमालती ने अत्यन्त तीव्र एवं प्रभावकारी चन्द्रहास मदिरा की कुछ बूँदें मिला दीं।

चन्द्रहास मदिरा को तत्काल मूर्च्छना प्रदान करने वाली तीव्रतम मदिरा माना जा सकता था।

अभयकुमार सब कुछ देख रहा था। जान रहा था। उसे पहले से ही पता था कि क्या-क्या कुछ होने वाला है।

अतः वह मन ही मन मुस्कराता हुआ, इधर-उधर देखने का नाटक करता हुआ, शान्त और स्वस्थ बना रहा तथा जल दिए जाने पर उसे सारा का सारा गटागट पी गया।

अभयकुमार की तैयारी पूरी थी।

लेशमात्र भी असावधानी करना उसके स्वभाव में ही नहीं था।

भोजन के बाद अभयकुमार को गहरी निद्रा ने आ घेरा। वह आँख मूँदकर ऐसा सोया कि मानो अब उज्जयिनी पहुँचने से पहले उठेगा ही नहीं।

गणिका मधुमालती को बड़ी प्रसन्नता हुई। उसे अपनी योजना सफल होती दिखाई दी।

किन्तु उसे यह भूलना नहीं चाहिए था कि पाला अभयकुमार से पड़ा है।

मधुमालती ने सब तैयारी पहले से ही कर रखी थी। तीव्र वेग से दौड़ने वाले अश्वों से युक्त रथ प्रस्तुत था। सोये हुए अभयकुमार को मालवा से बुलाए हुए कुछ छद्मवेशी सैनिकों की सहायता से अभयकुमार को उस रथ में लिटा दिया गया और सारथी ने रथ हाँक दिया। अश्व हवा से बातें करने लगे।

मानो उन्हें पंख लगे थे। वे पवनवेग से उज्जयिनी के मार्ग पर उड़ चले।

● ●

मालव-नरेश चण्डप्रद्योत बहुत प्रसन्न थे। वे सोचते थे कि अभयकुमार को पाकर उन्होंने मगध का सर्वस्व हरण कर लिया है। अब वहाँ रखा ही क्या है? बिना लड़े-भिड़े राजगृही का रत्न उनके हाथ लग गया था। उसे अब वे किसी भी मूल्य पर खोना नहीं चाहते थे।

अभयकुमार को बड़े प्रेम से अपने पास बुलाकर वे बोले–

"अभयकुमार ! बीती बातों को बिसार दो। तुम मेरे पुत्र के समान ही हो। सुखपूर्वक उज्जयिनी में रहो और महाकाल की छाया में आनन्द करो। कहो, हमारी उज्जयिनी तुम्हें कैसी लग रही है?"

"बहुत सुन्दर ! बहुत श्रेष्ठ ! महाराज ! उज्जयिनी को तो आपने अपने बाहुबल से साक्षात् अमरावती ही बना दिया है।"–अभयकुमार ने मन्द स्मित के साथ उत्तर दिया।

"तब तुम अब यहाँ से जाओगे तो नहीं?"

"सो कैसे जा सकता हूँ? मैं तो आपका बन्दी हूँ। और उज्जयिनी के कारागार सुदृढ़ हैं।"

"कारागार सुदृढ़ हैं। एक चिड़िया भी मेरी आज्ञा के बिना उनमें प्रवेश नहीं कर सकती, या एक बार प्रविष्ट कर दिए जाने के बाद बाहर नहीं जा सकती। किन्तु अभयकुमार, तुम बन्दी नहीं हो। तुम मेरे साथ महलों में ही रहोगे। और तुम्हारी जैसी इच्छा होगी, उसके अनुरूप जहाँ चाहोगे वहाँ आओगे, जाओगे। किन्तु .... एक वचन तुमको देना होगा।"

"वह क्या?"

"कि तुम मेरी आज्ञा के बिना राजगृही नहीं लौटोगे।"

"क्या करेंगे आप मुझे यहाँ रखकर? आपको क्या कमी है?"

"जो कमी थी वह तुम्हारे आने से पूरी हो गई है। मेरे पास सब कुछ था– केवल अभयकुमार की बुद्धि मेरे पास नहीं थी। वह भी अब मिल गई। वचन दो कि तुम राजगृही नहीं लौटोगे।"

चण्डप्रद्योत के इस कथन पर अभयकुमार ने कुछ क्षण विचार किया।

विचार इसलिए किया कि शब्द जो कहे जायें, फिर उनका पालन होना ही चाहिए।

अपने कथन के जाल में किसी अविवेकी को फँसा लेना, यह अलग बात है।

अन्त में अभयकुमार ने कहा–

"अच्छा महाराज ! आपने मुझे पुत्रवत् माना है तो मैं भी आपको वचन देता हूँ कि आपकी स्वीकृति के बिना राजगृही नहीं लौटूँगा।"

"और कुछ?"

"बस। और कुछ नहीं। तुमने वचन दे दिया, यह पर्याप्त है। मैं जानता हूँ, पूरा आर्यावर्त्त जानता है कि अभयकुमार अपने वचन का भंग कभी नहीं करेगा।"

"और मैं यह भी जानता हूँ कि अभयकुमार को उसकी इच्छा के विपरीत उज्जयिनी में रोके रखने की शक्ति किसी में नहीं है। अब तुम अपनी मौसी शिवारानी से मिल आओ। वह तुमसे मिलने को बहुत उत्सुक है। प्रायः कहा करती है कि काश ! यह लड़का मेरी कोख से उत्पन्न हुआ होता। लेकिन अब तुम यहाँ आ ही गए हो। जाओ, जाओ, उनसे मिल आओ। वे प्रतीक्षा कर रही होंगी।"

शायद जीवन में प्रथम बार प्रचण्ड चण्डप्रद्योत आज कुछ भावुक हो आए थे।

× × ×

महाराज चण्डप्रद्योत इस दृष्टि से भाग्यशाली थे कि उनके पास चार विशिष्ट रत्न थे–एक रानी शिवादेवी, दूसरा अनलगिरि नामक हाथी, तीसरा अग्निभीरु नामक रथ तथा चौथा रत्न था लौहजंघ नाम का अत्यन्त चतुर गुप्तचर।

रानी शिवादेवी साक्षात् देवी का ही रूप थीं। उनकी उपस्थिति ही सभी प्रकार के विघ्नों को दूर करने वाली और मंगलकारी थी।

अनलगिरि हाथी ऐरावत का अवतार जैसा प्रतीत होता था। उसकी सशक्त और विशाल देह अत्यन्त सुन्दर थी और उस उतनी बड़ी काया में जो वेग था वह विस्मयकारी था।

अग्निभीरु रथ भी महाराज चण्डप्रद्योत के लिए एक वरदान था। उस रथ में सवार हो जाने के बाद मालव-नरेश अविजेय हो जाते थे।

तथा लौहजंघ नामक गुप्तचर से तो महाराज चण्डप्रद्योत के शत्रु राजा हैरान थे। वह इतना चतुर था और उसकी गतिविधियाँ इतनी सूक्ष्म और वेगपूर्ण थीं कि वह किस समय कहाँ पहुँचा जाय और कब क्या कर बैठे यह कोई नहीं जानता था। किसी भी व्यक्ति के अथवा किसी भी राज्य के गुप्त से गुप्त रहस्य वह इस प्रकार जान लेता था जैसे सब कुछ उसका आँखों के सामने ही घटित हो रहा हो।

इस लौहजंघ से पीछा कैसे छुड़ाया जाय इसकी चिन्ता अनेक राजाओं को बराबर बनी रहती थी।

एक बार कुछ राजाओं ने मिलकर बड़ा माथा लड़ाया और किसी न किसी प्रकार लौहजंघ को मार डालने का निश्चय किया। परिणामस्वरूप एक बार जब यह गुप्तचर अपने महाराज का कोई सन्देश देकर किसी राजा के यहाँ से लौट रहा था तब उस राजा ने उसके मार्ग के लिए रखे जाने वाले भोजन में तीव्र विष मिलवा दिया।

लौहजंघ अपने अश्व पर सवार होकर उज्जयिनी की ओर चल पड़ा। संध्या होने तक उसने शिप्रा नदी के तीर पर पहुँचकर अपने अश्व को पानी पिलाकर हरी-हरी घास चरने छोड़ दिया और स्वयं हाथ-मुँह धोकर भोजन करने बैठा। उज्जयिनी बहुत दूर नहीं थी।

आलथी-पालथी मारे वह अपने भोजन की पोटली खोलने जा ही रहा था कि अचानक अभयकुमार वहाँ आ पहुँचा। वह आज प्रातःकाल ही अपने अश्व पर सवार होकर उज्जयिनी के आसपास के सुन्दर वनों में भ्रमण करने निकल पड़ा था।

अभयकुमार को देखकर लौहजंघ ससम्मान उठ खड़ा हुआ और हाथ जोड़कर बोला–

"मंत्रीश्वर ! पधारिये, मेरा सौभाग्य कि आप इस समय यहाँ मिल गए। आइये, कुछ भोजन कर लीजिए।"

लौहजंघ ने यह बात शिष्टाचारवश ही कही थी, किन्तु वह नहीं जानता था कि आज सचमुच उसका भाग्य प्रबल था कि अभयकुमार उस समय वहाँ पहुँच गया, अन्यथा संभव था, संभव ही क्या सुनिश्चित ही था कि मालव-नरेश उस दिन अपने एक रत्न से हाथ धो बैठते और लौहजंघ अतीत का एक प्राणी बनकर रह जाता।

अभयकुमार ने अभिवादन का उत्तर दिया और लौहजंघ के समीप आकर एक दृष्टि उसकी भोजन की पोटली पर डाली। एक विचित्र प्रकार की सूक्ष्म और मादक गंध उस पोटली में से आ रही थी जिसे लौहजंघ अनुभव नहीं कर पाया था, किन्तु अभयकुमार की प्रति क्षण जाग्रत चेतना से वह छिपी नहीं रह सकी। उसने कहा

"लौहजंघ, यह भोजन कहाँ से लाए हो? इसे तो फेंक ही दो तो अच्छा। बल्कि थोड़ी अग्नि जला लो, इस पोटली को बिना खोले ही अग्निदेव को समर्पित करना होगा।"

लौहजंघ कुछ समझा नहीं। बोला–

"मंत्रीश्वर ! भूख के मारे बेहाल हो रहा हूँ। लम्बी मंजिल तय करके आया हूँ। भोजन फेंकना क्यों होगा?"

"इसलिए कि इस भोजन में तीव्र विष मिला हुआ है। इतना ही नहीं, उस विष और विशेष भोजन के प्रभाव से इसमें विष सर्प उत्पन्न हो गया है। वह गन्ध तुम्हें अनुभव नहीं हो रही? यदि तुमने इस पोटली को खोल भी लिया तो उस दृष्टि-विष सर्प की पहली दृष्टि पड़ते ही तुम समाप्त हो जाओगे।"

अभयकुमार की यह बात सुनते ही लौहजंघ सकते में आ गया। प्रति क्षण सावधान रहने वाला मालवा का सर्वश्रेष्ठ गुप्तचर आज इतना असावधान कैसे हो गया? क्षण-दो क्षण का भी विलम्ब यदि अभयकुमार को वहाँ पहुँचने में हो जाता तो सारी कथा ही समाप्त हो जाती।

अग्नि प्रज्वलित की गई और वह पोटली उसमें सावधानी से जला दी गई। दृष्टि-विष सर्प ने बच निकलने का प्रयत्न किया, किन्तु वह बच नहीं सका, उसे भस्म होना ही था।

लौहजंघ अभयकुमार के चरणों में गिरकर बोला–

"मंत्रीश्वर ! आज आपने मेरे प्राण बचा लिए। आपकी सावधानी और बुद्धि को धन्य है। किस प्रकार मैं आपकी इस कृपा का मूल्य चुका सकूँगा? मेरे जैसा सामान्य सेवक आपके लिए कर भी क्या सकता है?"

"चलो, चलो, अब घर चलो। कुछ करने की आवश्यकता नहीं है। भूख से बेहाल हो न? शीघ्र घर पहुँचो और चैन से भोजन करके लम्बी तानो।" –कहते-कहते अभयकुमार अपने अश्व पर सवार हो गया। लौहजंघ ने भी अपना अश्व सँभाला और दोनों अश्वारोही उज्जयिनी की ओर चल पड़े।

नगरी में पहुँचकर लौहजंघ तो अपनी भूख-वूख सब भूल गया। वह सीधा महाराज के पास पहुँचा और जो कुछ घटना घटित हुई थी वह उन्हें कह सुनाई। सुनकर चण्डप्रद्योत आश्चर्य में डूब गए और अपने प्रिय अनुचर के प्राण बच जाने से बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने तुरन्त अभयकुमार को बुलाकर कहा–

"अभयकुमार ! आज तुमने मालवा पर बड़ा उपकार किया है। इसीलिए तो मैं तुम्हें यहाँ से जाने नहीं देना चाहता। तुम यहाँ बने रहोगे तो मुझे जाने कितना लाभ मिलता रहेगा? यह लौहजंघ कोई सामान्य गुप्तचर नहीं है, यह मेरे राज्य का एक रत्न है। इसके प्राणों की रक्षा करके तुमने मुझ पर उपकार किया है। इस खुशी में तुम्हें एक वरदान देना चाहता हूँ। तुम मुझसे जो कुछ भी चाहो, माँग लो। केवल राजगृही लौटने की बात मत करना।"

अभयकुमार ने मीठा हास्य बिखरते हुए उत्तर दिया–

"महाराज ! मैंने किसी पर कोई उपकार नहीं किया है। प्रत्येक प्राणी के जन्म-मरण की घड़ी निश्चित और अटल है। यह तो संयोग है कि मैं उस समय वहाँ जा पहुँचा। रही बात वचन माँगने की सो मेरी प्रार्थना है कि यह वचन अभी आप मेरी ओर से अपने पास ही सुरक्षित रखें। समय आने पर मैं आपसे माँग लूँगा।"

"जैसी तुम्हारी इच्छा। जब भी चाहो तब माँग सकते हो। चण्डप्रद्योत भी अपने वचन का भंग कभी नहीं करता।"

वचनदाता आश्वस्त था कि माँगने वाला कुछ अनुचित नहीं माँगेगा और वचन प्राप्त करने वाले को भरोसा था कि वचन भंग नहीं होगा।

पुराने जमाने की बातें हैं ये।

× × ×

महाराज चण्डप्रद्योत की रानी अंगारवती ने अपने पति को वासवदत्ता के रूप में एक ऐसी पुत्री भेंट की थी जिसे रमणी-रत्न ही कहा जा सकता है। यह कन्या जितनी सुन्दर थी उतनी ही मेधावी भी थी। सरल कलाओं को उसने अपने आचार्यों से हँसते-खेलते ही ग्रहण कर लिया था। द्वितीया के चन्द्रमा के समान बढ़ती-बढ़ती वह अब यौवन की देहरी पर पहुँच गई थी। चण्डप्रद्योत उसके लिए किसी सुयोग्य वर की तलाश में थे।

किन्तु राजकुमारी का विवाह करने से पूर्व वे चाहते थे कि वासवदत्ता संगीत कला में भी पूर्णरूपेण पारंगत हो जाय। वैसे वह गायन में निपुण थी, किन्तु उसकी इच्छा थी कि वीणावादन में भी उसे निपुणता प्राप्त हो जाय।

और उस युग में कौशाम्बी-नरेश महाराज उदयन के समान वीणावादक पूरे भरतखण्ड में अन्य कोई नहीं था। वे जब वीणा बजाते थे तब समूची सृष्टि उनकी वीणा की झंकार पर नृत्य करने लगती थी। उनकी वीणा के अलौकिक स्वरों को सुनकर जड़ पदार्थों में भी चैतन्य का स्फुरण होता-सा प्रतीत होता था और चेतन प्राणी विमुग्ध, विमूर्च्छित होने लगते थे। आर्यावर्त्त के कुशल से कुशल वीणावादक अपनी वीणा का स्पर्श करने से पूर्व मन ही मन महाराज उदयन को नमस्कार करते थे।

किन्तु महाराज उदयन वासवदत्ता को वीणावादन की शिक्षा दें, यह कैसे सम्भव हो?

प्रश्न था, और विकट प्रश्न था, क्योंकि चण्डप्रद्योत और उदयन में शत्रुता थी।

सोचते-सोचते चण्डप्रद्योत ने अभयकुमार से ही पूछा–

"क्या किया जाय? महाराज उदयन मुझसे रुष्ट हैं–और मैं वासु (वासवदत्ता) को वीणावादन तो उन्हीं से सिखलाना चाहता हूँ। मेरे आग्रह से तो वे कभी मानेंगे नहीं।"

"हाँ, प्रश्न तो जटिल ही है। किन्तु महाराज उदयन जैसे वीर हैं, वैसे ही महान् कलाकार भी हैं। कला की पूजा और उसके विस्तार के लिए वे छोटी-छोटी बातों को बिसार भी सकते हैं। ऐसा मुझे लगता है।"–अभयकुमार ने कहा।

"तो क्या मैं उनके पास प्रार्थना करने जाऊँ?"

"नहीं। उससे कोई लाभ होता मुझे दिखाई नहीं देता। सम्भव है वे आपकी प्रार्थना को ठुकरा दें।"

"तब आखिर क्या किया जाय?"

"एक बार उदयन महाराज वासवदत्ता को देखें और उसका गायन सुनें तो मुझे आशा है कि उनका कलाकार जाग्रत होगा और वे हमारे आग्रह को स्वीकार कर लेंगे।"

अभयकुमार की यह बात सुनकर महाराज चण्डप्रद्योत कुछ क्षण विचार करते रहे और फिर बोले–

"तुम्हारी बात तो ठीक लगती है। प्रयत्न करके देखा जा सकता है। किन्तु यह किया कैसे जाय? क्या वासु को कौशाम्बी भेजा जाय? यह तो मेरे लिए सम्भव नहीं। ऐसा करना तो शोभनीय नहीं लगेगा।"

"राजकुमारी को कौशाम्बी भेजने की आवश्यकता नहीं। महाराज उदयन को ही यहाँ लाना होगा।"

"कैसे?"

"एक छोटा-सा अपराध करना होगा और फिर सारे अपराधों की क्षमा एक साथ ही माँग ली जावेगी। किसी महान् उद्देश्य के लिए कोई छोटा-सा अपराध करना पड़े तो हानि नहीं है।"

"मैं समझा नहीं तुम्हारी बात।"

तब अभयकुमार ने स्पष्ट किया–

"महाराज उदयन वीणावादन में इतने प्रवीण हैं, उनका वीणावादन इतना नैसर्गिक होता है कि उसे सुनकर मदोन्मत्त हाथी भी उसे सुनकर क्षणमात्र में मुग्ध होकर स्थिर हो जाते हैं। उनका मद जाता रहता है और उदयन को भयंकर वनों में से ऐसे विकराल हाथियों को, मदोन्मत्त हस्तियों को अपनी वीणावादन के बल पर वश में करके पकड़ लाने का बड़ा चाव है। कौशाम्बी के आसपास के बीहड़ जंगलों में हाथी हैं भी बहुत।"

"हाँ, ऐसा मैंने भी सुना है। किन्तु इससे हमारे उद्देश्य का क्या सम्बन्ध?" –चण्डप्रद्योत महाराज ने पूछा।

"मैंने एक उपाय सोचा है,"–अभयकुमार अपनी योजना बताने लगा– "लकड़ी का एक विशाल और सुन्दर हाथी बनवाया जाय। वह हाथी यन्त्रों से परिचालित होगा। उसके भीतर कुछ मनुष्यों के बैठने का स्थान होगा। वे मनुष्य यन्त्रों को परिचालित करेंगे और लकड़ी का वह हाथी हू-बहू जीवित, प्राकृतिक हाथी के समान ही चलेगा। आवाज भी करेगा। उसका रंगरूप भी वास्तविक हाथी के समान ही होगा। संक्षेप में, उस नकली हाथी और असली हाथी में राई-रत्ती का भी अन्तर नहीं होगा।"

"फिर?"

"फिर भीतर छिपे हुए सैनिकों से परिचालित वह हाथी कौशाम्बी के विकट वनों में घूमेगा। महाराज उदयन को इस विशाल, सुन्दर, मदोन्मत्त हाथी के विषय में सूचना मिलेगी और वे उसे पकड़ने के लिए अवश्य जायेंगे।"

"हूँ ! अब मैं समझा। तो तुम महाराज उदयन का अपहरण करोगे। लेकिन वे बहुत रुष्ट होंगे। वे जैसे वीर हैं उतने ही स्वाभिमानी भी हैं। मेरे शत्रु हैं, किन्तु वह तो युद्ध के मैदान में। वैसे मैं उनका आदर करता हूँ....।"

"महाराज उदयन वीर हैं, स्वाभिमानी हैं, किन्तु साथ ही सच्चे कलाकार भी हैं यह बात आप भूल रहे हैं। मैंने कहा न कि एक अपराध तो करना ही होगा। किन्तु मुझे विश्वास होता है कि जब महाराज उदयन वासवदत्ता जैसी शिष्या को देखेंगे तो उनका कलाकार हमारे सब अपराधों को क्षमा करेंगे।"

सुनकर चण्डप्रद्योत फिर कुछ देर मौन रहे। धीरे-धीरे वे कहने लगे–

"एक बार मैंने तुम्हें छल करके, धर्म की आड़ लेकर यहाँ बुला लिया। अब महाराज उदयन को इसी प्रकार छलपूर्वक यहाँ लाऊँगा तो लोग क्या कहेंगे अभयकुमार? यही न कि चण्डप्रद्योत की तलवार का पानी उतर गया है। अब वह छल का आश्रय लेने लगा है।"

"ऐसी तो कोई बात नहीं है। अभयकुमार को और किसी प्रकार लाया नहीं जा सकता था। महाराज उदयन जैसे व्यक्ति को भी यहाँ लाने का अन्य कोई उपाय नहीं है। तलवारें बज सकती हैं। शीश कट सकते हैं। किन्तु महाराज, उससे अभयकुमार या उदयन उज्जयिनी में तो आ नहीं सकते।"

"हाँ ऽ ऽ ऽ तुम कहते तो ठीक हो–अच्छा, तो फिर ऐसा ही करो। महाराज उदयन को लाना तो होगा ही। उसके बिना वासु की संगीत शिक्षा अधूरी रह जायेगी।"

"आप बिलकुल ठीक कह रहे हैं। चन्द्रमा और सूर्य दोनों के बिना आकाश सूना लगने लगता है।"

अभयकुमार की यह बात सुनकर चण्डप्रद्योत थोड़ा हँसे और बोले–

"किन्तु तनिक सावधान रहना अभयकुमार ! कहीं सूर्य और चन्द्र मिलकर अमावस्या का गहन अन्धकार ही न कर डालें।"

अभयकुमार भी हँस पड़ा। उसने कहा–

"सूर्य और चन्द्र मिलकर तो सृष्टि के दिन और रातों को प्रकाशित करते हैं, महाराज ! आप मेरे रहते सर्वथा निश्चिन्त रहें।"

× × ×

अभयकुमार की योजना क्रियान्वित हुई।

महाराज उदयन को जब सूचना मिली कि आसपास के वनों में एक बहुत सुन्दर, विशाल, बलशाली, मदोन्मत्त हाथी घूम रहा है तो वे तुरन्त उसे पकड़ने के लिए अपनी वीणा लेकर चल पड़े। कुछ सैनिक भी उन्होंने साथ लिये।

सारा अभिनय ठीक-ठीक, योजनानुसार होता रहा। हाथी चलता-फिरता और भीषण रूप से चिंघाड़ता रहा। महाराज उदयन अपने सैनिकों को कुछ दूर ही छोड़कर वीणा बजाते हुए हाथी के समीप जाने लगे।

वीणा का अत्यन्त मधुर, स्वर्गीय संगीत सुनकर हाथी धीरे-धीरे झूमने लगा और फिर बिलकुल शान्त, स्थिर हो गया। उदयन महाराज ने उसे शान्त देखा और वे उस पर सवार होने के लिए आगे बढ़े।

ज्यों ही वे हाथी पर उसकी सूँड़ के सहारे ऊपर चढ़ना चाहते थे कि कृत्रिम हाथी के भीतर से उज्जयिनी के सैनिक निकल पड़े और उन्होंने अकेले, निःशस्त्र महाराज उदयन को अपने वश में करके रथ में बिठाकर रथ तीव्र गति से हाँक दिया"...

महाराज उदयन एकाएक आश्चर्यचकित रह गए। फिर धीरे-धीरे उन्होंने परिस्थिति को समझा और एक धिक्कार के स्वर में बोले–

"तो चण्डप्रद्योत ने अब चूड़ियाँ पहन ली हैं। अब वीरता को ताक पर रखकर वह इस प्रकार के निकृष्ट छल-छद्म पर उतर आया है?"

सैनिक बेचारे अपने राजा के आज्ञापालक सेवक थे। वे क्या उत्तर देते?

महाराज उदयन को उज्जयिनी लाया गया। चण्डप्रद्योत का नैतिक साहस नहीं था कि वे अकेले महाराज उदयन से भेंट करते। अतः अभयकुमार को साथ लेकर ही वे उदयन के स्वागतार्थ जा सके। उन्हें देखते ही महाराज उदयन ठठाकर हँस पड़े और कहने लगे–

"शक्ल-सूरत तो चण्डप्रद्योत जैसी ही दिखाई देती है, किन्तु मुझे सन्देह होता है कि मेरे सामने जो खड़ा है वह उज्जयिनी का प्रतापी, प्रचण्ड, वीर नरेश चण्डप्रद्योत ही है।"

"और तुम भी इनके साथ हो अभयकुमार? तब तो प्रतीत होता है कि यह राजगृही और उज्जयिनी का मिला-जुला षड्यन्त्र है।"

चण्डप्रद्योत लज्जा से गड़े जा रहे थे। वे क्या बोलें, कुछ सोच नहीं पा रहे थे। अभयकुमार ही एक कदम आगे बढ़ा और उसने कहा–

"महाराज उदयन ! आप महान् हैं ! आपकी इस महानता के भरोसे ही हमने यह अपराध किया है। और हम आशा रखते हैं कि आप हमारे उद्देश्य को जान लेने पर हमें अवश्य क्षमा प्रदान करेंगे।"

महाराज उदयन फिर हँसे। बोले–

"मैं क्षमा करूँगा? अरे मैं तो इन प्रतापी मालव-नरेश का बन्दी हूँ। एक बन्दी किसी को क्या क्षमा करेगा भला?"

"महाराज उदयन ! आप मेरे बन्दी नहीं हैं।"–अब चण्डप्रद्योत ने आगे बढ़कर कहा–"आप मेरे माननीय अतिथि हैं····।"

"ओह ! मैं अतिथि हूँ? अच्छा, आज मालूम हुआ कि उज्जयिनी में अतिथियों को इस प्रकार छलपूर्वक बन्दी बनाकर लाया जाता है। अरे महाराज चण्डप्रद्योत, आपने निमंत्रण भेजा होता तो मैं किसी भी दिन, किसी भी युद्ध के मैदान में आपका आतिथ्य स्वीकार करने सहर्ष उपस्थित होता। लेकिन शायद वह आतिथ्य आपको कुछ भारी पड़ता, इसलिए आपने यह सरल रास्ता अपनाया।"

"महाराज उदयन····।" व्यंग-बाणों से भिदे-छिदे तथा लज्जा से गड़े भी जा रहे महाराज चण्डप्रद्योत कुछ कहने जा रहे थे कि अभयकुमार ने सूत्र अपने हाथ में लेते हुए कहा–

"कौशाम्बी-नरेश ! महावीर उदयन महाराज ! क्षमा करें। युद्ध की बातें बहुत हो चुकीं। और शायद आगे भी होती रहेंगी। आर्यावर्त्त आपसी युद्धों और वैमनस्य से बहुत पीड़ित हो चुका। आपके समान पराक्रमी और महान् नृपति यदि कुछ समय के लिए इस परस्पर वैमनस्य का त्याग कर दें तथा मनुष्य के हृदय में अमृत का सिंचन करने वाली कला की उपासना करें तो आर्यावर्त्त का बड़ा कल्याण हो। मानवता चिरकाल के लिए आपकी ऋणी बन जाय महाराज !"

अभयकुमार के इस विनम्र कथन को सुनकर महाराज उदयन की आत्मा में स्थित कलाकार चौंककर जाग्रत हो गया। वे कहने लगे–

"तुम्हारी बात में सार है, अभयकुमार ! किन्तु इस देश में कितने लोग हैं जो इसे समझते हैं? कला की देवी तो मेरी उपास्य देवी हैं अभयकुमार। और मेरा वश चले तो जीवन का प्रति क्षण उसकी आराधना करने में ही व्यतीत कर दूँ। किन्तु····।"

"आप इस मशाल को आगे-आगे लेकर चलिए महाराज उदयन ! हम सब आपके पीछे-पीछे चलेंगे और परमात्मा की कृपा से दीपक जलते रहेंगे।"

अभयकुमार के इन शब्दों को सुनकर महाराज उदयन भावविभोर हो गए। उन्होंने अपनी दृष्टि चण्डप्रद्योत की ओर उठाई। उस दृष्टि में अब स्नेह की सरसता थी। सरसता ने महाराज चण्डप्रद्योत के हृदय को भी छू लिया। एक सहज प्रेरणा से वे दोनों एक-दूसरे की ओर बढ़े और दोनों ने अपनी-अपनी बाहें फैलाकर एक-दूसरे को प्रगाढ़ आलिंगन में बाँध लिया।

अभयकुमार की यह एक महान् विजय थी।

इस विजय में जैनधर्म के उच्च आदर्शों का जयघोष था।

जाने क्या हो और क्या न हो, यह सोचते संभ्रम में पड़े, दूर खड़े राजसेवकों ने यह अद्‌भुत दृश्य आश्चर्य से देखा। उनके लिए तो यह एक अनहोनी ही घटित हुई थी। कुछ क्षण विस्मयविमूढ़ रहने के बाद उनके कंठों से हर्षविभोर स्वर फूट पड़े--महाराज उदयन की जय···· ! महाराज चण्डप्रद्योत की जय···· ! मंत्रीश्वर अभयकुमार की जय···· !

× × ×

उज्जयिनी के राजमहलों में जहाँ किसी समय अधिकांश रूप से शस्त्रों की खनखनाहट और दौड़कर आते-जाते अश्वों की टापों की ध्वनियाँ और प्रतिध्वनियाँ ही सुनाई पड़ती थीं, वहाँ अब सुबह और शाम, दिन और रात, संगीत की मधुर-मनोहर तानें सुनाई पड़ने लगीं।

वीणा की झंकार से वातावरण उल्लास और आनन्दमय होकर शान्ति और प्रेम की वर्षा करने लगा।

राजकुमारी वासवदत्ता के कंठ की मधुर, स्वर्गीय स्वर-लहरी और महाराज उदयन की वीणा का अलौकिक, नैसर्गिक संगीत !

इस सुमधुर स्वप्न-सृष्टि का क्या कहना ?

गुरु और शिष्या सरस्वती की उपासना में ऐसे लीन हो गए थे कि उन्हें मानो इस संसार का कोई भान ही नहीं रहा था। वासवदत्ता को महाराज उदयन जैसे महान् वीणावादक कलाकार की तलाश थी, जो वीणावादन में निष्णात हो और उदयन महाराज को वासवदत्ता जैसी प्रतिभाशालिनी शिष्या की खोज थी जो वीणावादन के सूक्ष्म से सूक्ष्म रहस्यों को सहज ही ग्रहण कर सके।

वह संयोग मिल गया था।

और यह संयोग की ही बात है कि आपस में झूठी आन-बान और अभिमान के लिए लड़ते-भिड़ते रहने वाले आर्यावर्त्त के अनेक शासकों में से दो शक्तिशाली शासक मैत्री के इस धरातल पर एक-दूसरे के साथ मिल-बैठ सके थे।

अब वहाँ न कोई छोटा रहा था न बड़ा। वहाँ प्रतिस्पर्धा नहीं रही थी। वैमनस्य भुला-बिसरा दिया गया था और कुल-परम्परा से चली आ रही शत्रुता की भावना अब कला की उपासना के असीम और अगाध समुद्र में विसर्जित कर दी गई थी।

काश ! उन बीते हुए दिनों के किन्हीं मंगलमय क्षणों में आविर्भूत हुई यह सद्भावना फली-फूली होती और चिरस्थायी हो पाती !

काश ! आर्यावर्त्त की आगे आने वाली पीढ़ियाँ उस पुण्य-पन्थ का अनुसरण कर पातीं !

काश ! वे दिन कभी व्यतीत ही न हुए होते !

किन्तु समय कब किसके रोके रुका है? यह तो हम ही हैं जो रुक जाते हैं, जड़ हो जाते हैं, और जीवन्त, प्रकाशित, जाग्रत जीवन को मृत्यु की अनावश्यक, निरर्थक शून्यता में विलीन कर देते हैं।

हम आखिर क्या करते हैं–शायद यह जानते भी तो नहीं।

× × ×

महाराज उदयन महान् कलाकार थे।

राजकुमारी वासवदत्ता अद्वितीय सुन्दरी थी और उसके मानस में सरस्वती की कृपा से सत्य, शिव और सुन्दर का निवास था।

स्वाभाविक ही था कि इस पार्थिव जगत् में रहते हुए भी इससे परे, इससे बहुत ऊपर कहीं भावना के प्रकाशित लोक में विचरण करने वाली ये दो आत्माएँ एक-दूसरे से प्रभावित होतीं और कला के माध्यम-बिन्दु में एकाकार हो जातीं।

एक दिन महाराज उदयन ने कहा–

"वासवदत्ता, तुम मेरी हो।"

और नख से शिख तक गुलाबी-गुलाबी होती वासवदत्ता ने अपने गुलाबी कमल-नयन सप्रयास ऊपर उठाते और उसी क्षण फिर नीचे झुकाते हुए उत्तर दिया था–

"अब जाना आपने? मैं तो जन्म-जन्मान्तरों से आपकी ही हूँ।"

इन्हीं दो छोटे-छोटे वाक्यों में मानो प्रेम के महाकाव्य लिख डाले गये।

उस दिन फिर वीणावादन नहीं हुआ। उस दिन तो आर्यावर्त्त का आकाश झूम रहा था, पृथ्वी नाच रही थी, पवन गा रहा था और समूची सृष्टि में प्रेम की—कोई ऐसी अदृश्य, अलौकिक वीणा बज रही थी कि उदयन और वासवदत्ता एक-दूसरे के प्रेम में बँधे डूब गए उस अकथ्य, अवर्णनीय, अद्भुत संगीत के अथाह सागर में !

× × ×

कोई शक्ति नहीं है इस समूचे संसार में जो प्रेम करने वाली दो आत्माओं को एक-दूसरे से पृथक् रख सके।

अभयकुमार के संसर्ग से महाराज चण्डप्रद्योत में बहुत बड़ा परिवर्तन आया था। वह प्रचण्ड, क्रूर; क्रोधी, निर्दयी, प्रतापी, लड़ाका यदि मोम-सा पिघल नहीं गया था, या कि साधु नहीं बन गया था, तो कम से कम मनुष्य तो बन ही गया था।

किन्तु फिर भी जब उसे अपनी प्यारी बेटी वासवदत्ता और महाराज उदयन के इस प्रेमाकर्षण की भनक पड़ी तो उसका पुराना प्रचंड, अहंकारी स्वभाव विस्फोट की स्थिति तक पहुँच गया····

यह तो अभयकुमार उस समय उज्जयिनी में उपस्थित था, अन्यथा संभवतः आर्यावर्त्त के इतिहास में एक ही नहीं, दो महाभारत अंकित हुए होते।

खून की नदियाँ बह गई होतीं।

अभयकुमार ने महाराज चण्डप्रद्योत को बड़े कौशल से समझाया कि काल की गति को रोक सकना किसी के वश की बात नहीं है।

सृष्टि का नियन्ता अचूक दृष्टि से अपने लक्ष्य की ओर समस्त चराचर को लिये चला जा रहा है।

सत्य-शिव-सुन्दर के मार्ग में आने वाला कोई भी अवरोध आज तक टिक नहीं पाया—और महाराज उदयन तथा वासवदत्ता एक-दूसरे के लिए ही बने हैं।

धीरे-धीरे, बहुत धीरे-धीरे, चण्डप्रद्योत का क्षोभ और क्रोध शान्त हुआ और अभयकुमार द्वारा बताए गए यथार्थ को उन्होंने समझ लिया। उसे स्वीकार भी अन्ततः कर लिया।

और जब यथार्थ उनके मस्तिष्क में प्रकाशित हुआ तब वे प्रसन्न भी हो गए।

वासवदत्ता को अपनी कला-सहचरी और अनन्य प्रियतमा के रूप में लेकर महाराज उदयन ससम्मान उज्जयिनी से विदा हुए। महाराज चण्डप्रद्योत कौशाम्बी के द्वार तक महाराज उदयन को विदा करके उज्जयिनी लौटे और····

कौशाम्बी की रक्त की प्यासी तलवारें अपनी-अपनी म्यानों में बन्द हो गईं।

× × ×

दिन बीतते चले गये।

एक दिन उज्जयिनी में अचानक एक ऐसी बीमारी फैली कि घर-घर में लोग अस्वस्थ होने लगे और अनेक उपाय करने के बावजूद भी मृत्यु के ग्रास बनने लगे। वैद्यों और हकीमों ने अपनी सारी विद्या का प्रयोग किया, किन्तु वह दैवी प्रकोप किसी भी उपाय से शान्त नहीं हुआ। महाराज चण्डप्रद्योत बड़ी चिन्ता में पड़ गए। कोई उपाय इस प्रकोप से बचने का उनको और उनके भारत-विख्यात चिकित्सकों को सूझ नहीं रहा था।

उस विकट परिस्थिति में अभयकुमार की बुद्धि ही कारगर सिद्ध हुई। उसने बीमारी के लक्षणों और शेष अन्य परिस्थिति पर विचार करके महाराज को सलाह दी–

"महाराज ! मुझे तो प्रतीत होता है कि यह देवी का प्रकोप है। मेरी राय में आप मंगलमुखी माता शिवादेवी से कहिये कि वे स्नानादि करके, शुद्ध–पवित्र होकर देवी की अर्चना करें। प्रभु ने चाहा तो यह प्रकोप अवश्य शान्त होगा।"

ऐसा ही किया गया और उज्जयिनी का सर्वनाश होने से बच गया। नागरिकों ने शान्ति की साँस ली और रानी शिवादेवी तथा अभयकुमार के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित की। महाराज चण्डप्रद्योत निश्चिन्त हुए और अत्यन्त प्रसन्न होकर अभयकुमार से बोले–

"तुमने एक बार फिर उज्जयिनी को बचा लिया। तुम्हारे ऋण से बोझिल हूँ। एक और वरदान तुम्हें देता हूँ। जो चाहो, वह माँग लो–केवल राजगृही लौटने की बात न करना। मेरी एकमात्र शर्त तो यह अटल ही समझो।"

अभयकुमार ने फिर पहले की भाँति ही हँसते हुए उत्तर दिया–

"महाराज ! आप चिन्ता न करें। राजगृही जाने की बात मैं अपनी ओर से आपसे नहीं कहूँगा। रही वरदान की बात, सो उसे भी अपने पास ही रखें। समय आने पर आपसे कहूँगा।"

इस प्रकार महाराज चण्डप्रद्योत अभयकुमार से दो वचनों से बँध गये।

× × ×

और भी कुछ काल व्यतीत हुआ।

संयोगवश एक बार उज्जयिनी में ऐसी भीषण आग लगी कि सारी नगरी धू-धू करके जलने लगी। हाहाकार मच गया। अग्नि की प्रचण्ड लपटों और उनके ऊपर फैलते हुए धुएँ से आकाश ढक गया। शिप्रा नदी का सारा जल भी उस विकराल अग्निकाण्ड को शान्त करने में सफल न हो सका। बच्चों, स्त्रियों, बूढ़ों और पशुओं के चीत्कार से दिशाएँ गूँजने लगीं।

उस समय फिर एक बार अभयकुमार ने ही उस नगरी और उसके हताश, 'त्राहि-त्राहि' पुकारते नागरिकों की रक्षा की। उसने कहा–

"काँटा काँटे से ही निकलता है, महाराज ! इस भीषण अग्नि के समक्ष अग्नि ही ले जाइये, तभी यह शान्त होगी।"

विधि के कार्यकलाप कुछ विचित्र ही होते हैं। अग्निदेव अपने समक्ष लाई गई अग्नि से जाने कैसे एकाएक शान्त हो गये।

अभयकुमार की झोली में अनायास ही महाराज चण्डप्रद्योत का एक और वचन आ पड़ा।

× × ×

इसी प्रकार एक बार महाराज का प्रिय हाथी अनलगिरि मदोन्मत्त हो गया और अपने मजबूत बन्धन तोड़कर उज्जयिनी के मार्गों पर विनाशलीला मचाने लगा। जो भी अभागा उसके सामने पड़ जाता वह बच नहीं पाता। अनलगिरि उस समय साक्षात् मृत्यु का प्रतीक, काल का अवतार प्रतीत होता था। महाराज चण्डप्रद्योत के असंख्य सैनिक उसे वश में करने का प्रयत्न करते हार गये– अनलगिरि ने किसी की नहीं सुनी।

और अनलगिरि को मारा नहीं जा सकता था। वह उज्जयिनी के चार रत्नों में से एक था। हस्तिरत्न था अनलगिरि।

इस समस्या और विकट संकट का समाधान भी अभयकुमार की विशिष्ट बुद्धि और शौर्य द्वारा ही संभव हो सका।

और एक बार पुनः महाराज चण्डप्रद्योत अभयकुमार के ऋणी हुए। बोले–

"अभय ! तुम तो विचित्र मानव हो ! मुझे लगता है कि समुद्र की भी सीमा है, आकाश का भी अन्त शायद हो सकता हो, किन्तु तुम्हारी बुद्धि की कोई सीमा नहीं। उसके प्रताप का कोई अन्त नहीं। रानी शिवा ठीक ही कहती है–काश ! तुम उसकी कोख से उत्पन्न हुए होते ! काश ! तुम मेरे पुत्र होते ! यदि ऐसा होता तो मैं इस सारी पृथ्वी को जीत लेता।"

"यह आपकी उदारता है, महाराज ! बुद्धि किस मनुष्य में नहीं होती? उचित समय पर, उचित रीति से, उसका समुचित उपयोग करना आना चाहिए केवल। रही इस सारी पृथ्वी को जीत लेने की बात, सो तो महाराज ! यह सारी पृथ्वी हमारी ही है। और यह पृथ्वी ही क्या, समस्त ब्रह्माण्ड हमारा ही है। समस्त प्राणी हमारे बन्धु हैं। हम सभी के हैं। यह सम्पूर्ण सृष्टि हमारा एक कुटुम्ब ही है।–यदि हम अपनी प्रेममयी आत्मा को इतना विस्तार दे सकें तो।"

अभयकुमार के इस उत्तर को सुनकर महाराज चण्डप्रद्योत बहुत प्रसन्न हुए। सोचते रहे–कैसा लड़का है ! कितना अद्‌भुत महामानव है !

फिर बोले–

"अच्छा, बहुत समय से तुम टालते चले आ रहे हो। अब मैं माानने वाला नहीं। आज तुम्हें मुझसे कुछ न कुछ अवश्य माँगना ही होगा। क्या तुम समझते हो कि चण्डप्रद्योत केवल बात करना ही जानता है और किसी ढपोरशंख की भाँति कुछ भी देना नहीं जानता? परीक्षा करके देखो। बोलो, तुम क्या-क्या चाहते हो? लेकिन याद रखना, राजगृही जाने की बात न करना। और जो चाहो, माँगो। सब कुछ दूँगा तुम्हें।"

बहुत समय व्यतीत हो गया था अभयकुमार को राजगृही छोड़कर आए। बहुत कुछ दे चुका था वह महाराज चण्डप्रद्योत और उज्जयिनी को, और शायद चण्डप्रद्योत प्रचण्ड के माध्यम से पूरे भरतखण्ड को ही उसने बहुत कुछ दिया था। राजगृही में पिता महाराज श्रेणिक अब चिन्ता करते होंगे–उसने सोचा। मगध को सम्हालना, मगध की प्रजा का हित-चिन्तन करना भी उसका कर्त्तव्य था।

अतः अब समय हो गया है–लौट चलने का। तो कहा उसने–

"अच्छा, महाराज ! आप कहते हैं तो आज माँगे ही लेता हूँ। मेरी तो एक ही इच्छा है–अनलगिरि हाथी पर मैं आपके और माता शिवादेवी के बीच में बैठूँ, लौहजंघ उस हाथी का महावत बने और वह हाथी आपके अग्निभीरु रथ से बनाई हुई जलती चिता में प्रवेश करे····।"

सुनते-सुनते मालव-नरेश चण्डप्रद्योत भौंचक्के होकर अभयकुमार को देखते रह गये। कुछ क्षण के लिए मानो वे समझ ही न सके कि अभयकुमार कह क्या रहा है? धीरे-धीरे जब अभयकुमार की बात का मर्म उनके मस्तिष्क तक पहुँचा तो वे मुक्त मन से खूब दिल खोलकर हँस पड़े।

बहुत देर तक वे इसी प्रकार हँसते रहे। उनकी दृष्टि में सहज स्नेह छलक रहा था और अभयकुमार मौन मुस्कराता बैठा था।

आखिर मालव-नरेश ने कहा–

"अरे दुष्ट ! आखिर तू माना नहीं। तूने मुझे जीत ही लिया। तेरी बुद्धि को और तुझे धन्य है। महाराज श्रेणिक और रानी नन्दा धन्य हैं कि उन्हें तेरे जैसा पुत्र-रत्न प्राप्त हुआ है। मैं समझ गया कि तू वास्तव में चाहता क्या है। स्वयं अपने मुख से कहना नहीं चाहता–वचनबद्ध है न !–और मेरे ही मुख से कहलाना चाहता है कि जा बाबा, तू तेरी राजगृही ही लौट जा। क्यों, है न यही बात?"

अभयकुमार उसी प्रकार मन्द, मौन मुस्कराता रहा।

चण्डप्रद्योत ने ही फिर कहा–

"जान गया मैं। जा, बाबा, जा अब तू अपनी राजगृही। तुझे अपने वचन से मुक्त करता हूँ। किन्तु यदि सचमुच ही तू चाहे तो मैं तुझे दिये गये अपने वचनों का पालन करने के लिए भी प्रस्तुत हूँ। आर्यावर्त्त की भावी पीढ़ियों को यह नहीं कहने दूँगा कि चण्डप्रद्योत ने अपने वचनों का पालन नहीं किया अभयकुमार''''।"

"आर्यावर्त्त की भावी पीढ़ियाँ ऐसा कुछ नहीं कहेंगी महाराज ! आर्यावर्त्त की भावी पीढ़ियाँ कहेंगी कि महाराज चण्डप्रद्योत को भले ही इतिहास प्रचण्ड कहे, किन्तु उनके हृदय की किन्हीं गम्भीर गहराइयों में एक ममताशील मानव का निवास भी था। महाराज ! आपने मुझे वचन से मुक्त किया है। मैं भी आपको अपने सभी वचनों से मुक्त करता हूँ।"

यह कहकर अभयकुमार अपने पितृतुल्य चण्डप्रद्योत के चरणों का स्पर्श करने के लिए झुका ही था कि राजा ने आगे हाथ बढ़ाकर उसे अपने स्नेहालिंगन में बाँध लिया।

अभयकुमार के उज्जयिनी आने से पूर्व तक सदैव रक्त और अंगार बरसाने वाली प्रचण्ड चण्डप्रद्योत की आँखों में उस दिन प्रेम के बड़े ही कोमल, तरल अश्रु ढुलक पड़े थे !

उज्जयिनी से विदा लेने से पूर्व अभयकुमार ने महाराज चण्डप्रद्योत से कहा–

"महाराज ! उज्जयिनी बड़ी सुरम्य नगरी है। यह नगरी संस्कृति का धाम भी है। मेरा यह प्रवास बड़ा सुखद और सार्थक भी रहा। सदैव स्मरण में रहेगा। किन्तु हमारी राजगृही भी एक बार तो देखने योग्य है ही। कहिए, कब पधारियेगा?"

"अरे नहीं, अभय ! मैं राजगृही नहीं आऊँगा।"

"भला, क्यों महाराज?"

"अरे, मुझे इधर बहुत काम रहते हैं। और श्रेणिक तो साधु बनता जा रहा है। उससे मेरी नहीं पटती। मैं राजगृही नहीं आऊँगा। हरगिज नहीं आ सकूँगा।"

"किन्तु महाराज ! मैं तो आपको एक बार राजगृही अवश्य ले जाऊँगा। यह मेरा निश्चय है। और मेरा निश्चय अटल होता है।"

अभयकुमार के स्वर में एक विचित्र झंकार थी जिसका मर्म महाराज चण्डप्रद्योत उस समय समझ नहीं सके। उन्होंने पूछा–

"क्या मतलब?"

"यही कि आपने मुझे उज्जयिनी बुलाया। वह आपने धर्म की आड़ में छलपूर्वक बुलाया। मैं इस छल को जान भी चुका था, पर फिर भी मैं आया। खैर, आपने जैसा भी ठीक समझा वह किया–छल या बल।"

"किन्तु महाराज ! मैं तो आपको दिन-दहाड़े, आपके होशोहवास में, उज्जयिनी के भरे बाजारों में से उठा ले जाऊँगा। मेरा नाम आखिर अभयकुमार है न !"–कहकर वह हँस पड़ा।

महाराज चण्डप्रद्योत इस सर्वथा अनपेक्षित तथा संभवतः अशक्य-से भी लगते कथन को सुनकर क्षणभर स्तब्ध-से रह गये। फिर उस सर्वथा असंभव एवं अशक्य प्रतीत होती बात की कल्पना से बड़े आनन्द में आ गये। बोले–

"क्या राजगृही लौटने की खुशी में तू पागल हो गया है, अभय? तू चण्डप्रद्योत को दिन-दहाड़े, उसके होशोहवास में, उज्जयिनी के भरे बाजारों में से उठाकर ले जाने की बात कह रहा है? क्या तुझे किसी उपचार की आवश्यकता है? तेरे साथ अपने कुछ वैद्य और सैनिक भी कर दूँ क्या?"

अत्यन्त मधुर मुस्कान तथा मीठे किन्तु वज्र की भाँति दृढ़ भी, स्वर में अभयकुमार ने कहा–

"आपकी कृपा है, महाराज ! वैद्यों और सैनिकों की कोई आवश्यकता मुझे नहीं है। मैं अकेला आया था और अकेला ही चला भी जाऊँगा। किन्तु आप भूलियेगा नहीं–मैं आपको एक बार राजगृही अवश्य ले जाऊँगा, और जैसे कहा है, वैसे ही। अन्यथा पिताजी मुझसे रुष्ट होंगे। वे कहेंगे कि इतने दिन चण्डप्रद्योत का आतिथ्य ग्रहण कर आया और उन्हें एक बार भी राजगृही न ला सका?"

इतना कहकर अभयकुमार उछलकर अपने अश्व पर सवार हो गया। वह अश्व को उड़ने का संकेत दे, इसके पूर्व महाराज चण्डप्रद्योत ने कहा–

"अच्छा, देखूँगा अभयकुमार, कि तू कैसे मुझे राजगृही ले जाता है। एक बार फिर से तेरी विकट और बेमिसाल बुद्धि का चातुर्य देखने को ही मिलेगा–तथा जोकि असंभव है, बल्कि असंभव से भी आगे की बात है–मुझे राजगृही देखने को मिल जायेगी।"

अभयकुमार के संकेत पर उसका अश्व इस तीव्रता से उड़ चला मानो वह अपने स्वामी के सारे विचारों को ठीक-ठीक समझता हो और असंभव को संभव कर डालने की उसने भी पक्की ठान ली हो।

महाराज चण्डप्रद्योत अपने महल में लौट आये। उन्होंने अभयकुमार की बात को भूल जाने का प्रयत्न किया–ऐसी निरर्थक, अशक्य बात का क्या विचार करना?

किन्तु फिर भी जाने क्या ऐसी बात थी कि वे भूलना चाहकर भी भूल नहीं पाते थे पूरी तरह।

अनायास ही वे अब प्रति क्षण सावधान रहने लगे।

अभयकुमार के नाम में ही ऐसा जादू था।

●●

यद्यपि अभयकुमार की कुशलक्षेम के समाचार निरन्तर उज्जयिनी से राजगृह पहुँचते ही रहते थे, फिर भी महाराज श्रेणिक, अन्य मंत्रिगण, अभयकुमार की माता नन्दा तथा अन्य रानी माताएँ एवं राजगृही की समस्त प्रजा सदैव चिन्ता से तो घिरे ही रहते थे।

सभी प्रचण्ड चण्डप्रद्योत को जानते थे। वे कब बिफर उठें, कब क्रोधित होकर क्या कर बैठें, यह कोई कह नहीं सकता था।

तसल्ली थी तो इतनी ही कि अभयकुमार के विषय में सूचनाएँ मगध के कुशल गुप्तचर लगातार लाते रहते थे और अभयकुमार के बुद्धि-चातुर्य का भी सभी को भरोसा था।

चिन्ता अब थी तो इतनी ही कि अब कब और किस प्रकार अभयकुमार महाराज चण्डप्रद्योत से छूटकर राजगृही लौट पाता है।

जहाँ तक राजकार्य चलाने का प्रश्न था, स्वयं महाराज श्रेणिक थे, अन्य मंत्रिगण थे और समय-समय पर उज्जयिनी से अभयकुमार भी आवश्यक निर्देश भेज दिया करता था, क्योंकि वहाँ उसकी गतिविधियों पर कोई बन्धन नहीं था। बन्धन था तो केवल उसके स्वयं के वचन का कि वह राजगृही लौटने की बात अपने मुख से नहीं कहेगा और बिना स्वीकृति के लौटेगा भी नहीं।

उस बन्धन को अपने बुद्धिबल से तोड़कर मगध का महामंत्रीश्वर लौट आया था।

हमारे पाठक जानते ही हैं कि यह बन्धन उसने किस चतुराई से तोड़ा और किस प्रकार राजगृही आ पहुँचा।

लौटकर जब वह सबसे पहले अपने पिता से महाराज श्रेणिक से मिला तो वे बड़ी आतुरता से बोले, आखिर पिता का हृदय ही तो ठहरा–

"बेटा ! कैसे हो? स्वस्थ तो हो न? सब कुशल मंगल तो है न? मुझे बड़ी चिन्ता थी।"

"सब ठीक हैं, पिताजी ! चिन्ता की तो बात ही नहीं थी।"

"लेकिन तुमने बहुत दिन लगा दिये लौटने में। मुझे तो बहुत चिन्ता होने लगी थी। क्या करते रहे इतने दिन वहाँ?"

हँसते हुए अभयकुमार ने उत्तर दिया–

"महाकाल के दर्शनों का लाभ ले रहा था और मगन था पिताजी ! थोड़ा महाराज चण्डप्रद्योत को भली प्रकार समझ रहा था, और कुछ उन्हें समझाने का प्रयत्न भी कर रहा था। आपको तो ज्ञात ही है, महाराज उदयन भी वहाँ आ पहुँचे थे, उनके अद्‌भुत वीणावादन का अलभ्य सुख भी वहाँ प्राप्त हो रहा था।"

"हाँ, हाँ, वह तो मुझे मालूम है, बेटे ! और यह सब तेरी ही कारस्तानी थी यह भी मुझे मालूम है। कुल मिलाकर ठीक ही हुआ कि उदयन और वासवदत्ता का मेल हो गया, यह सबसे अच्छी और महत्त्वपूर्ण बात हुई। वरना किसी दिन ये दोनों महारथी यदि आपस में टकरा जाते तो अनर्थ हो जाता। इस दृष्टि से तेरा उज्जयिनी जाना बड़ा शुभ रहा। लेकिन''''।"

"लेकिन क्या पिताजी?"

"लेकिन जो कुछ भी हो, इस चण्डप्रद्योत को एक बार मैं शिक्षा देना चाहता हूँ। उसकी हिम्मत कैसे हुई कि वह मेरे बेटे को, मगध के महामंत्रीश्वर को, आर्यावर्त्त के सर्वश्रेष्ठ नर-रत्न को छलपूर्वक यहाँ से उठा ले गया?"

"क्रोध न करें, पिताजी ! महाराज चण्डप्रद्योत को कुछ शिक्षा तो मैंने दी है, आप जानते ही हैं, और कुछ शिक्षा देने की सूचना उन्हें दे आया हूँ।"

"कैसी शिक्षा देने की सूचना दे आया है? मैं कुछ समझा नहीं। क्या तू फिर से उज्जयिनी जाने की बात कर रहा है?"--एकाएक चिन्तित होकर महाराज श्रेणिक ने पूछा।

"मुझे उज्जयिनी एक बार तो पुनः जाना पड़ ही सकता है''''।"

"नहीं, हरगिज नहीं। अब मैं तुझे उस दुष्ट के पास नहीं जाने दूँगा।"

"लेकिन पिताजी ! आप उन्हें शिक्षा देने की बात कह रहे थे न? आपका आशय क्या था?"–अभयकुमार ने पूछा।

"उसे पकड़कर राजगृही लाना है। उसका साहस कैसे हुआ तुझे उज्जयिनी ले जाने का? छलपूर्वक? उस धोखेबाज ने''''।"

महाराज श्रेणिक स्वभाव से शान्त व्यक्ति थे। उन्हें क्रोध अधिक नहीं आया करता था। किन्तु इस प्रसंग से वे अत्यधिक रुष्ट थे। इसी कारण महाराज चण्डप्रद्योत के सम्बन्ध में उनके मुख से ऐसे शब्द निकल पड़े थे। अभयकुमार ने उन्हें शान्त करते हुए कहा–

"पिताजी ! महाराज चण्डप्रद्योत को राजगृही लाना है, यही बात है न?"

"हाँ, बिलकुल यही बात है। चाहे कुछ भी हो जाय''''।"

"वह हो जायेगा, पिताजी ! महाराज चण्डप्रद्योत को पकड़कर राजगृही लाया ही जायेगा। और कुछ?"

महाराज श्रेणिक ने अपने पुत्र के स्वर की दृढ़ता और अटलता को लक्ष्य किया। अब वे शान्त और निश्चिन्त हुए और बोले–

"और कुछ नहीं। बस, उसे यहाँ लाना है। उसे मालूम तो हो कि आर्यावर्त्त में ऐसे भी लोग बसते हैं जो शान्ति के प्रेमी हैं। सहयोग के मूल्य को समझते हैं। किन्तु जिन्हें अपना स्वाभिमान भी अपनी जान से अधिक प्यारा है। मैं इतना ही उसे बता देना चाहता हूँ, अभय ! बाकी तो एक तरीके से वह हमारा अतिथि ही होगा। बल्कि यह कहना अधिक उचित है कि वे, महाराज चण्डप्रद्योत हमारे अतिथि ही होंगे। सम्बन्धी तो हैं ही। मैं क्रोध के कारण कुछ का कुछ बोले चला जा रहा था। खैर, उन्हें पकड़कर तो लाना ही है। हम उनके सम्मान में अन्य कोई कमी अवश्य नहीं आने देंगे।"

इतना कहते-कहते महाराज श्रेणिक को ध्यान आया कि निश्चय तो हो गया, अभयकुमार ने कह दिया कि ऐसा हो जायेगा, किन्तु यह इतनी बड़ी कठिन बात होगी कैसे? चण्डप्रद्योत जैसे प्रबल पुरुष को उज्जयिनी से पकड़ मँगवाना कोई बच्चों का खेल तो है नहीं। वे थोड़े चिन्तित हो गये। अभयकुमार की बुद्धि पर भरोसा होने के बावजूद उस कठिन कार्य में सहज सम्भव भयानक खून-खराबे, हिंसा की आशंका से वे काँप उठे। उन्होंने कहा–

"अभय ! चण्डप्रद्योत को शिक्षा देनी है। उसे पकड़कर लाना है, किन्तु यह सम्भव कैसे होगा? मैं निरपराध लोगों का रक्त नहीं बहाना चाहता। और सबसे बड़ी बात तो यह है कि मैं तुझे किसी संकट में नहीं पड़ने देना चाहता।"

अभयकुमार ने शान्त, संक्षिप्त उत्तर दिया–

"पिताजी ! आप तो सर्वथा निश्चिन्त रहिए। और अपना आशीर्वाद मात्र मुझे दीजिये। न रक्त ही बहेगा और न अभयकुमार पर कोई संकट ही आयेगा। आप चुपचाप देखियेगा कि मैं कैसे मालव-नरेश को दिन-दहाड़े, सबके देखते, उनके पूरे होशोहवास में, भरे बाजारों में से उठाकर लाता हूँ।"

यह लड़का भी गजब करता है ! इसके विचारों की थाह लगा पाना भी असम्भव है। इसके लिए क्या कुछ सम्भव है और क्या असम्भव, यह पता ही नहीं पड़ता। शायद 'असम्भव' शब्द तो इस लड़के के लिए कोई अर्थ ही नहीं रखता'''

इन्हीं विचारों में अवाक् डूबे सम्राट् श्रेणिक को उसी अवस्था में छोड़कर अभयकुमार अपनी आगे की योजना की क्रियान्विति के लिए वहाँ से चल पड़ा।

× × ×

सबसे पहले अभयकुमार ने अपना वेश बदला। रंग-रूप बदला, और स्वर भी बदल लिया। इन विद्याओं में वह पारंगत था। यह सब बदल लेने पर वह एक अधेड़ आयु का व्यापारी दिखाई देने लगा। सभी प्रकार की विद्याओं में पारंगत अभयकुमार को अब पहचान सकना किसी के लिए सम्भव न रहा। स्वयं सम्राट् श्रेणिक और माता नन्दा भी उसे पहचान न सकीं। जब वह उस परिवर्तित वेश-भूषा और रंग-रूप में उनके सामने आया। वे दोनों विस्मय से उसे देखते रह गये और फिर वास्तविकता बता दिये जाने पर श्रेणिक महाराज ने कहा–

"यह क्या नाटक तू करने चला है अभय? देख, किसी संकट में स्वयं को तू न डाल लेना।"

माता-पिता का स्नेहिल, ममतामय हृदय ही तो है–मानता ही नहीं।

अभयकुमार ने उन्हें आश्वस्त करते हुए कहा–

"आप लोग तो व्यर्थ ही चिन्ता करते हैं। चिन्ता छोड़िये। शीघ्र ही महाराज चण्डप्रद्योत राजगृही आने वाले हैं। उनके स्वागत की तैयारियाँ बस आप रखिये।"–एक रहस्यभरी, मगन मुस्कान बिखेरता हुआ वह वहाँ से चल पड़ा।

इस सारी कार्यवाही के साथ ही साथ अभयकुमार ने एक ऐसे व्यक्ति की खोज भी कर ली थी। जो शक्ल-सूरत और शरीर की लम्बाई-चौड़ाई में बहुत कुछ महाराज चण्डप्रद्योत के समान ही दिखाई देता था। तनिक-से, सामान्य परिवर्तन के बाद उस व्यक्ति में और महाराज चण्डप्रद्योत में कोई भी अन्तर कर पाना अशक्य ही होता।

उस व्यक्ति को अभयकुमार ने ठीक से समझा-बुझा दिया कि उसे कब, क्या, और कैसा व्यवहार करना है। जब वह व्यक्ति सारी बातों को पूरी तरह समझ गया, किसी भी प्रकार की भूल या असावधानी होने की गुंजाइश अभयकुमार को दिखाई नहीं दी, तब वह उसे लेकर उज्जयिनी के लिए चल पड़ा।

उसने अपने कुछ विश्वस्त, वीर सैनिकों को छद्मवेश में पहले ही उज्जयिनी भेज दिया था और उन्हें सारे आवश्यक संकेत, सूचनाएँ तथा निर्देश प्रदान कर दिये थे। उनका काम था उज्जयिनी के दक्षिणी द्वार के बाहर हर समय इस प्रकार सन्नद्ध रहना कि किसी भी समय, किसी भी क्षण वे अपने-अपने अश्वों पर सवार होकर लम्बे प्रवास के लिए रवाना हो सकें।

इतनी तैयारी के साथ मगध का वह अधेड़ आयु का श्रेष्ठी अपने सनकी भाई के साथ राजगृही से चलकर उज्जयिनी जा पहुँचा।

पाठकों को यह बताने की तो कोई आवश्यकता ही नहीं कि वह अधेड़ श्रेष्ठी स्वयं अभयकुमार था, तथा उसका वह अर्ध-विक्षिप्त, सनकी भाई वही व्यक्ति था, जो देखने में काफी कुछ महाराज चण्डप्रद्योत जैसा दिखाई देता था–तनिक-से परिवर्तन की ही आवश्यकता थी, जो उचित समय पर कर लिया जाना था।

मगध के उस श्रेष्ठी ने उज्जयिनी के राजमार्ग पर ही, भरे-बाजार, अपने व्यापार के लिए एक दुकान ठीक कर ली। धन की कोई कमी थी नहीं। मुँहमाँगी कीमत देकर दुकान के मालिक को सन्तुष्ट करके उसका स्वामित्व प्राप्त कर लिया गया।

दुकान के पिछवाड़े ही रहने के लिए मकान भी था। उसी मकान में वह रहने लगा और अपना व्यापार उसने आरम्भ कर दिया।

उस श्रेष्ठी का व्यवहार इतना सौजन्यपूर्ण था, उसकी वाणी में इतना संस्कार और मधुरता थी, तथा उसके व्यापार का लाभांश इतना अल्प और उचित था कि देखते-देखते, शीघ्र ही सारी उज्जयिनी की व्यापार-मण्डी में वह विख्यात और लोकप्रिय हो गया। सभी लोग उसका बहुत आदर करते थे। बस, उसे एक ही कठिनाई थी कि समय-समय लोग उसे आकर उपालम्भ देते थे कि–

"श्रेष्ठी जी ! आपका यह भाई हमें बहुत परेशान करता है। समय-असमय यह हमारी दुकान पर आकर जमकर बैठ जाता है, अंट-शंट बका करता है, हमें काम ही नहीं करने देता। इससे हमारे व्यापार पर बहुत विपरीत प्रभाव पड़ता है।"

"हाँ, श्रेष्ठिवर ! आपसे इसकी शिकायत करते हुए हमें बहुत संकोच हो रहा है,"–दूसरा कोई व्यापारी कहता–"किन्तु हम करें भी तो क्या? आखिर हम भी व्यापारी ठहरे।"

"धंधा तो यह हमें करने ही नहीं देता।"–तीसरा व्यक्ति कहता।

"इसकी बकझक सुनकर ग्राहक हमारी दुकानों से आगे बढ़ जाते हैं।"

कोई अन्य व्यापारी कहता–

"अब क्या कहें सेठ जी ! कभी-कभी तो यह हद ही कर देता है। बैठा-बैठा बकने लगता है–"मैं राजा हूँ, यह उज्जयिनी मेरी है, तुम लोग मेरी प्रजा हो– आदि-इत्यादि। जो भी मन में आता है बकता चला जाता है।"

ये सब शिकायतें सुनकर मगध का वह सरल, सौम्य, सभी का प्रिय व्यापारी अपना माथा ठोक लेता और बड़े दुःखभरे स्वर में उत्तर देता–

"भाइयो ! अब मैं आपसे क्या कहूँ? संसार में मेरे सिवाय इसका और कोई है भी तो नहीं। आखिर यह मेरा भाई है। मैं इसे छोड़ तो सकता नहीं। बेचारा सनकी है। इसे छोड़ दूँ तो इसका क्या होगा? कौन इसे खाने को देगा? कौन इसे उठायेगा-बैठायेगा? कौन इसकी सार-सम्हाल करेगा?"

"श्रेष्ठिगण ! आप लोग देख ही रहे हैं कि मैं इसकी कितनी सेवा-सुश्रूषा करता हूँ। कितना इलाज-उपचार इसका करवा चुका हूँ, किन्तु कोई लाभ अब तक नहीं हुआ। सोचा था कि उज्जयिनी के महाकाल की ही शायद इस पर कृपा हो जाय, और मुझे विश्वास है कि किसी न किसी दिन महाकाल अवश्य प्रसन्न होंगे। उनकी कृपा से सभी कुछ सम्भव है''''।"

"अब देखिये, क्या होता है। मुझे तो महाकाल का ही अब एक भरोसा है। उन्होंने चाहा तो वे इस पर अवश्य कृपा करेंगे''''।"

एक विदेशी व्यापारी की अपने महाकाल पर ऐसी श्रद्धा देखकर उज्जयिनी के लोग स्वयं को होने वाली सारी असुविधा को भूल जाते और बड़े ही सहानुभूतिपूर्ण वचन कहने लगते–

"कोई बात नहीं, श्रेष्ठी जी ! आप चिन्ता न करें। हमने तो वैसे ही आपसे कह दिया कि आप इसे थोड़ा सम्हालकर रखें। हमारे भगवान महाकाल ने चाहा तो सब ठीक हो जायेगा। अच्छा, जय महाकाल ! आप कोई चिन्ता न करें, श्रेष्ठी जी ! कष्ट के लिए क्षमा !"

"नहीं भाइयो ! आप सबके और महाराज चण्डप्रद्योत के रहते मुझे चिन्ता किस बात की? लेकिन अब मैं इसे अधिक बन्धन में रखा करूँगा''''।"

कुछ दिन इसी प्रकार बीत गये।

किसी-किसी दिन मगध के उस व्यापारी के भाई की सनक कुछ अधिक ही बढ़ जाया करती थी। ऐसे अवसरों पर वह व्यापारी बेचारा कभी तो स्वयं पकड़कर भाई को घर लाता, और कभी-कभी दूसरे लोगों की मदद से उसे खाट पर डालकर, रस्सी से जकड़कर उसे अपने घर तक लाता। उसकी इस परेशानी को देखकर बाजार के लोग उसके प्रति बड़ी सहानुभूति प्रदर्शित करते और वह उत्तर देता–"क्या किया जाय, भाइयो ! भाग्य की बात है।"

इधर मगध का वह व्यापारी खाट पर रस्सी से बाँधकर अपने पगले भाई को बाजार से अपने घर ला[illegible] और उधर वह पगला भाई जो कुछ भी जी में आता वही बकता चला जाता।

कभी-कभी वह अपने भाई को ही गालियाँ देता। कभी आते-जाते लोगों को खरी-खोटी सुनाता। और कभी मगन हो जाता तो बकता रहता–"मैं चण्डप्रद्योत हूँ ! मैं मालवा का राजा हूँ ! अरे, मैं तुम सभी का स्वामी हूँ ! मैं महाबली हूँ– मैं यह हूँ। मैं वह हूँ····।"

लोग सुनते रहते। हँसते रहते। या फिर सहानुभूतिपूर्वक निराशा से सिर हिलाते रहते।

कुछ दिन तक यही तमाशा चलता रहा।

इस प्रकार उज्जयिनी के बाजारों में अभयकुमार की खाट चलती रही।

लोग तमाशा देखते रहे और हँसते रहे।

इतिहास इस विषय में मौन है कि अभयकुमार ने किस युक्ति से ऐसा किया, किन्तु इतिहास इस बात का साक्षी अवश्य है कि एक दिन वह खाट जब मगध के उस व्यापारी के घर से चली तब उस पर श्रेष्ठी के उस विक्षिप्त भाई के स्थान पर स्वयं मालव-नरेश, महाबली, महाराज चण्डप्रद्योत बँधे हुए थे और भीषण क्रोध से फुफकारते–छटपटाते, चीखते-चिल्लाते वे कह रहे थे–

"अरे हरामखोरो ! अरे अंधो ! क्या तुम्हारी आँखें फूट गई हैं? देखते नहीं मैं तुम्हारा राजा चण्डप्रद्योत हूँ? अरे मूर्खो ! यह अभयकुमार मुझे बाँधकर लिये जा रहा है। मुझे छुड़ाओ–मूर्खो ! दाँत निपोर-निपोरकर हँस क्या रहे हो? तुम सबको, एक-एक को फाँसी पर लटका दूँगा····।"

चण्डप्रद्योत चीख रहे थे।

और लोग बड़े दुःख के साथ मगध के उस जनप्रिय, मृदुभाषी, सरल व्यवहारी श्रेष्ठी से सहानुभूतिपूर्ण वचन कह रहे थे–

"श्रेष्ठी जी ! आज तो आपके इस भाई को बहुत जोर का दौरा पड़ा लगता है !"

"बेचारे को आज तो तनिक भी होश नहीं है। देखो तो क्या-क्या बक रहा है?"

"सच कहते हो, भाई ! यह बीमारी ही बहुत बुरी है। भगवान किसी को रोग न दे।"

बड़ी गम्भीरतापूर्वक अपना सिर दुःख से हिलाता हुआ मगध का व्यापारी इन बातों का उत्तर दे रहा था–

"सब कर्मों का खेल है, बन्धुओ ! आप लोग तो महाकाल की कृपा से सब जानते हैं। होनहार होकर ही रहती है। भोगमानी जो लिखी होती है वह भोगे से ही छूटती है भाई ! अब देखो, सुना है–नगरी से बाहर कोई बड़े पहुँचे हुए महात्मा ठेठ हिमालय से आये हैं। उनके पास आज इसे ले जा रहा हूँ। शायद आपके महाकाल ने ही इस अभागे के उद्धार के लिए उन्हें भेजा हो''''।"

"हाँ, हाँ, श्रेष्ठी जी ! शीघ्रता कीजिये। जल्दी ही ले जाइये। आज इस पगले का दौरा कुछ अधिक ही भयानक दिखाई दे रहा है।"

दिन-दहाड़े, अपने पूरे होशोहवास में, भरे बाजार अपनी ही प्रजा से अपने लिए ऐसी बातें सुन-सुनकर प्रचण्ड, प्रतापी, महाबली मालव-नरेश का उस दिन क्या हाल था इसे कौन-सी लेखनी प्रकट कर सकती है?

वे चीखते-चिल्लाते रहे, गरजते और फुफकारते रहे, और गालियाँ तक बकते रहे अपने अत्यधिक क्रोधावेश में–किन्तु उज्जयिनी के बाजारों में से सरेआम चली जा रही थी अभयकुमार की वह खाट जिस पर महाराज चण्डप्रद्योत बँधे हुए थे–बेबस।

इस तरह अपने निर्धारित लक्ष्य से पहले वह खाट नहीं रुकी सो नहीं ही रुकी।

हिन्दी में एक मुहावरा है–खाट खड़ी कर देना–उस दिन अभयकुमार ने सरेआम, चुनौती देकर प्रचण्ड पराक्रमी चण्डप्रद्योत की खाट भी कुछ ऐसे ही खड़ी करके दिखा दी।

उज्जयिनी के दक्षिणी द्वार के पार एकान्त स्थान पर पहुँचकर जब वह खाट रुकी तब वहाँ अभयकुमार के छद्मवेषी सैनिक अपने चपल अश्वों के साथ प्रतीक्षा में सन्नद्ध खड़े थे।

बाइज्जत, बामुलाहिजा मालव-नरेश को खाट से खोलकर अश्व पर सवार कराया गया और वह अश्वारोहियों की छोटी-सी टोली तीव्र गति के साथ राजगृही की ओर दौड़ पड़ी।

अभयकुमार ने दौड़ते हुए अश्व पर से ही महाराज चण्डप्रद्योत से कहा–

"महाराज ! अपराध क्षमा हो, किन्तु मैंने आपको पहले ही चेतावनी दी थी''''।"

"चल-चल, दुष्ट ! अब विनय रहने दे। तू जीता, मैं हारा। और कुछ? किन्तु तूने आज मुझे मेरी ही प्रजा के सामने बहुत लज्जित किया''''।"

"ऐसा कुछ भी नहीं हुआ, महाराज ! ऐसा होता तो किसकी मजाल थी कि आपको इस स्थिति में पड़ा रहने देता? आपकी प्रजा आपके लिए जान दे सकती है, महाराज ! उस प्रजा ने तो मगध के एक भोले, भले व्यापारी ने पगले भाई को ही बँधकर जाते देखा है, महाराज चण्डप्रद्योत को नहीं।"

"क्या कहता है तू? सबकी आँखों के सामने मैं तेरी खाट पर बँधा आया हूँ, दुष्ट ! क्या उन्होंने देखा नहीं? क्या उनकी आँखें फूट गई हैं?"

तब अभयकुमार ने महाराज चण्डप्रद्योत को आरम्भ से अन्त तक सारी रहस्य की बात बताई। उसे सुनकर महाराज चण्डप्रद्योत अभयकुमार की विलक्षण, विकट बुद्धि पर विस्मयविमूढ़ रह गये।

अश्व तेजी से दौड़ते रहे।

कुछ समय बाद अचानक चण्डप्रद्योत महाराज ने कहा–

"किन्तु अभयकुमार ! राजधानी में मेरी अनुपस्थिति का क्या होगा? मैं राजमहलों में नहीं हूँ, राजाधानी में नहीं हूँ–यह बात कब तक छिपी रह सकेगी?"

"उसका प्रबन्ध भी मैंने कर दिया है, महाराज ! आज सायंकाल तक उज्जयिनी में यह घोषणा हो जायेगी कि महाराज चण्डप्रद्योत कुछ दिनों के लिए मृगया-विहार हेतु गये हैं। तथा वहाँ से वे सीधे राजगृही में महाराज श्रेणिक का आतिथ्य ग्रहण करने जायेंगे।"–अभयकुमार ने मन्द-मन्द मुस्कराते हुए कहा।

कुछ क्षण महाराज चण्डप्रद्योत ने स्थिति का विचार किया और फिर उन्होंने कहा–

"तेरी जय हो ! तेरी विलक्षण दृष्टि से कोई बात छिपी नहीं रह सकती। एक बार फिर दोहराता हूँ–तू जीता, मैं हारा। लेकिन याद रखना, महाराज श्रेणिक ने मेरा अपमान किया तो ..... ।"

"व्यर्थ की शंका से अपने हृदय को बोझिल न करें, महाराज ! सज्जन पुरुष सज्जनों का अपमान नहीं, आदर किया करते हैं।"

अभयकुमार ने यह एक ही वाक्य कहा। महाराज चण्डप्रद्योत ने अभयकुमार के दीप्त मुख को क्षणभर देखा और फिर जैसे सब कुछ भुलाकर पश्चिम के आकाश की ओर दृष्टि स्थिर करके प्रसन्न मन से बोले–

"कैसी सुहानी साँझ धीरे-धीरे घिरती चली आ रही है, अभय !"

● ●

सम्राट् श्रेणिक की उदात्त भावना तथा अभयकुमार के प्रयत्न और प्रताप से अब आर्यावर्त्त में चारों ओर शान्ति व्याप्त थी। इन दोनों विचारवान और नीतिवान पुरुषश्रेष्ठों की राजनीति ने परस्पर सौहार्द्र एवं सहयोग का ऐसा वातावरण बना दिया था कि पीढ़ियों से आपस में लड़ते चले आये राजा अब अपनी-अपनी सीमा में शान्त बैठे थे और इस बात के महत्त्व को समझ गये थे कि सुख और शान्ति की प्राप्ति आपस में लड़ते-भिड़ते रहने से नहीं, बल्कि एक-दूसरे की सीमा और सम्मान का समुचित विचार रखने तथा परस्पर सहयोग करने से ही प्राप्त हो सकती है।

श्रेणिक महाराज और अभयकुमार की शान्तिप्रियता तथा धर्मनीति की यह बहुत बड़ी एवं प्रशंसनीय विजय थी।

यह विजय नैतिकता की विजय थी।

संतोष, शान्ति और समृद्धि के वे दिन बीतते चले जा रहे थे।

उन्हीं दिनों तीर्थंकर भगवान महावीर के पाँचवें गणधर आचार्य सुधर्मास्वामी एक बार विहार करते हुए राजगृही पधारे। आचार्य के आगमन का सुसंवाद सुनकर राजा और प्रजा आनन्द में डूब गये और उनके दर्शनों से अपने नेत्रों को सार्थक करने तथा उनके सदुपदेश का श्रवण कर अपनी आत्मा का कल्याण करने के लिए नगरी से बाहर उस उद्यान की ओर उमड़ चले जहाँ आचार्यप्रवर ने स्थान ग्रहण किया था–विराजे थे।

आचार्यश्री ने उपदेश करते हुए कहा–

"यह मनुष्य-जन्म दुर्लभ है। इस सारी पृथ्वी का समस्त धान्य यदि एक स्थान पर एकत्र कर दिया जाये और उसमें केवल एक मुट्ठी सरसों डालकर उस सारे ढेर को मिला दिया जाय, मिलाकर पीस दिया जाये तो फिर कोई चतुर से चतुर व्यक्ति भी उस एक मुट्ठी सरसों को ढूँढ़कर अलग नहीं कर सकता।"

"इसी प्रकार अनन्त-अनन्त जन्मों में भटकते हुए जीव को कभी, बड़ी कठिनाई से, बहुत पुण्यों के फल से, यह मनुष्य-जन्म प्राप्त होता है। यदि इस जन्म को भी व्यर्थ कर दिया जाय फिर आत्म-कल्याण की आशा ही व्यर्थ है।"

आचार्यश्री की वाणी और उपदेश से अनेक व्यक्तियों का जीवन का सच्चा मार्ग दीख पड़ा। उनकी आत्मा शान्त और प्रसन्न हो गई।

श्रोताओं में एक बेचारा गरीब कठियारा भी था। नित्यप्रति जंगल से वह लकड़ियाँ काट-काटकर लाता, उन्हें बेचता और अपनी उदरपूर्ति किया करता था। आचार्य का उपदेश उसके अन्तर में पैठ गया। उसने अपने इस दुर्लभ मानव-जीवन को सार्थक कर डालने का निश्चय कर लिया। मन में पक्की ठान ली और आचार्यश्री से निवेदन किया–

"प्रभु ! आपने मेरी आँखें खोल दीं। अब तो आपकी ही शरण है। इस संसार में अब मेरा मन नहीं लगेगा। कृपया मुझे दीक्षा देकर कृतार्थ कीजिये जिससे कि मैं अपने जीवन को सार्थक कर सकूँ।"

आचार्यश्री ने कृपाकर उसे सत्पात्र समझकर दीक्षा प्रदान की। वह नव-दीक्षित मुनि आचार्यश्री के साधु-परिवार के साथ रहकर संयम और तप की आराधना करने लगा।

किन्तु यह संसार है।

इस विचित्र संसार में भाँति-भाँति के लोग हैं।

ऐसे भी लोग हैं जो किसी दूसरे की सुख-शान्ति देखकर ईर्ष्या करने लगते हैं अथवा सीधे रास्ते पर जाते हुए किसी आदमी पर अकारण ही व्यंग-वचनों की बौछारें करने लगते हैं। नहीं मालूम निरर्थक पर-पीड़ा में उन्हें क्या आनन्द आता है?

श्रेणिक एवं अभयकुमार जैसे नीतिज्ञ, उदार, दयावान, धर्मप्रेमी राजा और मंत्री की राजगृही में भी कुछ ऐसे ही निकृष्ट पुरुष निकल ही आये। वे लोग उस नव-दीक्षित मुनि को भिक्षार्थ इधर-उधर जाते देखकर उन पर व्यंग कसने लगे–

"चलो भाई, रोटी-पानी की चिन्ता से तो छुट्टी मिली। रोज-रोज जंगल में जाकर लकड़ियाँ काटनी पड़ती थीं, सिर पर बोझ उठाकर लाना पड़ता था, और फिर भी आधा पेट खाकर ही सोना पड़ता था–सो अब उससे मुक्ति मिली। आनन्द से मुफ्त का माल भिक्षा के नाम से लाये और खा-पीकर सो रहे। ऐसे साधु बनने में बुराई भी क्या है?"

इसी प्रकार के कटु वचन उस मुनि को सुनने पड़ते थे। सुनकर उसे बड़ा क्षोभ होता था। अभी उसका इतना अभ्यास तो नहीं हुआ था कि सारे विष को

चुपचाप अमृत मानकर पी जाता। सो एक दिन बहुत दुःखी होकर उसने अपनी पीड़ा आचार्यश्री के समक्ष प्रगट की–

"गुरुदेव ! लोग मुझ पर अनेक प्रकार के आरोप लगाते हैं। मुझ पर कटु व्यंग करते हैं। मुझसे यह सहा नहीं जाता। कृपया इस नगरी से विहार कर अन्यत्र चलिये।"

आचार्य सुधर्मास्वामी ने सोचा कि मुनि नव-दीक्षित है। इतनी जल्दी इसमें पूरी सहनशीलता न आ सके यह स्वाभाविक ही है। व्यर्थ ही इसकी आत्मा को कष्ट होता है। अतः इस समय राजगृही का त्याग कर देना ही उचित है।

दूसरे दिन सूर्योदय के साथ ही आचार्य सुधर्मास्वामी अचानक अपने साधु-कुल के साथ राजगृही का त्याग कर रहे हैं, यह समाचार जब अभयकुमार को मिला तो वह विस्मित और अत्यन्त दुःखी हो गया।

महाराज श्रेणिक ने भी जब यह जाना तो उन्हें भी बड़ा आत्मिक क्लेश हुआ। उन्होंने अभयकुमार को बुलाकर कहा–

"अभय ! मैं यह क्या सुन रहा हूँ? पूज्य आचार्यसम्राट् अचानक अपनी राजगृही का त्याग क्यों कर रहे हैं?"

"कारण मुझे अभी ज्ञात नहीं, पिताजी ! मैं उन्हीं के पास जा रहा था कि आपका आदेश मिला।"

"तो जा, शीघ्र जा। उन्हें किसी प्रकार से रोक। कारण का पता लगाकर उसका समाधान कर। मैं भी जल्दी ही आता हूँ।"

पिता का आदेश पाकर तथा स्वयं भी अपनी ही प्रेरणा से अभयकुमार दौड़ा-दौड़ा आचार्यश्री के समीप गया और हाथ जोड़कर सविनय बोला–

"भगवन् ! यह मैं क्या सुन रहा हूँ? क्या हमारे और राजगृही के पुण्य समाप्त हो गये हैं कि इस प्रकार अचानक ही आपश्री ने इस नगरी का त्याग कर देने का निश्चय कर लिया? पिता महाराज श्रेणिक भी आतुर एवं चिन्तित हो उठे हैं। वे भी आते ही होंगे। प्रभु ! हम लोगों से ऐसा क्या अपराध बन पड़ा?"

आचार्यश्री ने जब वास्तविक बात अभयकुमार को बताई तब उसके दुःख और लज्जा का पारावार न रहा। वह कुछ क्षण तक गम्भीर विचारों में डूबा खिन्न मन बैठा रहा। फिर कुछ विचार करके उसने आचार्यश्री से प्रार्थना की–

"भगवन् ! राजगृही के कतिपय लोगों की इस अशिष्टता के कारण मैं लज्जित हूँ, दुःखी हूँ। किन्तु मैं आपसे करबद्ध विनय करता हूँ कि आपश्री कम से कम केवल एक दिन यहाँ और विराजें। यह मेरी और महाराज की प्रार्थना है।"

अभयकुमार जैसे धार्मिक और नीतिवान व्यक्ति का वह विनयपूर्ण आग्रह कृपालु आचार्य ठुकरा न सके। वे एक और दिन राजगृही में ठहर गये।

उस दिन राजप्रासाद के सामने अभयकुमार ने विशाल प्रांगण में बहुमूल्य रत्नों से भरी कुछ मंजूषाएँ रखवाईं और नगरी में घोषणा कराई–राज्य की ओर से प्रजा में रत्न-सुवर्ण का वितरण किया जा रहा है। इच्छुक व्यक्ति आयें और जिसे जो कुछ चाहिए, ले जायें।

गोधूलि वेला में जिस प्रकार वन-प्रान्तर की चारों दिशाओं से झुण्ड के झुण्ड पशु गाँव की ओर तेजी से लौटते हैं, उसी प्रकार सैकड़ों और हजारों मनुष्य उस प्रांगण की ओर दौड़ पड़े–सुवर्ण और रत्न मुफ्त में मिल रहा है, कौन अभागा उसे छोड़ेगा?

जब लोग इकट्ठे हो गये तब अभयकुमार ने कहा–

"इन मंजूषाओं में अपार धनराशि है। जो भी व्यक्ति स्त्री, जल और अग्नि का त्याग करने के लिए प्रस्तुत हों, वे आगे आकर मनचाहा धन ले जायें।"

स्त्री, जल और अग्नि का त्याग? अरे, यदि इन्हीं का त्याग कर दिया तो फिर इस जीवन में शेष रह ही क्या जायेगा?

सबसे पहले और सबसे अधिक सम्पत्ति प्राप्त कर लेने के इच्छुक, लालायित लोग जो अब तक धक्कमुक्का करके आगे से आगे बढ़ने का प्रयत्न कर रहे थे–पीछे हटने लगे।

कोई कहता–

"स्त्री के बिना जीवन में रखा ही क्या है? उसी का त्याग कर दें तो फिर इन सुवर्ण-रत्नों से क्या अपना सिर फोड़ें?"

और कोई कहता–"अरे भाई, जल से स्नान करने का त्याग कर दें तो फिर जिएँ कैसे? हमें तो नहीं चाहिए ये रत्न।"

"अग्नि का त्याग भी भला किया जा सकता है? उसके बिना कैसे जिया जा सकता है? क्या बनायेंगे? क्या खायेंगे?"

लोगों को इस प्रकार आपस में फुसफुसाते और पीछे हटते देखकर अभयकुमार ने कहा–

"राजगृही के नागरिको ! लज्जा करो। तुम स्त्री, जल और अग्नि में से एक का भी त्याग नहीं कर सकते और उस नव-दीक्षित मुनि पर व्यंग कसते हो? उस त्यागी मुनि पर, जिसने न केवल इन तीनों वस्तुओं का, बल्कि सारे संसार का ही त्याग कर दिया है। धिक्कार है तुम्हें ! अब भी कुछ सोचो और समझो। यदि अपनी भूल समझ में आती हो तो अपने इस पाप का प्रायश्चित्त करो। जाओ, राजगृही की उच्च, धवल परम्परा और कीर्ति पर कलंक का काला दाग न लगाओ। जाओ, इसी क्षण जाओ और मुनि से क्षमायाचना करो। आचार्यश्री के चरणों में पड़कर विनय करो कि वे तुम्हारी भूल को क्षमा करें और तुम्हारी नगरी का त्याग न करें।"

"सावधान ! नागरिको ! यदि आचार्यश्री ने कल राजगृही का त्याग किया तो याद रखना तुम्हारे मुख पर कलंक की ऐसी अमिट कालिमा लगेगी कि वह जीवनभर फिर धोए न धुलेगी।"

सन्नाटे को चीरती हुई अभयकुमार की यह दुःखभरी, क्रोधभरी और चेतावनी देती हुई वाणी भीड़ के एक छोर से दूसरे छोर तक गूँज गई ....।

अपनी भयानक भूल राजगृही के सुसंकृत नागरिकों को तुरन्त समझ में आ गई थी। पश्चात्ताप से उनके हृदय बोझिल हो गये थे।

आचार्यश्री का जयघोष करते हुए वे उद्यान की ओर शीघ्रता से चल पड़े। सभी लोगों की आँखों में पश्चात्ताप, दुःख एवं ग्लानि के आँसू उमड़ पड़े थे।

कृपालु आचार्यश्री ने भूलेभटके लोगों को शान्त और शुद्ध हृदय से क्षमा कर दिया। उन्होंने जन-समुदाय को सम्बोधित करते हुए कहा–

"साधु अधिक दिन एक स्थान पर नहीं ठहरता। किन्तु कुछ समय हम राजगृही में और ठहरेंगे।"

× × ×

एक बार सम्राट् श्रेणिक अपनी राजसभा में बैठे थे। सभी मांडलिक राजा, मंत्रीश्वर, सेनापति, वरिष्ठ नागरिक आदि सभा में उपस्थित थे। उस समय सम्राट् को जाने क्या सूझी कि पूछ बैठे–

"इस समय संसार में सबसे मूल्यवान वस्तु क्या है?"

उपस्थित सभाजनों में से प्रत्येक ने अपनी-अपनी बुद्धि और विचार के अनुसार सम्राट् के प्रश्न का उत्तर दिया। संसार की मूल्यवान से मूल्यवान, प्रिय से प्रिय वस्तुओं के नाम गिना दिये गये। किसी ने स्वर्ण, किसी ने रत्न, किसी ने केशर, किसी ने कस्तूरी, किसी ने हाथी, किसी ने अश्व, किसी ने घृत, किसी ने आम्रफल और किसी ने अपनी दृष्टि से किसी अन्य वस्तु का नाम बताया।

किन्तु अभयकुमार मौन रहा। उसे मौन देखकर सम्राट् श्रेणिक ने पूछा–

"अभयकुमार ! तुमने कुछ कहा नहीं। तुम्हारी दृष्टि से संसार में सबसे अधिक मूल्यवान क्या वस्तु है?"

तब अभयकुमार ने उत्तर दिया–

"पिता महाराज ! सभी उपस्थित व्यक्तियों ने बहुत-बहुत मूल्यवान वस्तुओं के नाम गिनाये हैं। वे वस्तुएँ मूल्यवान हैं इनमें कोई सन्देह भी नहीं। किन्तु मेरी दृष्टि में तो सबसे अधिक मूल्यवान वस्तु यदि कुछ है तो वह मनुष्य का माँस ही है।"

उपस्थित लोगों ने अभयकुमार की बात को स्वीकार नहीं किया। वे कहने लगे–

"शरद ऋतु में जिस प्रकार सरोवर का जल बढ़ जाता है, उसी प्रकार माँस तो बढ़ता ही रहता है। एक ही स्वर्ण-मुद्रा में ढेरों माँस मिल जाता है। तब वह इतना मूल्यवान कैसे हो गया? हमें तो आज मंत्रीश्वर अभयकुमार की बात पर हँसी आ रही है।"

महाराज श्रेणिक ने भी परीक्षा लेने के लिए सभासदों का पक्ष लेते हुए कहा–

"अभयकुमार, तुम्हारी बात हमें भी ठीक मालूम नहीं होती। क्या तुम अपनी बात के पक्ष में प्रमाण प्रस्तुत कर सकते हो?"

"प्रमाण के अभाव में सत्य का साक्षात्कार होता भी तो नहीं है, महाराज ! अतः मैं अपने कथन और उसकी सत्यता का प्रमाण आपको पाँच दिन के भीतर दूँगा।"

सभा उस दिन के लिए समाप्त हुई। अभयकुमार को पाँच दिन की अवधि मिल गई।

दूसरे दिन अभयकुमार ने घोषणा करवाई–"सम्राट् श्रेणिक अचानक गम्भीर रूप से अस्वस्थ हो गये हैं। राजवैद्यों ने कहा है कि किसी मनुष्य के कलेजे का

दो माशा माँस यदि मिल जाय तो सम्राट् के जीवन की रक्षा हो सकती है। अतः जो भी व्यक्ति अपने कलेजे का दो भाग माशा माँस देना चाहे, वह राजप्रासाद में शीघ्र उपस्थित हो, उसे मुँहमाँगा धन दिया जायेगा।"

एक दिन, दो दिन, तीन दिन व्यतीत हो गये, किन्तु कोई नहीं आया।

कौन अपने प्राणों का शत्रु था जो अपने कलेजे का माँस देने आता? अपने प्राण देकर चाहे जितना धन प्राप्त हो–उसका क्या प्रयोजन?

तब अभयकुमार ने उस दिन राजसभा में उपस्थित एक-एक व्यक्ति को बुलाकर कहा–

"श्रीमन् ! आपने कहा था न कि मनुष्य का माँस तो शरद ऋतु में सरोवर के जल के समान बढ़ता रहता है। एक ही स्वर्ण-मुद्रा में ढेरों माँस मिल जाता है। अब आप केवल दो माशा माँस देने में क्यों हिचक रहे हैं? यह राजकोष खुला हुआ है। जितना ले जा सकें उतना धन ले जाइये और केवल दो माशा माँस देते जाइये। आपके परम प्रिय सम्राट् के जीवन का प्रश्न है।"

पाठक अनुमान लगा सकते हैं कि सभा में उपस्थित लोगों का अब क्या हुआ होगा?

उनका पानी उतर गया।

वे बगलें झाँकने लगे।

उनकी दृष्टि भूमि पर ही गड़ी रह गई।

किन्तु कोई भी प्रस्तुत नहीं हुआ अपने कलेजे का दो माशा माँस देने के लिए। फिर धीरे-धीरे वे एक-एक करके हाथ जोड़कर अभयकुमार से क्षमा माँगते चले गये.... मौन, लज्जित भाव से विदा होते गये। अपनी ओर से बहुत-सा धन उन्होंने अभयकुमार के चरणों के समक्ष रख दिया था।

हीरा-मोती, माणक-पुखराज, स्वर्ण-रत्न का एक छोटा-मोटा पर्वत ही वहाँ खड़ा हो गया।

किन्तु दो माशा माँस नहीं मिला।

पाँचवें दिन सम्राट् श्रेणिक को वह रत्न-धन का ढेर दिखाते हुए अभयकुमार ने कहा–

"पिताजी ! यह देखिये। अपार सम्पत्ति का यह ढेर वे लोग यहाँ लगा गये हैं–जो उस दिन सभा में कहते थे कि माँस तो एक स्वर्ण-मुद्रा में ढेरों मिलता है,

किन्तु उनमें से किसी ने अपने कलेजे का दो माशा माँस देना भी स्वीकार नहीं किया।"

सम्राट् श्रेणिक हल्के-हल्के, मन्द-मन्द, मधुर प्रेम से मुस्कराते हुए बोले–

"मैं जानता था कि तू ऐसा ही कुछ करेगा। तेरी प्रत्येक बात और तेरे प्रत्येक व्यवहार में कुछ न कुछ ऐसा मर्म छिपा रहता है जिसे समझने पर लोगों को अन्धकार के पार प्रकाश की झिलमिल रेखा दिखाई देती है। तू अद्‌भुत है ....।"

"आप ही का पुत्र हूँ, पिताजी ! समर्थ, विवेकवान, बुद्धिमान् सम्राट् बिम्बसार श्रेणिक का पुत्र ! आप तो स्वयं भी बुद्धि के निधान हैं, पिताजी ! तो कुछ अंश उसमें से मुझे भी मिल गया ....।"

"अच्छा, अच्छा। अब इस सारे धन को ठिकाने लगा। इसे दीन-दरिद्रों और निर्धन पण्डितों में बाँट दे।"–सम्राट् ने कहा।

श्रेणिक और अभयकुमार की राजगृही में दीन-दरिद्र मिलते ही कहाँ थे?

किन्तु फिर भी, जिनको कुछ भी आवश्यकता हो सकती थी, ऐसे लोगों में वह धनराशि वितरित कर दी गई।

× × ×

समय-समय पर अनेक प्रकार के छोटे-बड़े दृष्टान्तों को लेकर अभयकुमार जनता में एक उच्च मानवीय भावना के विकास का सतत प्रयत्न करता रहता था। अपनी विपुल बुद्धि एवं चातुर्य का होम वह मानवों की चेतना के विकास में कर रहा था।

एक दिन ऐसा ही अवसर और उपस्थित हो गया।

महाराज श्रेणिक भरी सभा में पूछ बैठे–

"इस संसार में धार्मिक पुरुष अधिक हैं अथवा अधार्मिक? पुण्यवान पुरुषों की संख्या अधिक है या पापियों की?"

अभयकुमार के अतिरिक्त अन्य सभी उपस्थित सभासदों ने कहा–पापी।

किन्तु अभयकुमार को जाने क्या सूझी, जाने वह किस बात को किस रीति से लोगों के हृदयों में बिठाना चाहता था कि उसने उत्तर दिया–

"इस संसार में धर्मात्मा ही अधिक हैं, महाराज !"

बात किसी के गले उतरी नहीं। बात ही ऐसी थी। कहाँ पड़े हैं धर्मात्मा इस स्वार्थी संसार में? कितने लोग हैं इस पृथ्वी पर जो पाप से भय खाते हैं और अपने दोषों को समझते हैं, तथा उन्हें स्वीकारने का साहस रखते हैं?

महाराज श्रेणिक ने तथा सभी सभासदों ने भी अभयकुमार को अपने इस कथन को प्रमाणित करने का आग्रह किया। अभयकुमार ने कुछ समय माँगा जो उसे दिया गया।

इस बीच उसने राजगृही में दो वस्त्रकुटी बनवाईं–एक शुभ्र–श्वेत और दूसरा काला–कृष्ण वर्ण।

अब अभयकुमार ने घोषणा करवाई–'राजगृही के सभी धार्मिक, पुण्यात्मा लोग श्वेत वस्त्रकुटी में जावें और पापी लोग कृष्ण वर्ण वस्त्रकुटी में।' वस्त्रकुटियों में प्रवेश करने के लिए एक-एक मार्ग था और बाहर निकलने के लिए दूसरा मार्ग था।

जैसा कि अनुमान था और स्वाभाविक भी था कि श्वेत वस्त्रकुटी में जाने के लिए ही सारी नगरी के नागरिक उमड़ पड़े। कौन स्वयं को पापी मानता या प्रगट करता? वस्त्रकुटी से बाहर आते हुए लोगों से राजसेवक पूछते जाते थे–"आप क्या धर्मकार्य करते हैं?"

उत्तर जो मिल रहे थे वे अनेक थे–

"मैं ब्राह्मण हूँ। नित्य षट्कर्मों का पालन करता हूँ। यज्ञ करता हूँ। हवन करता हूँ–यह करता हूँ, वह करता हूँ।"

"मैं क्षत्रिय हूँ। शत्रु को कभी पीठ नहीं दिखाता। देश की रक्षा करता हूँ।"

"मैं कृषक हूँ। अन्न उपजाता हूँ। साधु-अतिथि-अपाहिजों को अन्नदान करता हूँ।"

"मैं वैश्य हूँ। किसी भी प्रकार के मनोविकार से रहित होकर व्यापार करता हूँ। राज्य को कर देता हूँ।"

"मैं वैद्य हूँ। वात-पित्त-कफ की परीक्षा करके रोगियों को स्वास्थ्य प्रदान करता हूँ।"

सारांश–सभी ने उत्तर दिया कि वे यह करते हैं और वे वह करते हैं। अतः यदि वे ही धार्मिक नहीं हैं तो और कौन है?

किन्तु राजगृही में दो सद्गृहस्थ श्रावक ऐसे भी थे जो अपवादसिद्ध हुए। वे कृष्णवर्ण वस्त्रकुटी में ही गये। जब वे बाहर आये तो राजसेवकों ने पूछा–

"अरे भाई श्रावको, आप लोग इस वस्त्रकुटी में कैसे आ पहुँचे? आप लोग तो धर्मध्यान का पूरा विचार रखते हैं। प्रतिदिन स्थानकों में जाते हैं। मुनियों के दर्शन करते हैं। उनके सदुपदेश सुनते हैं। आपको तो कोई पाप करते किसी ने नहीं देखा?"

प्रश्न सुनकर उन श्रावकों ने अत्यन्त खेदसहित उत्तर दिया–

"भाई हम बड़े लज्जित हैं, क्योंकि हम तो महापातकी हैं। हमने अपने गुरुओं से व्रत अंगीकार किया था, किन्तु हम अपने स्वीकार किये गये, ग्रहण किये गये व्रत का पालन न कर सके। व्रत हमसे टूट गया। भाई, किसी व्रत को, किसी वचन को स्वीकार करने की शक्ति न हो तो भी कोई बात नहीं, किन्तु एक बार किसी व्रत को ग्रहण करने के बाद उसका पालन न करना तो महापाप है। इसीलिए हम कृष्णवर्ण वस्त्रकुटी में आये हैं। क्योंकि पापियों का पाप प्रगट हो, यह अच्छी बात है और धार्मिकों का धर्म गुप्त रहे, यही श्रेष्ठ है।"

इसके बाद सब लोग अपने-अपने घर चले गये। राजा और सभासदों को जब यह बात मालूम हुई तो उन्होंने विचार किया–अभयकुमार के कथन में बड़ा मर्म छिपा था। इस संसार में सभी अपने आप को धर्मात्मा मानते हैं, अपने दोषों और पापों की ओर से आँखें मूँदे बैठे रहते हैं, वे साहस नहीं कर पाते कि अपने पाप को स्वीकार कर उसका परिमार्जन करें। विरले ही होते हैं कि जिनमें अपने पाप को स्वीकार करने का विवेक और साहस होता है।

शायद यही बात समझाने के लिए अभयकुमार ने वह बात कही थी। उसकी बुद्धि और समुद्देश्य की बलिहारी है !

महापुरुषों के जीवन का प्रत्येक पल सामान्यजन के लिए दिशा-निर्देशक प्रदीप होता है।

●●

"ऊधो कर्मन की गति न्यारी।"

कवि ने तो यह सत्य काव्य पंक्ति में कह दिया। किन्तु इस सत्य को जानते हम सभी हैं।

लेकिन यह भी सच है कि हम कर्मों की गति को न्यारी इसलिए कहते हैं कि हम अपने भविष्य को जानते नहीं। हम इतना मानकर बैठ जाते हैं कि जो भाग्य में होगा, वह होगा।

किन्तु प्रत्येक प्राणी का भाग्य तो उसके कर्मों से ही बनता है, यह विशेष बात है जिसे जानना चाहिए। देखिए, कर्म के फल की अटलता का एक दृष्टान्त।

भगवान महावीर यत्र-तत्र विहार करते हुए राजगृही नगरी में भी पधारा करते थे। एक बार वे इसी प्रकार वहाँ पधारे तथा अनेक श्रमणों तथा साध्वियों सहित नगरी से बाहर गुणशीलक नामक उद्यान में विराजे। उनके शुभ पदार्पण से सारी नगरी धन्य हो गई। धर्मनिष्ठ राजा श्रेणिक तथा उनकी रानियों एवं समस्त राजकुमारों सहित नगरी के अन्य सभी धर्मप्रेमी नागरिक प्रभु के दर्शन प्राप्त करने एवं उनके मुख से निकलने वाले शब्दों के अमृत का पान करने के लिए उमड़ पड़े।

वीर प्रभु ने देशना प्रदान की। उसे सुनने के बाद वहाँ उपस्थित समस्त राजकुमारों में से राजकुमार नन्दीषेण के मन में एक जिज्ञासा उठी। उसने खड़े होकर, हाथ जोड़कर प्रभु को वन्दन किया और फिर कहा–

भगवन् ! हमारी हस्तिशाला में सेचनक नामक एक बहुत बलवान, बहुत समझदार, बहुत सुन्दर और पर्वताकार एक हाथी है। हाथी क्या, वह एक अनमोल रत्न ही है। एक अकेला ही वह हाथी सैकड़ों और हजारों की संख्या में सैन्य पर भारी पड़ता है।

प्रभु ! उसी सेचनक हाथी के विषय में यह बात है। राज हस्तिशाला में लाए जाने से पूर्व वह जंगल में स्वतन्त्र विचरण करता था। उस समय उसने एक बार बहुत उपद्रव किया। जंगल के अनेक भीमकाय वृक्षों को तोड़कर धराशायी कर

दिया। एक आश्रम के कुटीरों को नष्ट कर डाला। ऐसा प्रतीत होता था कि वह उन्मत्त हो गया है और आज वह भीषण विनाश लीला करके ही मानेगा।

सूचना प्राप्त होते ही राज्य के अनेक कुशल एवं वीर सैनिक उस हाथी को वश में करने के लिए गए। किन्तु सेचनक तो उस दिन विकराल काल का अवतार ही बना हुआ था। वह किसी के वश में आया ही नहीं। सैनिकों को ही भाग खड़ा होना पड़ा।

किन्तु भगवन् ! विस्मय की बात यह है कि जब मैं उस हाथी के सामने गया तो मानो चमत्कार ही हो गया। सेचनक मुझे देखते ही एकदम शान्त और प्रसन्न हो गया। मुझ पर आक्रमण करने के स्थान पर वह धीरे-धीरे मेरे पास आया, सूँड़ उठाकर उसने मुझे सत्कार प्रदान किया और फिर मुझे अपनी पीठ पर बिठा लिया। उसका यह प्रेम देखकर मैं आश्चर्यचकित हो गया। उसे लेकर मैं राजभवन में आ गया।

प्रभु ! यह घटना मुझे आज तक विस्मय में डाले हुए है। यह कैसे हुआ भगवन् !

सेचनक हस्ति ने नन्दीषेण के साथ जो प्रेम-व्यवहार किया था वह जग जाना था। परिषद में समुपस्थित सभी भक्तजन भगवान के मुख से इस रहस्यमय बर्ताव का कारण जानने के लिए समुत्सुक हो गए।

श्री वीर प्रभु ने बताया–

मुखप्रिय नामक एक विप्र किसी ग्राम में रहता था। वह था तो एक ब्राह्मण किन्तु प्रभुकृपा से वह अपार धन-सम्पत्ति का स्वामी भी था। लक्ष्मी की उस पर पूर्ण कृपा थी। हृदय भी उसका उदार था।

एक दिन उसे विचार आया कि इतनी सम्पत्ति का आखिर करना क्या है? कुछ सदुपयोग तो करना ही चाहिए। अतः क्यों न मैं एक ब्रह्मभोज करा दूँ? यह संकल्प करके उसने आसपास और दूर-दूर तक के भी एक लक्ष ब्राह्मणों को भोज के लिए सादर आमंत्रित किया।

एक लक्ष ब्राह्मणों को भोजन कराना उसके लिए धन की दृष्टि से तो सामान्य और सरल कार्य ही था। किन्तु प्रश्न व्यवस्था का था। इतने विशाल आयोजन के लिए उसे किसी न किसी अन्य व्यक्ति के सहयोग की भी आवश्यकता थी। अकेला वह इतना सारा काम कैसे सँभालता? अतः उसने अपने एक पड़ौसी भीम नामक एक दासवृत्ति करके जीविका चलाने वाले व्यक्ति से कहा–

"भाई भीम ! मैंने एक लक्ष विप्रों को भोज दिया है। इस महत् कार्य में तुम मेरा सहयोग करो।"

भीम ने तत्काल इस प्रस्ताव को स्वीकार करते हुए कहा–

"विप्रवर ! मेरा तो कार्य ही दासवृत्ति से चलता है। आपके कार्य में पूर्ण सहयोग करूँगा। फिर आप तो मेरे पड़ौसी हैं। पड़ौसी के प्रत्येक कार्य में सहयोग करना ही मनुष्य का कर्त्तव्य है। अतः मुझे आपका आदेश स्वीकार है। केवल एक शर्त है।"

"वह क्या है?"

"इतनी ही कि ब्रह्मभोज से बची हुई भोजन-सामग्री आप मुझे प्रदान करेंगे।" भीम ने बताया।

मुखप्रिय की इस शर्त में कोई आपत्ति नहीं थी। उसके पास धन की कमी नहीं थी तथा जैसा कि हमने अभी बताया, वह उदार विचारों वाला व्यक्ति था।

अस्तु, ब्रह्मभोज की तैयारी आरम्भ हो गई। वह सानन्द-सम्पन्न भी हो गया। एक लक्ष ब्राह्मण मुखप्रिय को आशीर्वाद प्रदान करते हुए अपने-अपने निवासों को लौट गए। भोज के उपरान्त बची हुई भोजन-सामग्री उसने भीम को दे दी। भीम ने वह सादी प्रभूत सामग्री साधु-सन्तों तथा निर्धनों में बाँट दी। निःस्वार्थभाव से, प्रेमपूर्वक।

इस प्रकार बहुत पुण्य कमाकर भीम अपना आयुष्य पूर्ण कर देवलोक में देव बना।

अब भगवान ने नन्दीषेण को सम्बोधित करते हुए कहा–

"हे राजकुमार नन्दीषेण ! उस भीम के जीव वाले देव ने तुम्हारे रूप में जन्म लिया है तथा तुम्हारा उस काल का पड़ौसी भीम सेचनक हाथी बना है। अतः जब तुम उसके सामने गए तो उसने तुम्हें पहचान लिया और पूर्व स्नेह-सम्बन्ध के कारण वह स्वयं, सप्रेम तुम्हारे वश में हो गया।"

अपने पूर्व-भव के इस इतिवृत्त को सुनकर नन्दीषेण विचार करने लगा– अहा, तनिक-से अन्नदान से मैंने देव-भव प्राप्त किया और फिर अब राजकुल में जन्म लेकर पाँच सौ पत्नियों का स्वामी बनकर सुखभोग कर रहा हूँ। सचमुच धर्म की महिमा तो अपरम्पार ही है। अब यदि मैं तन-मन से संयम का पालन करूँ तो जन्म-मरण का यह दुःख-चक्र ही समाप्त हो जाय।

यह सोचते-सोचते नन्दीषेण को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया और उसने चारित्र ग्रहण करने का अटल निश्चय कर लिया।

भाग्यवान व्यक्ति शुभ संकल्प को व्यावहारिक, मूर्त्तरूप देने में विलम्ब नहीं करते।

अतः उसने भगवान से कहा–

"भगवन् ! मुझे बोध प्राप्त हुआ है। मैं इस संसार की असारता तथा धर्म-संयम की महिमा को जान गया हूँ। अतः मैं आपके ही चरणों में दीक्षित होना चाहता हूँ।"

त्रिकालज्ञानी भगवान ने कहा–

"राजकुमार ! अभी तुम्हारे निकाचित कर्मों का भोग शेष है। जल्दी मत करो। भोगों के समाप्त होने पर ही दीक्षा लेना उचित होगा। यदि अभी शीघ्रता करोगे तो संयम का निर्वाह नहीं कर पाओगे। कालान्तर में जब तुम्हारी भोगावली का उदय होगा तब संयम त्याग बैठोगे। यह तो बहुत बुरा होगा। एक बार संयम ग्रहण कर लेने के बाद मन को कच्चा करना हानिकर है।"

किन्तु नन्दीषेण ने तो संकल्प कर लिया था। उसने सोचा–मैं अपने मन पर अंकुश रखूँगा। अपने मन को कच्चा होने ही नहीं दूँगा। जब मेरा संकल्प दृढ़ है तो डिगूँगा कैसे?

मैं तो दीक्षा अब लूँगा ही···

यह विचार नन्दीषेण कर ही रहा था कि आकाशवाणी हुई–

"कुमार नन्दीषेण ! सावधान ! भगवान का कथन सर्वथा सत्य है। उनके वचन कभी मिथ्या होते ही नहीं। निस्संदेह तुम्हारी भावना उच्च है। पाँच सौ रमणियों के साथ रमण करने वाले होकर भी तुम संयम लेना चाहते हो, यह प्रशंसनीय भी है। किन्तु यह सब होते हुए भी तुम्हारी सुप्त वृत्तियों में कामभोगों की लालसा अभी शेष है। अतः उचित यही है कि अपने निकाचित कर्मों का फल भोगने के बाद ही तुम दीक्षा लेना।"

नन्दीषेण ने यह आकाशवाणी सुनी।

होना तो यह चाहिए था कि भगवान के कथन को स्वीकार करके एवं आकाशवाणी को मान देते हुए वह दीक्षित होने के अपने निश्चय को स्थगित कर देता। किन्तु उसने तो इस आकाशवाणी को एक चुनौती के रूप में ही लिया।

अपनी संयम ग्रहण करने की भावना को उसने वास्तविकता से अधिक अटल माना और भगवान से कहा–

"हे भगवन् ! अब तो मैं पक्के मन से अपनी पत्नियों को, राजसुख को और इस संसार को त्याग ही चुका हूँ। प्रभो ! मैं कठोरतम तप करूँगा। अपनी शेष भोगवृत्तियों को जला डालूँगा। संयम-मार्ग पर अविचलित रहूँगा। कृपा करें। मुझे दीक्षा दें।"

होनहार टाली ही नहीं जा सकती।

प्रभु महावीर ने नन्दीषेण के इस हठ को होनहार ही जानकर उसे अन्ततः दीक्षा प्रदान कर दी। सर्वस्व त्यागकर अब राजकुमार नन्दीषेण मुनि नन्दीषेण बन गए। मुनि बन जाने के बाद वे कठोर तपश्चरण में प्रवृत्त हो गए। गहन अध्ययन द्वारा उन्होंने दस पूर्वों का ज्ञान भी उपार्जित कर लिया।

अपने तप के प्रभाव से कालान्तर में उन्होंने अनेक लब्धियाँ भी प्राप्त कीं। तदन्तर वे भगवान की आज्ञा से एकाकी विहार करने लगे। अपनी ज्ञानपूर्ण देशना से वे जड़-बुद्धि श्रोताओं को भी सम्यक्ज्ञान की ओर प्रवृत्त करने में समर्थ हो गए थे।

उनके संयम, तप, ज्ञान की प्रसिद्धि फैल रही थी।

किन्तु होनहार को होकर ही रहना था।

× × ×

विचरण का क्रम चलता रहा। जिधर भी मुनि नन्दीषेण निकल जाते, जनता-जनार्दन के भाग्य खुल जाते। उनके ज्ञानमय उपदेशामृत का पान कर लोग अपने भाग्य सराहते।

एक दिन, वेला व्रत का पारणा करने के लिए वे एक वेश्या के द्वार पर जा पहुँचे? मुनि नन्दीषेण के लिए तो सभी प्राणी, सभी मानव समान थे।

वेश्या परम रूपवती और चतुर थी। उसके व्यक्तित्व में आकर्षण था।

मुनिवर ने 'धर्मलाभ' कहते हुए भिक्षा माँगी।

वेश्या के द्वार पर प्रतिदिन सुबह से शाम तक अनेकों भिक्षुक आते-जाते ही रहते थे। वह कहाँ तक किन-किनको, उठ-उठकर भिक्षा देती रहती? सो टालने की दृष्टि से उसने भीतर बैठे-बैठे ही कहा–

"पधारो आगे, महात्मन् ! हमें तो 'अर्थलाभ' चाहिए। 'धर्मलाभ' का आचार हमें नहीं डालना है।"

वेश्या के इस कटु कथन ने मुनि नन्दीषेण के भीतरी क्षात्र स्वभाव पर हथौड़े की चोट की.....

सुप्त राजसीवृत्ति फुफकारकर फन उठा बैठी।

वे सोचने लगे, सोचने क्या लगे, विचार स्वयं ही मस्तिष्क में कौंध गए–यह क्षुद्र वेश्या मुझे एक सामान्य, निखट्टू भिक्षाजीवी साधु ही समझती है क्या? अरे, मैं भी एक समय राजकुमार था। इस वेश्या के पास तो कितना धन होगा–मेरे पास तो पूरा मगध का साम्राज्य तथा अटूट, अपार वैभव था। इस वेश्या को धर्म नहीं, अर्थ ही चाहिए। ठीक है, तो इसे 'अर्थलाभ' ही देता हूँ।

यह विचार आते ही तपस्वी तथा अनेक लब्धियों के स्वामी मुनि नन्दीषेण ने एक तृण उठाकर उसे आकाश की ओर किया एवं अपनी लब्धि का प्रयोग करके उस अर्थलोलुप वेश्या के घर में रत्नों की वर्षा कर दी.....

ढेर लग गया ! चमत्कार हो गया !

इतनी विपुल मात्रा में अपने घर में एकाएक रत्नों के ढेर के ढेर देखकर वह वेश्या तो भौंचक्की रह गई। यह कौन चमत्कारी सन्त है यह देखने के लिए दौड़कर अपने आवास के द्वार पर आई।

किन्तु ज्ञानी मुनि आगे बढ़ चुके थे।

दूर..... दूर तक दृष्टि डालने पर वेश्या ने मुनि को धीर–गंभीर गति से जाते हुए देखा.....

वह बेतहाशा दौड़ पड़ी। उसे अपने वस्त्रों का भी समुचित भान न रहा। उसके वस्त्र अस्त-व्यस्त थे। दौड़ते-दौड़ते वह हाँफने भी लगी। किन्तु किसी तरह मुनिवर के समीप पहुँचकर, उनका मार्ग रोककर वह खड़ी हो गई और कहने लगी–

"मुनिवर ! मुझसे बड़ी भूल हुई। क्षमा करें। किन्तु अर्थलाभ भी तो मैं मुफ्त में नहीं ले सकती। आपने मुझे इतना धन प्रदान कर दिया है कि अब तो सदा-सदा के लिए आप मेरे स्वामी हो गए। हम वेश्याएँ अपना तन देकर ही धन को विनिमयस्वरूप प्राप्त करती हैं। अतः मैं यह विपुल रत्न-राशि मुफ्त में कैसे ले लूँ?"

"मुनिवर ! अब तो आपको मेरे घर चलना ही होगा। मैं अब आपकी दासी हूँ। तन और मन से आपकी सेवा करूँगी। आप मेरे घर चलें।"

होनहार ने अपना फन उठाया था।

मुनि नन्दीषेण की भोगावली का उदय हो रहा था।

भगवान के वचन न कभी मिथ्या हुए हैं और न हो सकते हैं।

मुनि नन्दीषेण का मन पलट गया। वेश्या ने कहा था–"मेरी ओर देखिए। क्या मैं सुन्दर और यौवनवती नहीं हूँ? और आपका यह तरुण तन एवं यौवन भी यूँ वृथा तपने के लिए नहीं है। मेरी सुकोमल कमलनाल के सदृश ये भुजाएँ आपको आमंत्रित कर रही हैं·····।"

भोगावली के उदय के कारण ही ज्ञानी, तपस्वी, संयमी मुनि नन्दीषेण को वेश्या का कथन मधुर और संगत भी लग आया।

परिणाम?

वे वेश्या के साथ उसके घर आ गए।

मुनि-परिधान, रजोहरण सब उतारकर रख दिए गए।

सुगंधित तेलों और इत्रों में स्नान करके पहले से ही अपनी कंचन-काया तो अब वे और भी सुन्दर बनाकर रखने लगे। नित्यप्रति वेश्या के हाथ से बनाए षट्रस, सुस्वादु भोजन को भरपेट करने लगे और वेश्या के साथ अंकशायी बनकर भोग भोगने लगे।

फिर भी मुनि नन्दीषेण भोगी होकर भी पूर्णरूपेण मात्र भोगी बनकर ही रह गए हों, ऐसा नहीं था। वे भोगी होकर भी योगी थे। योगी होकर भी भोगी थे। योग और भोग का मिश्रण था उनके जीवन-व्यवहार में। इस प्रकार अर्धभोगी और अर्धयोगी नन्दीषेण का मन भोगों में भी सहज सजग और सावधान रहता था।

इसी सावधानी के परिणामस्वरूप वेश्या के यहाँ रहते हुए भी वे अभिग्रहपूर्वक प्रतिदिन जिज्ञासु व्यक्तियों को बुलाते, उन्हें धर्मदेशना प्रदान करते और नित्य नियम से दस व्यक्तियों को प्रतिबोधित करके उन्हें भगवान महावीर के पास दीक्षा ग्रहण करने हेतु भेजा करते थे।

उनका संकल्प था–प्रतिदिन दस व्यक्तियों को प्रतिबोधित करने के उपरान्त ही अन्न-जल ग्रहण करना। किसी एक दिन भी उन्होंने अपने इस संकल्प में तो शिथिलता नहीं ही आने दी।

इस प्रकार वे अर्धयोगी और अर्थभोगी थे।

दिन-रात-मास-वर्ष व्यतीत होते चले जा रहे थे।

× × ×

बारह वर्ष–पूरा एक युग ही व्यतीत हो गया उस वेश्या के यहाँ रहते हुए नन्दीषेण को।

एक दिन–अपने प्रतिदिन के अभिग्रह के अनुसार नौ व्यक्तियों को प्रतिबोधित कर चुके थे। किन्तु दसवाँ व्यक्ति, एक स्वर्णकार अनेक प्रयत्न करने पर भी प्रतिबोधित नहीं हो सका। नन्दीषेण ने उसे बहुत समझाया, अनेक दृष्टान्तों द्वारा अपने कथन को प्रभावित करने का यत्न किया, किन्तु मिट्टी का माधो, माधो ही रहा।

वह स्वर्णकार प्रतिबोधित नहीं हुआ।

दोपहर हो चुकी थी। सूर्य देव आकाशमंडल में बीचोंबीच आकर तपने लगे थे। भोजन का समय हो चुका था। वेश्या ने दासी को भेजा–

"स्वामी ! चलिए अब भीतर। स्वामिनी बुलाती हैं। बहुत देर हो चुकी।"

"अभी नहीं। ऐसा तो हो ही नहीं सकता। जब तक मैं दसवें व्यक्ति को प्रतिबोधित नहीं कर दूँगा, तब तक न यहाँ से उठूँगा और न अन्न-जल ही ग्रहण करूँगा। जाओ, कह दो अपनी स्वामिनी से।"

वेश्या अपने स्वामी नन्दीषेण के अभिग्रह से परिचित थी। अतः वह कुछ और प्रतीक्षा करती बैठी रही।

किन्तु दसवें व्यक्ति को उस दिन प्रतिबोधित होने न आना था और न वह आया।

होनहार ही ऐसी थी।

और एक प्रहर बीत गया।

तब वेश्या स्वयं उठकर बाहर आई और बोली–

"स्वामी ! अब तो बहुत देर हो गई। यदि यह व्यक्ति नहीं समझता तो अब इससे सिर मारने की क्या आवश्यकता। जाने दीजिए इसे। आप चलिए। भोजन कीजिए। मुझे तो बहुत भूख लगी है। अब और भूखी नहीं रह सकती।"

"कदापि नहीं। यह असंभव है। लगातार बारह वर्षों से प्रतिदिन दस व्यक्तियों को प्रतिबोधित करके ही अन्न-जल ग्रहण करता हूँ। अब भी वही होगा।

यदि नहीं होगा–तो भोजन भी नहीं होगा। चाहे युग बीत जायें।''–नन्दीषेण ने दृढ़तापूर्वक कहा।

वेश्या को कुछ खीझ हुई। कुछ विनोद भी सूझ आया। अतः वह विनोद में ही बोली–

''अरे तो महाराज ! स्वयं को ही आज दसवाँ व्यक्ति मान लो और अन्न-जल ग्रहण कर लो। इसमें क्या समस्या है?''

अचानक जैसे प्रगाढ़ अन्धकार को चीरता हुआ सूर्योदय हो गया !

अन्धकार लुप्त हो गया।

प्रकाश ही प्रकाश बिखर आया।

नन्दीषेण वेश्या के मुख की ओर विस्मय से देखते ही रह गए कुछ क्षण और फिर मानो स्वयं से ही कह उठे–

''अरे ! अहा ! मुझे यह हो क्या गया था? मुझे इतना भी नहीं सूझा? बारह-बारह वर्षों से प्रतिदिन अन्य व्यक्तियों को प्रतिबोधित कर रहा हूँ और मैं स्वयं?''

''मैं कहाँ हूँ?''

''मैं कौन हूँ?''

''मैं क्या कर रहा हूँ?''

''मुझे क्या हो गया था?''

''आह, इस वेश्या ने ही आज मेरी आँखें खोल दीं। मुझे अपना मार्ग दिखाई दे गया। मैं भटक गया था। हाय, भगवान ने ठीक ही कहा था। किन्तु मैं माना नहीं। मुझे अपने संकल्प की दृढ़ता पर भरोसा था। लेकिन होनहार ही प्रबल निकली.....।''

''ठीक है। अब तो मैं स्वयं को ही दसवाँ व्यक्ति मानकर प्रभु की शरण में जाऊँगा। अपनी भूल का कठोर प्रायश्चित्त करूँगा।''

यह निश्चय करके नन्दीषेण उठे, किन्तु भोजन के लिए रसोईघर में न जाकर वे अपने कक्ष में गए और बारह वर्ष पूर्व उतारा हुआ अपना मुनिवेश धारण करके घर को चलने को उद्यत हुए। उनके एक हाथ में रजोहरण था।

वेश्या ने यह देखा, और फिर जो कुछ हुआ, वह अपने विचारवान पाठकों को बताने की हम कोई आवश्यकता नहीं समझते। पाठक स्वयं ही अनुमान कर सकते हैं कि वह वेश्या कितनी रोई-धोई होगी और उसने नन्दीषेण को रोकने का कितना प्रयत्न किया होगा?

किन्तु उसके सभी प्रयत्न निष्फल हो गए। मुनि नन्दीषेण के भीतर का ज्ञानी मुनि पुनः जाग्रत हो चुका था। उनकी भोगावली समाप्त, क्षीण हो चुकी थी। वे रुके नहीं। उन्होंने कहा–

"सुन्दरी ! तुम्हारे एक ही वाक्य ने मुझे अपना मार्ग दिखा दिया है। अब मैं प्रतिबोधित हो चुका हूँ। जहाँ वे नौ व्यक्ति गए हैं, वहीं आज मैं स्वयं दसवाँ भी जा रहा हूँ। और अब तुझे चिन्ता भी क्या है? तेरे पास प्रभूत धन है। तूने यह धन मुफ्त में नहीं लेना चाहा था, सो वह भी हो गया। तूने मेरी सेवा बारह वर्ष तक कर ही ली है। अतः हिसाब भी चुकता हो गया। यही कामना करता हूँ कि तुझे भी अब समय आने पर 'अर्थलाभ' के स्थान पर 'धर्मलाभ' भी प्राप्त हो।"

फिर तो मुनि नन्दीषेण ने पीछे मुड़कर भी नहीं देखा। वे शीघ्रता से आवास की सीढ़ियाँ उतरे और चल पड़े। उनके निकाचित कर्मों का क्षण पूर्णरूपेण हो चुका था। अब उन्हें रोका ही नहीं जा सकता था।

जब मुनि नन्दीषेण भगवान महावीर की चरण-शरण में पहुँचे तब बहुत पश्चात्ताप से भरा हृदय लेकर पहुँचे। उनकी आँखों से अश्रु का प्रवाह उमड़-उमड़कर बह जाना चाहता था। किसी प्रकार से उन्होंने अपने विगत बारह वर्षों की आपबीती प्रभु को सुना दी।

दया के निधान, त्रिकाल के ज्ञाता भगवान ने प्रेमपूर्वक कहा–

"मुने ! यह तो होना ही था। यही होनहार थी। इसे कौन टाल सकता था? अब तुम अपने हृदय को शुद्ध कर लो। यही प्रसन्नता की बात है कि तुम होनहार के चलते भोगी होकर भी योगी बने रहे। अपने भोगकाल में भी तुम धर्म के प्रति सजग और सावधान बने रहे। ऐसा बहुत कम लोग कर पाते हैं। अब तुम पूर्ण मन से संयम का पालन करो। तुम्हारा कल्याण सुनिश्चित है।"

मुनि नन्दीषेण को भगवान के वचनों से बड़ी शान्ति प्राप्त हुई। मन हल्का और विशुद्ध हो गया। उन्होंने अपनी आलोचना की, प्रायश्चित्त करके मन को पूर्ण शुद्ध किया और चारित्र द्वारा धन में क्षणमात्र का भी प्रमाद न करके प्राणपण से जुट गए।

इस प्रकार बहुत समय तक तप करते हुए उन्होंने आत्म-मल को धो दिया। संलेखना करके शरीर को त्यागकर देव-भव प्राप्त किया।

होनहार का मारा हीरा धूलि में से निकलकर पुनः अपने तेज से प्रकाशित हो उठा।

● ●

रानी चेलना विदुषी थी। धार्मिक मनोवृत्तियों की भी थी। बहुत कुछ उसी के प्रभाव तथा उसी की प्रेरणा से सम्राट् बिम्बसार श्रेणिक जो आरम्भ में वैदिकधर्म और परम्पराओं का पालन करते थे तथा बाद में बौद्धधर्म की ओर भी आकृष्ट हुए थे, अन्ततः पूर्णरूपेण भगवान महावीर के अनुयायी बन गए थे तथा कल्याणकारी जैनधर्म में उनकी दृढ़ आस्था हो गई थी।

उसी रानी चेलना का देवप्रदत्त, बहुमूल्य हार एक दिन असावधानीवश उससे टूट गया।

महिलाओं को आभूषण विशेष प्रिय होते हैं। फिर चेलना रानी को वह हार तो अत्यधिक प्रिय था। उसने सम्राट् श्रेणिक से उस हार को पुनः ठीक करवा देने के लिए आग्रह किया।

किन्तु श्रेणिक ने कहा–

"रानी ! देवता का कथन है कि एक बार यह हार टूट जाने के बाद यदि फिर से जोड़ा गया तो उस हार जोड़ने वाले व्यक्ति की तुरन्त मृत्यु हो जायेगी। अतः यह उचित नहीं होगा कि इस हार को पुनः ठीक कराया जाय। व्यर्थ ही किसी एक आदमी के प्राण जायेंगे और हिंसा हमें लगेगी। मैं तुम्हारे लिए जैसा कहो, वैसा दूसरा अच्छे से अच्छा हार बनवा दूँगा। तुम इस हार को ही ठीक कराने का आग्रह न करो यही उचित होगा।"

किन्तु महिलाएँ ही यदि अपनी जिद का त्याग कर सकती होतीं तो फिर यह कहावत ही कहाँ से बनती–स्त्री-हठ, राज-हठ कभी मिटती या समाप्त नहीं ही होती। ऐसा ही कुछ।

सो रानी चेलना नहीं ही मानी और राजा को अन्ततः घोषणा करानी ही पड़ी–"महारानी का हार टूट गया है। जो भी व्यक्ति इस हार को ठीक कर देगा उसे एक लक्ष स्वर्ण-मुद्राएँ प्रदान की जायेंगी। किन्तु हार को ठीक करने वाला व्यक्ति यह बात पहले से जान ले कि हार के ठीक होते ही उस व्यक्ति की मृत्यु तत्काल सुनिश्चित है, क्योंकि यह देव का कथन है।"

मृत्यु सुनिश्चित है, यह जानने के बाद कोई भी व्यक्ति उस हार को ठीक करने नहीं आया। सभी ने यही सोचा कि जब प्राण ही नहीं रहेंगे तब स्वर्ण का क्या होगा?

समझदार व्यक्तियों का यह सोचना हमारी दृष्टि से ठीक ही था।

किन्तु राजगृही में एक बूढ़ा, कुशल, लेकिन बहुत निर्धन स्वर्णकार भी रहता था। परिवार उसका बड़ा ही कहा जा सकता था–चार पुत्र, पुत्र-वधुएँ, फिर उनके बाल-बच्चे, स्वयं उसकी पत्नी आदि।

बड़ा परिवार और ऊपर से निर्धनता।

तो उस बूढ़े स्वर्णकार ने विचार किया–अब मेरा है क्या? आज नहीं तो कल, अब मरना तो है ही। कब्र में मेरे पाँव लटक ही चुके हैं। अब किसी भी क्षण गिरने-मरने-राख हो जाने की ही तो देर है। तब क्या यही ठीक न होगा कि मैं इस हार को ठीक कर दूँ तथा एक लक्ष स्वर्ण-मुद्राएँ प्राप्त करके अपने प्रिय परिवार को सदा-सदा के लिए इस भीषण निर्धनता के अभिशाप से सदा-सदा के लिए मुक्ति दिला दूँ?

स्वर्णकार ने अपना यह विचार अपने परिवार के सदस्यों को बताया। परिवार के लोगों ने उसके इस विचार का विरोध भी किया। किन्तु अन्ततः बूढ़ा स्वर्णकार अपनी बात उन लोगों को स्वीकार कराने में सफल हो गया। बुझे मन से ही सही, किन्तु वे लोग मान गए।

स्वर्णकार ने अपने अद्‌भुत कौशल से उस हार को ठीक कर दिया।

इसके लिए उसे पचास हजार स्वर्ण-मुद्राएँ पहले ही राज्य की ओर से प्रदान कर दी गई थीं। शेष पचास हजार मुद्राएँ हार ठीक हो जाने के बाद दी जानी थीं।

किन्तु विधि को कुछ और ही करनी करनी थी।

हार के ठीक होते ही उस स्वर्णकार का सिर फट गया और वह महाकाल का ग्रास बन गया।

वह तो गया। उसे जाना ही था। देव-वचन मिथ्या हो ही नहीं सकता था। किन्तु वह अपने पुत्रों से कह गया था कि उसकी मृत्यु के बाद वे शेष पचास हजार मुद्राएँ राजा से ले आएँ।

वे गए। मुद्राओं की माँग की। किन्तु कुछ राजपुरुषों की नीयत बिगड़ गई और उन्होंने दुत्कारकर उन स्वर्णकार-पुत्रों को भगा दिया।

उन्हें मुद्राएँ नहीं मिलीं।

क्या करते बेचारे? मन मारकर रह गए। राज-शक्ति के समक्ष उनका वश भी क्या था?

जो कुछ मिला था, उसी से सन्तोष करके बेचारे बैठ गए।

उस स्वर्णकार ने मृत्यु के पश्चात् नगर के समीप के किसी उद्यान में बन्दर बनकर जन्म लिया।

एक दिन वह बन्दर उछलता-कूदता, घूमता-फिरता नगर में इधर से उधर घूमता हुआ अपने ही घर पर जा पहुँचा। पूर्व-जन्म के सुपरिचित अपने घर को देखकर उसे जाति-स्मृति हो आई। उस कारण उसे सहज ही यह जानने की जिज्ञासा हुई कि उसके पुत्रों को राज्य की ओर से शेष पचास हजार स्वर्ण-मुद्राएँ प्राप्त हुईं कि नहीं?

अपनी इस जिज्ञासा की शान्ति हेतु वह दुकान पर गया और भूमि पर लिखकर अपने पुत्रों से यह प्रश्न पूछा।

उत्तर मिला–"नहीं।"

इस उत्तर से वह बहुत दुःखी हुआ।

दुःखी से अधिक क्रोधित हुआ।

उसने निश्चय कर लिया कि वह बदला लेगा।

अपने पुत्रों को आश्वासन देकर वह वन में चला गया और बदला लेने की योजनाएँ अपने मन में गढ़ने लगा।

उसके मन में विचार यही स्थिर हुआ कि किसी प्रकार से उस हार को ही हथियाना चाहिए।

यह निर्णय करके वह बन्दर अब प्रतिदिन राजमहल और राजोद्यान के चक्कर लगाने लगा।

उसे अवसर की तलाश थी।

× × ×

अनेक सुन्दर, सुविशाल राजोद्यान राजगृही में थे। उनमें से एक था अशोक-वाटिका। तुलनात्मक रूप से कुछ छोटा होने के कारण उसे वाटिका का नाम ही प्रदान किया गया था। आकार में भले छोटी थी वह राज-वाटिका, किन्तु उसका

सौन्दर्य तो मन को तुरन्त मोह लेने वाला था। उसकी रमणीयता अनुपमेय थी। लता-कुँज, घहराते-लहराते नाना प्रकार के फलों और पुष्पों के घने वृक्ष, फूलों की क्यारियाँ, छोटे-छोटे स्वच्छ, निर्मल, शीतल जल के तड़ाग और सरोवर तथा व्यापियाँ आदि उस वाटिका में पर्याप्त थीं।

रानी चेलना की यह विशेष प्रिय वाटिका थी। वह प्रायः विहार अथवा स्नान हेतु इसी रमणीय वाटिका में आया करती थीं।

एक दिन वह उसी वाटिका में विहार करने गई। विहार करते-करते उसका मन जल-क्रीड़ा कर लेने का हो आया।

दासियाँ उसके साथ और आगे-पीछे थीं–जैसे कोई कमल-पुष्प हवा में उड़ा चला जा रहा हो और भ्रमर उसके आगे-पीछे मँडरा रहे हों।

चेलना ने अपने सभी वस्त्राभूषण दासियों को सौंपे और उस एकान्त स्थल पर एक ही वस्त्र पहने वह जल में उतर गई। दासियों ने वे वस्त्राभूषण एक थाल में सहेजकर अपने पास रख लिये। देवप्रदत्त वह सुन्दर हार भी उन्हीं में था।

दासियाँ सरोवर के किनारे एक विशाल जामुन के वृक्ष के नीचे बैठकर इधर-उधर की हाँकने लगीं।

वह बन्दर ताक में रहा ही करता था।

उस दिन भी वह उसी स्थान पर आ पहुँचा और उसने वह हार देख लिया।

दासियाँ सजग भी रहती थीं, किन्तु कुछ निश्चिन्त भी। क्योंकि रानी की उस वाटिका में किसी को भी आने की आज्ञा नहीं थी।

किन्तु बन्दर तो बन्दर। उसे कौन रोक सकता था? और छिपे हुए, चालाक बन्दर से पार पाना बेचारी दासियों के वश का नहीं था।

अवसर पाकर, दासियों की दृष्टि बचाकर, एक ही झपट्टे में वह बन्दर उस हार को उठा ले गया और फिर तो यह जा ..... वह जा !

हार ले जाकर बन्दर ने उसे अपने पुत्रों को दे दिया। पुत्रों ने उसे अच्छी तरह से छिपाकर अपने पास रख लिया।

रानी की जल-क्रीड़ा समाप्त हुई।

उसने वस्त्र पहने। आभूषण सजाए। किन्तु हार ..... वह अनुपमेय, अमूल्य उसका प्रिय हार कहाँ है? कहाँ गया?.....

जहाँ भी गया, पर वहाँ तो नहीं ही था। रानी कुपित हो गई। दासियाँ भय से थर-थर काँपने लगीं। उन्होंने कहा–"हम कुछ कह नहीं सकतीं, महारानी जी, कि हार कैसे और कहाँ चला गया? हम सब यहीं बैठी हैं। न कोई आया और न गया ····· रानी जी ····· ।"

रानी चेलना आखिर विदुषी थी। और उसे अपनी दासियों पर पूरा विश्वास भी था। अतः उसने सोचा–कुछ न कुछ रहस्य है इस प्रकार से हार के एकाएक गायब हो जाने में बेचारी दासियों पर क्रोध करने से क्या लाभ?

चेलना रानी ने महलों में आकर सारी घटना राजा श्रेणिक को बताई और जैसे भी तैसे हार की खोज अविलम्ब करवाने का आग्रह किया। इतना ही नहीं, उसने कहा–

"यह आपकी राजगृही नगरी है कि कोई चोर-लुटेरों की बस्ती? दिन-दहाड़े राज-वाटिका में से दासियों की पहरेदारी में से भी हार चुरा लिया जाये और उसका कुछ पता न लगे? यही आपकी सुव्यवस्था है? इसी व्यवस्था का आपको गर्व है?"

"मैं कहे देती हूँ–मेरा हार तुरन्त मिलना चाहिए, वरना मैं अन्न-जल का त्याग करके बैठी हूँ यही समझ लीजिएगा।"

हार खो जाने के दुःख में संभवतः रानी चेलना कुछ अधिक कटु शब्द ही बोल गई।

किन्तु शब्द तो तीर की भाँति एक बार कमान से छूट जाने के बाद वापस लौटते नहीं।

खूब खोज कराई गई। अशोक-वाटिका को छान मारा गया। पर हार कहीं नहीं मिला।

अन्ततः सम्राट् श्रेणिक ने अभयकुमार को बुलाकर उसी को यह दायित्त्व सौंपते हुए कहा–

"मेरे महामंत्रीश्वर और बेटे अभय ! अब इस हार की खोज तुम्हारे अतिरिक्त अन्य कोई कर सके ऐसा मुझे नहीं लगता। तुम्हारी माता हार के खो जाने से बड़ी दुःखी है और भोजन-पानी तक छोड़ बैठी है। कुछ करो, बेटा ! पता लगाओ। अन्यथा अनर्थ हो जायेगा। स्त्री-हठ को तुम जानते ही हो।"

अभयकुमार ने दायित्त्व ले लिया और कहा–

"आप चिन्ता न करें, पिताजी ! मैं सात दिन में हार का पता लगा लूँगा। माताजी को भी समझा लूँगा।"

अब अभयकुमार ने गंभीर चेतावनी देते हुए उद्घोषणा कराई–"जिस किसी के पास भी वह हार हो, वह तत्काल लाकर हमें सौंप दे। उसे कोई दण्ड नहीं दिया जायेगा। यह अभयकुमार का वचन है।"

"किन्तु सावधान ! अभयकुमार का यह भी वचन है कि हार का पता तो लगेगा ही। किन्तु फिर उस स्थिति में चोर की खैरियत नहीं है। उसे फिर मृत्यु-दण्ड ही दिया जायेगा।"

यह कोई सामान्य उद्घोषणा नहीं थी। सामान्य व्यक्ति द्वारा कराई गई उद्घोषणा भी नहीं थी।

यह उद्घोषणा अभयकुमार की थी, जिसके बुद्धि-चातुर्य का डंका आसेतु हिमालय बजता था।

अतः जब इस उद्घोषणा को स्वर्णकार के पुत्रों ने सुना तो पाठकगण कल्पना कर ही सकते हैं कि उनका क्या हाल हुआ होगा? सात पातालों में भी यदि वे उस हार को छिपा देते तो भी वे जानते थे कि अभयकुमार की दृष्टि से वह छिप ही नहीं सकता।

अभयकुमार नाम ही उस व्यक्ति का था जिसकी दृष्टि सात पातालों में से भी सत्य को खोज निकालने का अद्भुत सामर्थ्य रखती थी।

एक बार तो उन्होंने सोचा कि हार ले जाकर वे चुपचाप अभयकुमार को सौंप दें। किन्तु वे तो उस नाम से ही काँप उठे थे।

वे साहस जुटा नहीं पाए।

भाग्य था उनका कि इसी ऊहापोह के समय वह बन्दर घूमता-फिरता वहाँ आ गया और उन पुत्रों ने वह हार उसे सौंपकर चैन की साँस ली, मानो सिर पर मँडराती मौत से जान छुड़ा ली।

हार लेकर बन्दर वन में एक वाटिका में चला गया। उसे भी यह भय तो था ही कि किसी की दृष्टि उस पर न पड़ जाये और वह हार सहित पकड़ा न जाय। अतः वह दिनभर किसी अत्यन्त सघन वृक्ष के किसी कोटर में छिपा रहा। वह निरन्तर इस विचार में था कि अब इस हार का मुझे क्या करना चाहिए?

जिस वाटिका में वह छिपा बैठा था उसमें एक यक्षायतन था। उस यक्षायतन में आचार्य सुहस्ति प्रमुख पाँच साधु विराजमान थे। सायंकाल के प्रतिक्रमण के

पश्चात् निवृत्त होकर आचार्य सुहस्ति ने सम्पूर्ण रात्रि कायोत्सर्ग करने की भावना शिष्यों के समक्ष प्रगट की। शिष्यों ने इसे अहोभाग्य समझा। आचार्य सुहस्ति यक्षायतन से बाहर एक वृक्ष के नीचे कायोत्सर्ग में लीन हो गए।

बन्दर उसी वृक्ष पर बैठा यह सब देख रहा था। उसने आचार्य सुहस्ति को शान्त, स्थित भाव से अचल मुद्रा में खड़े देखा और इसे एक उचित अवसर मानकर वह हार आचार्य के गले में डाल दिया और वहाँ से भाग खड़ा हुआ।

इस प्रकार उस बन्दर ने भी उस हार से अपना पीछा छुड़ा लिया।

वह पाक्षिक दिवस था। महामंत्रीश्वर अभयकुमार भी उस दिन पौषध लेकर उन्हीं मुनिवरों के सान्निध्य में धर्मजागरण कर रहा था। रात्रि के प्रथम प्रहर में मुनिवर शिव आचार्य सुहस्ति की विश्रामणा के लिए उनकी सेवा में आए।

उनकी दृष्टि गुरुदेव के गले में पड़े हुए उस हार पर पड़ी। वे चौंक गए। उनके रौंगटे तक खड़े हो गए। बात ही ऐसी अनहोनी, आश्चर्यजनक एवं भयकारी भी थी।

प्रहर के अन्त में जब वे लौटकर यक्षायतन में आए तो प्रवेश के समय 'निस्सही' के स्थान पर उनके मुख से 'भयं-भयं' निकल गया।

अभयकुमार औत्पातिकी बुद्धि का धनी था। उसे मुनिवर के मुख से 'भयं-भयं' शब्द निकला सुनकर आश्चर्य तो हुआ ही, गम्भीरता भी लगी। उसने पूछा–"भन्ते ! साधु-सन्तों के लिए कैसा भय?"

अभयकुमार के इस प्रश्न के अभिप्राय को मुनिवर ने समझ लिया। समझकर वे क्षण-दो क्षण तो मौन रहे, फिर बोले–

"संयमी व्यक्तियों को, वे चाहे गृहस्थ हों अथवा साधु, कोई भय नहीं है। तुम्हारा प्रश्न समीचीन है। किन्तु गृहस्थवास में मैंने किसी भय का अनुभव किया था। आज, अभी, उस भय की स्मृति ताजा हो जाने के कारण ही अचानक मेरे मुख से 'निस्सही' के स्थान पर 'भयं-भयं' शब्द निकल गए।"

अभयकुमार जिज्ञासुवृत्ति का ज्ञानी व्यक्ति तो था ही। उसकी जिज्ञासा जागी और उसने प्रश्न किया–

"भगवन् ! यदि आपको कोई आपत्ति न हो तो कृपया यह बताने का कष्ट करें कि वह भय क्या था? मेरे मन में यह जानने की उत्कण्ठा है, क्योंकि आपके समान त्यागी, संयमी, ज्ञानी मुनिवरों के मुख से अकारण ही तो ऐसे

शब्द नहीं निकल सकते। ऐसे शब्द निकलने का जो भी कारण रहा होगा वह अवश्य ही गंभीर होगा और जानने योग्य भी होगा।"

अभयकुमार की जिज्ञासा जानकर मुनिवर शिव ने उत्तर दिया–

"मंत्रीश्वर ! मैं मानता हूँ कि आपकी जिज्ञासा स्वाभाविक है। किन्तु यह कथा कुछ लम्बी है। अतः फिर किसी उचित अवसर पर आपको सुना दूँगा। अन्यथा न मानें।"

अभयकुमार ने मुनिवर के कथन को शिरोधार्य किया।

हम भी अपने पाठकों को इस समय उस लम्बी कथा में उलझाना उचित नहीं समझते। केवल इतना ही कह देना पर्याप्त है कि जीवों के परस्पर के कर्म-संबंध किसी एक भव में ही समाप्त नहीं हो जाते, वे कर्म-संबंध तथा कर्म-परिणाम भव-भवान्तरों तक भी चल सकते हैं।

उस समय तो अभयकुमार ने जान लिया कि मुनिश्री ने 'भवं' नामक शब्द का जो उच्चारण किया था वह मूल रूप से उस हार के कारण ही था, जो उसने भी आचार्य सुहस्ति के कंठ में पड़ा हुआ देखा।

उसने वह हार ले लिया और महाराज श्रेणिक को सौंप दिया।

● ●

इस संसार की प्रत्येक वस्तु का एक न एक दिन नाश होता ही है।

इसीलिए संसार को ज्ञानियों ने नश्वर कहा है।

बातें भी समाप्त होती हैं।

जीव भी आते हैं और चले जाते हैं।

मनुष्यों की इच्छाओं और महेच्छाओं का भी अन्त आता है, अथवा यह भी कहा जा सकता है कि मनुष्य की इच्छाएँ ही एक न एक दिन स्वयं उसका अन्त कर देती हैं।

जो भी हो, इच्छाएँ बहुत सताती हैं आदमी को, बहुत भटकाती हैं। और विचित्र बात तो यह है कि मनुष्य को सन्तोष नहीं होता। उसके पास जो कुछ भी है, उससे वह सन्तुष्ट नहीं रहता। जो नहीं है, उसे प्राप्त करना चाहता है....

जबकि इच्छाएँ अनन्त हैं....

इसीलिए ज्ञानी लोग उन्हें प्रणाम करते हैं जो 'वीतिच्छा' हैं–जिन्होंने इच्छाओं पर विजय प्राप्त कर ली है। इच्छामात्र पर।

अभयकुमार अपने समय का सूर्य था। सम्राट् श्रेणिक के ही समान। वह एक विशिष्ट पुरुष था। उसकी बुद्धि और चातुर्य विशिष्ट थे। उसका धैर्य विशिष्ट था। उसका बल विशिष्ट था। उसकी भावना विशिष्ट थी। उसका चरित्र विशिष्ट था। उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व ही विशिष्ट था।

निस्संदेह उसके इस विशिष्ट चरित्र के निर्माण में सम्राट् बिम्बसार श्रेणिक और उसकी माता नन्दा को योगदान तो था ही, किन्तु उसका सबसे बड़ा सौभाग्य क्या था, यह बात आप हमसे पूछें तो हम कहेंगे कि उसका सबसे बड़ा सौभाग्य यह था कि वह उस युग में उत्पन्न हुआ था, जिस युग में कोटिशः अनन्तानत सूर्यों की प्रभा को भी श्रीहीन कर देने वाले वीतरागी भगवान महावीर इस धराधाम को अपने पावन श्रीचरणों से पवित्र, धन्य कर रहे थे।

अभयकुमार का सबसे बड़ा सौभाग्य यही था कि उसे समय-समय पर भगवान महावीर तथा अन्य ज्ञानी आचार्यों तथा मुनिवरों का सान्निध्य प्राप्त होता रहता था।

और वह ज्ञानी विशिष्ट पुरुष इस दुर्लभ-लाभ को कभी छोड़ता नहीं था। इस सुअवसर और शुभ संयोग के प्रत्येक क्षण को वह अपनी अन्तरात्मा में उतारता चला जा रहा था।

दिन बीतते चले जा रहे थे।

और उन बीतते दिनों के साथ-साथ अब अभयकुमार के चिन्तन और व्यवहार में एक विशेष परिवर्तन दिखाई पड़ने लगा था।

उसने अपने राज्य के कार्यभार को अब धीरे-धीरे अन्य मंत्रियों में बाँट देना आरम्भ कर दिया था और स्वयं इस उत्तरदायित्व से अब दूर-दूर होता चला जा रहा था। बहुत आवश्यक होने पर ही वह अपनी कोई सलाह या सम्मति अब प्रदान करता था।

और अब वह कुछ खोया-खोया भी दिखाई पड़ने लगा था। प्रहरों तक वह उद्यान में या वन में, अर्थात् एकान्त में विचरण करता रहता और क्षितिज की ओर दृष्टि गड़ाए जाने किन अमूर्त्त विचारों में डूबा रहता।

लगता था जैसे उसे अब अपनी सुधि ही प्रायः न रहती हो। कोई व्यक्ति कदाचित् यदि उसे सम्बोधित करके कुछ बात कहता तो वह एकाएक चौंक-सा पड़ता और शून्य दृष्टि से उस व्यक्ति की ओर देखकर पूछता—कुछ कहा तुमने?

अभयकुमार इस संसार-प्रसंग से धीरे-धीरे इसी प्रकार असंग, अलिप्त और तटस्थ होता चला जा रहा था। इस जीवन में उसे अब कोई रस प्राप्त होता हो, ऐसा दिखाई नहीं देता था।

अभयकुमार के हृदय का राजहंस जैसे राजगृही में अब स्वयं को परदेशी जैसा अनुभव करने लगा था।

उसके हृदय की, मन की, चिन्तन की, जब यह स्थिति थी तभी राजगृही में पधारे भगवान महावीर !

कोई शुभ कार्य जब सम्पन्न होना होता है तो उसके लिए संयोग भी सहज ही उपस्थित हो जाया करते हैं।

अभयकुमार के जीवन में एक मोड़ आ पहुँचा था, और उस मोड़ पर उसे दिखाई पड़ गई—एक दीपशिखा !

× × ×

भरी जवानी में राजकुल के समस्त विपुल वैभव को तृणवत् ठुकराकर चले जाने वाले उन वीतरागी प्रभु महावीर की भुवनमोहिनी छवि का क्या कहना !

शान्त, सौम्य, आनन्दमयी, कल्याणी मुखमुद्रा और बालरवि की सुनहरी किरणों से प्रदीप्त सुमेरु पर्वत के समान कंचनवर्णी काया !

मगध-सम्राट् बिम्बसार श्रेणिक जब अपने परिजन के साथ प्रभु की प्रदक्षिणा कर रहे थे तब ऐसा प्रतीत होता था मानो चन्द्रमा अपने तारक-मण्डल के साथ स्वर्णदेही सुमेरु पर्वत की ही प्रदक्षिणा कर रहा हो।

राजगृही का विशाल, हरित उद्यान।

अशोक-वृक्ष के नीचे बनाई गई उच्च पीठिका पर विराजमान प्रभु महावीर ने अपने चारों ओर बैठे असंख्य प्राणियों को सम्बोधित करते हुए फरमाया–

सूखी, प्यासी, दग्ध-विदग्ध धरती पर जैसे सहसा अमृत की वर्षा हो चली हो–

दो पंख होते हैं तो पक्षी उड़ता है। रथ का एक चक्र टूट जाये तो रथ आगे नहीं बढ़ता। हे भव्य जीवो ! उसी प्रकार ज्ञान और क्रिया, इन दोनों के संयोग के बिना इस जीवन का चरम लक्ष्य प्राप्त होना संभव नहीं।

एक अंधा व्यक्ति था और एक पंगु। अंधा प्राणी देख नहीं सकता था, और पंगु बेचारा चल नहीं सकता था। पंगु प्राणी ने अंधे को आँखें दीं, और अंधे ने पंगु को गति। इस प्रकार दृष्टि और गति दोनों का संयोग हुआ तो वे दोनों अपने गंतव्य तक पहुँच गये।

ज्ञान यदि दृष्टि नहीं तो फिर क्या है? क्रिया यदि गति नहीं तो फिर और क्या है?

ज्ञान और क्रिया के संयोग से ही मोक्ष है। अन्यथा हमारा यह जीवन है, इससे पूर्व भी अनेक जन्म थे। इसके पश्चात् भी अनेक जन्म होते रहेंगे। जन्म-जन्मान्तर के, निरन्तर भव-भ्रमण के, सुख और दुःखों के इस अविराम चलते रहने वाले चक्र से यदि मुक्ति पाना है तो ज्ञान का आधार लेकर क्रिया के कर्म-पथ पर आगे बढ़ना होगा। अन्य कोई भी मार्ग तो है नहीं।

प्रत्येक प्राणी अपने-अपने धर्म को समझे। यदि अपने धर्म पर दृढ़ रहकर प्राणी चले तो उसके लिए अग्नि शीतल जल के समान हो जाती है। कालमुखी विषधर मनोहर पुष्पमाल बन जाता है। विष अमृततुल्य बन जाता है। शत्रु मित्र बन जाता है–एक ही शब्द में यदि कहा जाय तो, जो कुछ भी आज असंभव दिखाई देता है, वह कल संभव हो जाता है।

"तो हे भव्य प्राणियो ! क्षण-क्षण जो बीता चला जा रहा है, वह अत्यन्त मूल्यवान है....।"

कुछ समय से अभयकुमार खोया-खोया-सा रहता था। चौंक-चौंक पड़ता था कि वह कहाँ था? कहाँ है? वह कौन है? यह जो सामने है, वह कौन है? यह सब क्या है?.... यह सब क्या है....?

उसे अनुभव हुआ करता था कि जैसे दूर-दूर क्षितिज उसे पुकार-पुकारकर कह रहे हों–यात्रा शेष नहीं हुई है अभय ! इस एक पड़ाव के पार क्या अब और आगे नहीं चलोगे....?

अभयकुमार के मन-मस्तिष्क में एक गम्भीर, गहन मन्थन चल रहा था उन दिनों–करना क्या है? जाना कहाँ है?

वह अपने जीवन के एक नये मोड़ पर आ पहुँचा था। उस मोड़ पर, उसके परम सौभाग्य से उसे सहसा दिखाई दी–एक दीपशिखा !

प्रभु महावीर के चरणों में शीश झुकाकर उसने कहा–

"शरण दीजिये, हे अशरण-शरण भगवन् ! थक गया हूँ। भटक लिया हूँ। अब और भटकने की शक्ति नहीं है, कामना नहीं है। मुझे भी अब अपनी चरण-शरण में, धर्म-शरण में ले लीजिये, प्रभु !"

केवलज्ञानी प्रभु तो सब जानते थे, किन्तु परिषद् स्तब्ध रह गई थी उस क्षण....

मगध का यह लाड़ला, त्रिभुवनजयी महामंत्रीश्वर, सम्राट् श्रेणिक का दुलारा, प्रजा का प्यारा और सभी की आँखों का तारा राजकुमार यह क्या कह रहा था? इसे हो क्या गया था? किस बात की कमी थी उसे? कौन-सा दुःख था उसे? जिसके एक इशारे पर सारा मगध उठकर खड़ा हो जाता था, जिसकी भृकुटि के एक तनिक-से वक्र-विक्षेप से आर्यावर्त्त काँप उठता था, जिसके एक हल्के-से स्वर की अनुगूँज समस्त भरतखण्ड को उद्वेलित कर देती थी–उस अभयकुमार को यह हो क्या रहा था?

श्रेणिक मगध के सम्राट् थे।

किन्तु अभयकुमार के पिता भी थे। वे भीगे, भरे कण्ठ से बोले–

"बेटा ! अपनी इन बूढ़ी आँखों से मैं यह क्या देख रहा हूँ? क्या सुन रहा हूँ अपने इन कानों से? अभयकुमार ! यदि तू ही चला गया तो क्या होगा इस राजगृही का–क्या होगा मगध का? और.... और क्या होगा इस बूढ़े श्रेणिक का....?"

"नहीं, बेटा अभय ! मगध के महामंत्रीश्वर ! मैं तुझे नहीं जाने दूँगा। कहीं नहीं जाने दूँगा। तू अपना यह विचार त्याग दे मेरे पुत्र !"

अभयकुमार ने शान्त, गम्भीर स्वर में, दृढ़तापूर्वक उत्तर दिया–

"और भी अनेक राजगृहियाँ हैं, पिताजी ! मेरा यह मगध तो सारी सृष्टि तक फैला है–मुझे उस असीम की सीमा तक, उसके भी पार जाने दीजिये। उस सीमा तक, उस सिद्धि तक, जहाँ पहुँच जाने पर फिर कहीं भी आना-जाना शेष नहीं रहता, कुछ भी पाना शेष नहीं रहता।"

"पिताजी ! आप तो स्वयं ज्ञानी हैं। आपने ही मुझे धर्म का मर्म भी सदैव समझाया है। और आप ही अब मुझे रोकना चाहते हैं? अब यह रुकना तो नहीं होगा, पिताजी !"

"आप जानते हैं कि अभयकुमार का निश्चय आज तक अटल, अविचल रहा है, और अब भी अटल ही रहेगा। आज्ञा दीजिये, मेरा मन अब यहाँ रमता नहीं है।"

सम्राट् इस समय असहाय, असमर्थ हो गया था।

प्रभु तो केवलज्ञानी थे। त्रिकाल उनकी दृष्टि में समाहित था। किन्तु सभा स्तब्ध थी····

स्वयं ही साधुवृत्ति के हो चुके सम्राट् बिम्बसार श्रेणिक ने पल-दो पल मौन रहकर विचार किया। वे जान चुके थे कि अभयकुमार का यह निश्चय अन्तिम है और अटल है। उन्होंने एक ही शब्द में मानो अपनी स्वीकृति दी–

"प्रभु !····।"

और फिर अपने एक ही भृकुटि-भंग से समूचे भरतखण्ड को कंपायमान कर देने वाला मगध का महामंत्रीश्वर क्षणमात्र में इस सारी माया, वैभव, सत्ता और सुख-दुःखों को भी धूलि के समान त्यागकर भगवान की शरण में जाकर चल पड़ा उस मार्ग पर जो काँटों से भरा तो है, पग-पग पर जिसमें अग्नि-परीक्षाएँ तो हैं, किन्तु जिसका अन्त है एक ऐसी अखण्ड, अबाध, अनन्त शान्ति जिसे पाकर फिर कुछ पाना शेष रहता नहीं।

विचित्र थे वे लोग। और अजीब दिन थे वे।

पर वे दिन तो बीत चुके !

● ●

सम्राट् श्रेणिक काफी समय से लगभग निर्वेद की स्थिति में आते जा रहे थे। राज्य का समस्त कार्यभार उन्होंने पूर्णतया अभयकुमार पर ही छोड़ रखा था।

वे अधिकांश समय प्रायः मौन ही रहते थे। अत्यन्त आवश्यक होने पर ही बोलते थे, और अनिवार्य होने पर ही राज्य-व्यवस्था के विषय में कोई भी बात अभयकुमार अथवा अन्य मंत्रीगण से करते थे।

जब उनके मन की ऐसी स्थिति थी, और वे एक प्रकार से वानप्रस्थ का-सा जीवन व्यतीत कर रहे थे, तभी एकाएक बिजली गिरी....

अर्थात्, अभयकुमार–चला गया।

अभयकुमार के स्वयं के लिए तो यह अमृत वेला थी। मानो उसके दग्ध, तप्त शीर्ष पर भगवान महावीर के श्रीमुख से निकले अमृत-वचनों की वर्षा होने लगी हो और उसकी आत्मा आनन्दमय हो उठी हो !

किन्तु अमृतवर्षा अभयकुमार के लिए थी।

और बिजली गिरी थी–श्रेणिक पर।

इस वृद्धावस्था में, इस अनासक्ति की-सी स्थिति में उनके लिए अभयकुमार की अनुपस्थिति ने एक ऐसा शून्य बना दिया था कि जो किसी भी प्रकार से भरा नहीं जा सकता था।

एक ऐसा विकट प्रश्न आ खड़ा हुआ था कि जिसका हल खोजे नहीं मिल रहा था–मगध के महाबली, महाप्रतापी, प्रजावत्सल, अहिंसक और धर्मप्रिय सम्राट् महाराज बिम्बसार श्रेणिक को।

राज्य-धुरा का वहन वे अब कर नहीं सकते थे। चाहते भी नहीं थे।

तो, अब इस स्थिति में किया क्या जाय?

उनकी बूढ़ी, मन्द होती चली जा रही दृष्टि में अपने शेष सभी राजकुमार एक-एक कर घूम गये....

मेघकुमार व नन्दीषेण जा चुके थे।

अभयकुमार भी चला गया।

अन्य कुछ राजकुमार भी चले गये थे।

जो शेष थे, उन्हीं में से तो अब किसी का चुनाव करना होगा?

किन्तु किसमें थी इतनी योग्यता?

और कुछ परम्परा का विचार भी आवश्यक ही था।

कूणिक राजकुमार अब ज्येष्ठ था। परम्परा, नीति अथवा अन्य जो कुछ भी इसे कहा जाय–कहती थी कि अब राज्यभार कूणिक को ही सौंपा जाना चाहिए।

किन्तु कूणिक क्या इस योग्य था? मगधेश्वर के रूप में उसका व्यवहार कैसा होगा? क्या वह अपनी प्रजा के साथ न्याय कर पायेगा? क्या वह उसकी रक्षा कर सकेगा?

निस्संदेह कूणिक वीर था। अन्य राजकुमारों की तुलना में वह अधिक समर्थ भी था।

किन्तु उसकी भावना? उसकी भावना जो अब तक जगजाहिर हुई थी वह तो कुछ अच्छी नहीं थी। अच्छी क्या नहीं थी–जानलेवा सिद्ध हो सकती थी मगध की प्रजा के लिए, और मगध के पराभव के साथ सम्पूर्ण आर्यावर्त्त के लिए भी।

तब क्या किया जाय?

यह प्रश्न सम्राट् श्रेणिक के लिए यक्ष प्रश्न बन गया था। दिन और रात, घड़ी-प्रहर, पल-प्रति पल वे इसी चिन्तन में चिन्तनग्रस्त रहने लगे थे।

उन्होंने विचार किया–क्या अब तक, स्वयं उनके तथा नन्दीषेण एवं अभयकुमार जैसे व्यक्तियों से उसने कुछ सीखा नहीं होगा? क्या उसके जन्मजात कुसंस्कारों और क्रूरता में कोई परिवर्तन नहीं आया होगा?

हो सकता है कि ऐसा हुआ हो।

यदि ऐसा हुआ होगा तो मगध बच जायेगा। परम्परा का निर्वाह भी हो जायेगा। ज्येष्ठ-पुत्र को राज्य न सौंपकर किसी अन्य राजकुमार को राज्य दे देने की अनीति से भी वे बच जावेंगे।

सम्राट् श्रेणिक के थके हुए मस्तिष्क में ये ही विचार चक्रवात की भाँति घूम रहे थे।

राजगृही सूनी हो गई थी। सम्पूर्ण मगध-अंचल श्रीहीन हो गया था।

मानसरोवर का हंसा उड़ गया था....

अन्ततः कोई न कोई निर्णय तो सम्राट् श्रेणिक को लेना ही था। पूरे सोच-विचार के पश्चात् उन्होंने अपना मानस कूणिक राजकुमार के हाथों में ही मगध को सौंपकर निवृत्त होने का निश्चय अपने मन ही मन में कर लिया।

अब इस निश्चय को वास्तविक स्वरूप प्रदान करने की दृष्टि से उन्होंने एक-एक कदम उठाना आरम्भ किया। इस योजना के प्रथम चरण में उन्होंने सर्वप्रथम अपने राजकुमारों हल्ल-विहल्ल को अपना भारत-विख्यात हस्ति सेचनक तथा देवप्रदत्त हार जोकि अब तक रानी चेलना के पास था और उसे बहुत प्रिय भी था, देते हुए कहा–

"हल्ल-विहल्ल ! ये दोनों अमूल्य वस्तुएँ मैं तुम दोनों को प्रदान करता हूँ। सेचनक हाथी एक रत्न है, बेटा ! उसे सम्हालकर रखना। यह हाथी अकेला ही विकट समय में एक पूरे विशाल सैन्य पर भी भारी पड़े ऐसा है। अतः कभी उसकी उपेक्षा न करना। तथा यह हार तो अमूल्य है ही। तुम जानते हो। तुम्हारी माता चेलना को यह बहुत प्रिय है। किन्तु अब हम लोग कितने दिन के हैं? तुम्हारी माता चेलना सहर्ष तुमको यह हार अब प्रदान करती है।"

यह कहते हुए सम्राट् श्रेणिक ने वे दोनों वस्तुएँ दोनों राजकुमारों को दे दीं।

प्रथम चरण पूर्ण हुआ।

अब श्रेणिक अन्य राजकुमारों को भी यथायोग्य भू-भाग, अधिकार, सम्पत्ति आदि का वितरण करने का विचार कर रहे थे।

किन्तु विधि की लीला तो विचित्र ही है। कहा गया है–"मेरे मन कछु और है, विधना के कछु और।"

जो साम्राज्य वे अन्ततः राजकुमार कूणिक को सौंपने वाले ही थे, वह राज्य और अधिकार उसे स्वयं उसके पिता सम्राट् श्रेणिक प्रदान करते, इतना धैर्य कूणिक ने प्रदर्शित नहीं किया। और उस अधैर्य का जो दुष्परिणाम सामने आया, उसका वर्णन करते हुए हमारी लेखनी भी काँपती है....

कूणिक ने देखा कि पिताजी ने राज्य की दो अमूल्य वस्तुएँ, राज्य के दो अमूल्य रत्न उसके दोनों छोटे भाइयों को दे दी हैं। अब वे अन्य समस्त मूल्यवान वस्तुएँ भी अन्य राजकुमारों को प्रदान कर देंगे। कहीं मैं देखता ही न रह जाऊँ? कहीं राज्य का अधिकार भी वे किसी और को न दे दें !

कूणिक के मन में ये ही विचार जागे। वह जल उठा। अपने निकटतम कालककुमार आदि दस भाइयों के साथ मिलकर उसने मंत्रणा की और षड्यन्त्र रचा। उसने कहा–

"हमारे पिताजी वृद्ध हो गये हैं। अशक्त हो गये हैं। अब वे राज्य का भार वहन नहीं कर सकते। फिर भी वे सिंहासन से चिपके बैठे हैं। इतना ही नहीं, जो मन में आया वही करने लगे हैं। उन्होंने हल्ल-विहल्ल को सेचनक हाथी और हार दे दिया है। आगे पता नहीं क्या-क्या करें?"

कूणिक ने भूमिका बाँधी।

कालककुमार तथा अन्य भाइयों ने उसकी हाँ में हाँ मिलाते हुए कहा–

"आप ठीक कहते हैं भैया ! राज्य का अधिकार आपका है। हम सब आपके साथ हैं।"

"पिताजी को अब राज्य का अधिकार अपने दुर्बल हाथों में रखकर और उससे भी अधिक दुर्बल मस्तिष्क द्वारा राज्य का संचालन करते रहने का कोई अधिकार नहीं है।"

"कदापि नहीं है।"–कूणिक से मन ही मन डरने वाले और सत्ता एवं सम्पत्ति के लोलुप उन राजकुमारों ने एकमत से कहा।

"तो अब तुम लोग पूरी तरह से मेरे साथ हो न?"

"हाँ। अवश्य। पूरी तरह।"

इस प्रकार उस भीषण षड्यन्त्र का आरम्भ हो गया।

जिस प्रकार कोई क्रूर बिलाव चूहे को अवसर पाते ही दबोच लेने की फिक्र में लगा रहता है, उसी प्रकार अब कूणिक अवसर की ताक में रहने लगा।

अन्तर इतना ही था कि क्रूर बिलाव और दीन, निर्बल चूहे के स्थान पर यहाँ दुर्दान्त राजकुमार कूणिक और बूढ़ा शेर श्रेणिक था।

अन्ततः एक दिन, बिना अधिक विलम्ब किये, बिना अपने पिता के मन को समझे, कूणिक ने सम्राट् श्रेणिक को बन्दी बना लिया और उन्हें कठोर बन्धनों से बाँधकर, काष्ठ के एक पिंजरे में बन्द करके, उन्हें कारागार में डाल दिया।

धीमान् महाराज श्रेणिक ने कोई विरोध नहीं किया। उन्होंने इस स्थिति को भयानक होनी मानकर चुपचाप स्वीकार कर लिया।

अपने साथी राजकुमारों को साथ लेकर उनके तथा अन्य भयभीत राजकुमारों के सहयोग से राजसत्ता उसने अपने हाथ में ले ली। वह मगध का सम्राट् बन बैठा।

इस दुष्टता की क्षमा कदाचित् उसे कभी सन्मति उत्पन्न होने पर, प्रायश्चित्त करने पर मिल भी सकती थी–कदाचित्। किन्तु कूणिक ने इससे भी आगे बढ़कर जो अमानवीय क्रूर कर्म किये वे तो उसके भव-भवान्तरों तक के लिए अक्षम्य ही प्रतीत होते थे।

अपने देवता के समान पिताश्री को, जिन्होंने सूर्य के समान प्रकाशित होकर समस्त आर्यावर्त्त को जाज्वल्यमान किया था, बन्दी बनाकर ही उसे सन्तोष नहीं हुआ। वह इतने से ही चुप नहीं बैठा। उसने तो निकृष्टतम अनार्यों के नीचतम तथा क्रूरतम कार्यों को भी लज्जित कर दिया.....

उसने अपने पूज्य पिता सम्राट् बिम्बसार श्रेणिक को भोजन तथा जल देना तक बन्द कर दिया, तथा हा हन्त ! वह निर्दयी प्रतिदिन सुबह-शाम कारागार में जाकर अपने ही पिता की नंगी पीठ पर सौ-सौ कोड़े भी लगाता !

आपके रौंगटे खड़े हो गये न प्रिय पाठकगण !

बात ही ऐसी है। यह निर्दयता तथा नीचता यदि हमारे तथा आपके लिए अकल्पनीय तथा धिक्कारणीय नहीं है तो फिर क्या है?

रानी चेलना चीख-चीखकर, रो-रोकर, पछाड़ें खा-खाकर अधमरी हो गई। अन्य रानियों का भी यदि यही नहीं तो और क्या हाल रहा होगा?

किन्तु कूणिक पर किसी बात का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वह सत्ता के मद में मदहोश हो चुका था। उसकी आज्ञा से कोई भी व्यक्ति सम्राट् श्रेणिक के पास तक नहीं फटक सकता था।

अपने हृदय की सघन पीड़ा वे केवल कारागार की दीवारों को ही सुना सकते थे !

चेलना रानी ने अपने दुष्ट बेटे से ही प्रार्थना के स्वरों में कहा–

"तुझे जो नीच कर्म करना था वह तूने कर लिया। किन्तु अभागे ! मुझे एक बार, दिन में एक बार तो उनके दर्शन कर आने की आज्ञा दे दे। मैं तेरी माता होकर भी तेरे आगे आँचल पसारकर तुझसे यह भीख माँगती हूँ....।"

कोई अन्य व्यक्ति होता तो इन शब्दों को सुनकर लज्जा और पश्चात्ताप से भूमि में गड़ गया होता।

किन्तु वह तो कूणिक था।

वह पापी तो पितृहत्या का भावी लेकर ही उत्पन्न हुआ था। उसे कैसी लज्जा? कैसा पश्चात्ताप?

लेकिन जाने कैसे उसके भी हृदय में माता के प्रति कोई कोमल भाव शेष रह गया था। ममता अथवा मातृभक्ति तो कैसे कहा जाय? यदि वही होते तो वह इतना नीच कर्म करता ही कैसे? बस, कोई तनिक-सा कोमल भाव उसके कठोर हृदय के किसी कोने में शेष रह गया था....

अतः उसने इतनी आज्ञा दे दी।

रानी चेलना प्रति दिन स्नान करके सौ बार पानी से अपने केशपाश को भिगो लेती। इस प्रकार उसकी विपुल, सुन्दर केशराशि में पर्याप्त पेय रह जाता। उसी केशराशि का गुच्छ बनाकर वह उसमें एक उड़द का लड्डू छिपा लेती। बस, यह भोजन तथा यह पेय ही मगध महाराज के महाबली सम्राट् श्रेणिक को प्राप्त हो पाता था। उनका तन इसी पर टिका था।

वह तन टिका रहे, अथवा प्राण बचे रहें, ऐसी कोई इच्छा महाराज श्रेणिक को अब नहीं थी, किन्तु चेलना के हृदय की पीड़ा को वे समझ सकते थे–उसे निराश करके वे उसे अन्तिम समय में अधिक पीड़ित नहीं करना चाहते थे।

कुछ दिन इसी प्रकार बीत गये। कट गये।

कूणिक को अपनी पटरानी पद्मावती से उत्पन्न पुत्र बहुत प्रिय था। वह अभी शिशु ही था। कूणिक अपने इस पुत्र को खूब खिलाया करता था। राजसत्ता के अतिरिक्त यदि उसे अन्य कुछ प्रिय था तो वह उसका शिशु-पुत्र 'उदायी' ही था।

एक दिन कूणिक भोजन कर रहा था। उसने बड़े प्यार से अपने पुत्र को अपनी गोद में बिठा रखा था। उसी समय उस शिशु ने मूत्र कर दिया जो कूणिक के भोजन के थाल में गिरा। किन्तु इससे उसे कुछ भी बुरा नहीं लगा। उसकी दुःखी माता चेलना समीप ही बैठी थी। यूँ ही, कूणिक को लहर आई और उसने अपनी माता चेलना से कहा–

"माँ ! बेटा कितना प्रिय होता है? क्या कोई पिता अपने पुत्र से इतना प्यार कर सकता है जितना मैं अपने इस पुत्र से करता हूँ?"

रानी चेलना का मन अब माता होकर भी कूणिक से बात करने अथवा उसका मुख तक देखने का नहीं होता था। किन्तु वह विवश थी।

आज जब कूणिक ने उससे यह प्रश्न किया तब उसका हृदय हाहाकार कर उठा। एक बार तो उसकी इच्छा हुई कि वह अपनी छाती पीट ले–सिर फोड़कर ही मर जाय....

किन्तु फिर उसे विचार आया कि कदाचित् कूणिक को कभी कुछ बुद्धि आ ही जाय ! इस दृष्टि से विचार करते हुए उसके मुख से निकल गया–

"अरे हत्यारे ! ओ पितृघातक पापी ! तू प्यार को क्या जाने? 'प्यार' शब्द तो शायद तूने कभी पढ़ा–जाना ही नहीं। तेरे तो जीवन का शब्दकोष ही न्यारा है। उस शब्दकोष में 'प्यार' शब्द कहीं है ही नहीं। इस समय तू अपने जिस पुत्र पर इतना प्यार जता रहा है, उसी का गला तू कब घोंट देगा–यह भी नहीं कहा जा सकता।"

"अरे, तेरे पिता ने अपने प्राणों की भी चिन्ता न करके तुझे जितना प्यार तथा वात्सल्य प्रदान किया है, उसकी तू कल्पना तक भी नहीं कर सकता। संसार में अपने पुत्र को इतना निःस्वार्थ एवं त्यागमय प्यार करने वाले पिता विरले ही होंगे। तू क्या जाने पापी ! तू क्या समझे.... ?"

जैसे वर्षों की घुटन छाती फाड़कर बाहर निकल आई थी !

माता के ये वचन सुनकर कूणिक विस्मय से भर आया। उसने पूछा–

"माँ ! तूने यह सब क्या कहा? पिताजी ने मुझे इतना और ऐसा प्यार कब दिया? बता, माँ ! बता मुझे। तुझे मेरी शपथ !"

कुछ देर में रानी चेलना की घुटनभरी सिसकियाँ कुछ थमीं। तब उसने बताया–

"जब तू मेरे गर्भ में आया था, तब मुझे तेरे पिताजी के कलेजे का माँस खाने का दोहद उत्पन्न हुआ था। मैंने तभी जान लिया था और सभी भविष्यवेत्ताओं का भी एकमत से अटल कथन था कि तू पुत्र के रूप में उनका घातक शत्रु ही आ रहा है–पितृघातक, पापी पुत्र।"

"मैं नहीं चाहती थी कि मेरी कोख से ऐसे पुत्र का जन्म हो। मैंने मर जाना ही बेहतर समझा। अपना यह दोहद मैं छिपाये रही। मर जाना चाहती थी मैं।"

"किन्तु वह नहीं हो पाया। किसी भी उपाय से तेरे पिता ने मेरा दोहद जान लिया और यह जानकर भी कि तू एक दिन उनकी हत्या करेगा, उन्होंने किन्हीं उपायों से मेरा दोहद पूर्ण कराया।"

"क्या तू इस त्याग की कल्पना भी कर सकता है?"

"कूणिक ! तू पितृघात करने वाला है यह जानने से मेरे मन में जब तू उत्पन्न हुआ तब तेरे प्रति घोर घृणा थी। मैं तो अभागी थी ही, मैं तुझ अभागे को भी जीवित नहीं रहने देना चाहती थी। अतः जन्म लेते ही मैंने तुझे दासी के हाथों कहीं दूर, कूड़े-कचरे के ढेर पर फिंकवा दिया···· फिंकवा दिया, कि तुझे चील-कौवे, कुत्ते-शृगाल नोंच खाएँ····।"

"किन्तु तेरे पिता को पता चल गया। उन्होंने अपने जीवन की तृणमात्र भी चिन्ता न करके खोज मँगवाया। तेरी सार-सम्हाल की। जब तू कूड़े के ढेर पर पड़ा था तब किसी मुर्ग ने तेरी एक अँगुली काट खाई थी। तेरे पिता ने उसकी मरहम-पट्टी कराई। फिर भी उसमें दुर्गन्धयुक्त मवाद पड़ गया। तेरे पिता ने उस मवाद को अपने ही मुख से चूस-चूसकर तेरी अँगुली को ठीक किया। प्यार से तेरा लालन-पालन किया।"

"कूणिक ! मैं तेरी माता होकर भी तुझे मार डालना चाहती थी। किन्तु तेरे पिता ने यह जानते हुए भी कि तू पितृघातक निकलेगा, तेरे प्राणों की रक्षा की। तुझे प्यार से पाल-पोसकर बड़ा किया।"

"इसे कहते हैं–प्यार ! इसे कहते हैं पुत्र के प्रति पिता का वात्सल्य और स्नेह।"

"किन्तु मुझे हो क्या गया है? हे भगवान ! मैं किस पापी पितृघातक को प्यार का अर्थ समझाने बैठ गई····?"

कहते-कहते रानी चेलना वेदना के भीषण विषमय शूल की तीव्र चुभन से मूर्च्छित होकर भूमि पर लुढ़क पड़ी।

सत्य जब उद्घाटित होता है तो आत्मा प्रकाशित हो उठती है। त्रिलोक का अन्धकार अदृश्य हो जाता है, जैसे कभी, कहीं था ही नहीं।

कूणिक ने यह सत्य जाना और वह स्तब्ध रह गया। स्वयं को कुछ संज्ञाहीन-सा अनुभव करने लगा। फिर तुरन्त ही वह जाग पड़ा····

अपनी माता की सार-सम्हाल का आदेश दासियों को देकर वह तत्काल अपने पिताश्री को बन्धनमुक्त कर उनसे अपने घोर पाप के लिए क्षमायाचना करने राज-कारागार की ओर दौड़ पड़ा। मार्ग में दौड़ते-दौड़ते ही उसने सम्राट् श्रेणिक के शरीर को जकड़ी हुई लौह-शृंखलाओं को काट डालने हेतु कहीं से एक लौहदण्ड अपने हाथ में उठा लिया।

कारागार के पहरेदारों ने कूणिक को अपने हाथ में भारी लौह दण्ड लिए भागकर कारागार की ओर आते देखा तो उनके प्राण कण्ठ में आ गये। उन्होंने सोचा–आज यह पापी अपने पिता का प्राणान्त करने ही भागा चला आ रहा है····

वे राजभक्त थे। सम्राट् श्रेणिक जैसे साधु-स्वभाव के श्रेष्ठ नर-रत्न के प्रति उनके हृदय में असीम भक्तिभाव था। किन्तु वे विवश थे। करते तो क्या करते? राजा तो अब कूणिक बना बैठा था।

वे जो कुछ भी कर सकते थे वह उन्होंने किया। कूणिक को दूर से ही आता देखकर उन्होंने तुरन्त सम्राट् से कहा–

"स्वामी ! अन्नदाता ! महाराज ! अनर्थ होने वाला है। कूणिक आपकी हत्या करने के लिए अपने हाथ में भारी लौहदण्ड लिए भागा चला आ रहा है प्रभु····।"

मगधेश्वर श्रेणिक ने तत्क्षण विचार किया–अपने ही पुत्र के हाथों इस प्रकार की भीषण वेदनापूर्ण मृत्यु प्राप्त करने की बजाय स्वयं ही अपना प्राणान्त अब कर लेना ही श्रेयस्कर है। यह सोचकर उन्होंने तत्काल भीषण तालपुट विष अपनी जीभ पर रख लिया।

वह विष इतना तीव्र था कि जिह्वा से उसका स्पर्श होते ही उनके विदग्ध प्राणों का पखेरू क्षणमात्र में इस काया का पिंजर तोड़कर कहीं अनन्त में उड़ गया।

पुत्र कूणिक जब तक अपने पिता के समीप पहुँचा तब तक पिता बहुत दूर जा चुका था–कभी न लौटने के लिए।

यह देखकर कूणिक शोक के महासागर में डूबकर मूर्च्छित हो गया।

जब उसकी मूर्च्छा टूटी तब भीषण अपराध-बोध तथा पश्चात्ताप की भयानक पीड़ा से उसकी देह, हृदय और आत्मा विदग्ध हो रहे थे।

किन्तु अब तो सब कुछ समाप्त हो चुका था।

उसे प्रायश्चित्त करने और क्षमायाचना करने का भी अवसर नहीं मिला।

उसका विलाप कारागार की दीवारों से टकरा-टकराकर लौट-लौटकर उसके हृदय पर हथौड़ों की चोटें कर रहा था।

अत्यन्त करुण वेला थी वह।

मगधपति, महाबली, न्याय, नीति, धर्म एवं सदाचार के प्रतीक सम्राट् बिम्बसार श्रेणिक के रूप में एक दिन जो सूर्य आर्यावर्त्त में उदित हुआ था–वह आज अस्त हो गया।

संभवतः इसीलिए बहुत-से लोगों को सूर्यास्त की वेला बड़ी करुण प्रतीत होती है।

हृदय उदासी से घिर जाता है।

कूणिक ने पाप-पंक से मुक्त होने के लिए धर्म की शरण ग्रहण की और यह प्रतिज्ञा ग्रहण की कि प्रतिदिन महावीर के समाचार प्राप्त होने पर ही वह भोजन ग्रहण करेगा।

इति शुभम् !

● ●